

गजानन माधव मुक्तिबोध की काव्य पंक्तियों को पढ़ने का एक पाठकीय रुझान यह भी

कृष्णा सोबती

कविता के विराट पुरुष मुक्तिबोध की सृजनात्मकता से गुजरते हुए विख्यात कथाकार कृष्णा सोबती का यह लेखन मुक्तिबोध के काव्य की सघन संवेदनात्मक व्याख्या प्रस्तुत करता है तो वहीं यह आलोचना के मान्य उपकरणों को दरकिनार करते हुए काव्य को समझने, उसकी व्यंजनाओं और मर्म को उजागर करने का सर्वथा गैरपारम्परिक उदाहरण है। वस्तुतः यह हिन्दी साहित्य की शिखर शिखियत द्वारा एक महाकवि के शब्दलोक की यात्रा का अनुभव है।

मुक्तिबोध
एक
व्यक्तित्व
सही
की
तलाश
में

देख मुझे पहचान
मुझे जान
देखते नहीं हो
मेरी आग मुझ में

जल रही अब भी

(मुक्तिबोध)

मुक्तिबोध
दृढ़ मस्तक
भव्य भाल
दृढ़ भुज
निज निर्भर
चट्टानी भूमि पर
जमा हुआ
खड़ा है

संकल्प

हम मानवीय मूल्यों की सर्वाधिक सर्व स्तरीय नियंत्रणशील स्थापना चाहते हैं। मुक्तिबोध

मेरा समय

यह है मेरा समय मेरे आसपास फैला। मेरी धड़कनों में गुंथा, मेरी गलियों में, अंधेरे और उजालों में, दिन रात की तरंगों में मेरी टिक टिक करती सांसों में संस्कार और विचार को परिष्कृत और परिमार्जित करने के प्रयासों में। मुक्तिबोध

भारतीय मन की रचनात्मक ऊर्जा, वैचारिक शक्तियां और सर्जनात्मक अभिव्यक्तियां अनेकानेक कलात्मक तत्वों से भरपूर रही हैं। हमारी विधाएं साथ साथ, आगे पीछे और आमने सामने होकर भी एक दूसरे को निहारती, छानती रही हैं; रचनात्मक विधाओं के मुखड़ों को संवेदनात्मक प्रतिभा से संवारती रही हैं। मुक्तिबोध ने कविता के मर्म, धर्म और कर्म के साथ कविता की भाषा और संवेदन को जीवन के यथार्थ से जोड़ दिया।

मुक्तिबोध अपने में जिस इंसानी अस्मिता के अहसासों को महसूस करते हैं अपनी सीमाओं को भी उसके विस्तार में समेट लेना चाहते हैं इस खौफ से कि कहीं वह तितर बितर न हो जाये वह परिवर्तन की शर्त से बंधी है। मुक्तिबोध स्वयं अपनी सोच के अंधेरों से आतंकित होते हैं। फिर उजालों को अपनी रूह में भरते हैं। अपनी आत्मशक्ति की प्रखरता को जांचते हैं और मुक्तिबोध से आत्मबोधी बन जाते हैं।

गुमनाम समुंदरों के गहन पैदे तले छिपी जिन्दगी की तिलस्मी खोह की भित्ति फोड़ जन्म जन्मान्तरों के बाद एक बेचैन भारतीय आत्मा पृथ्वी के नक्षत्र सेतु पर चलती तूफानी हवाओं में फड़फड़ाती ठीक मध्य प्रदेश ग्वालियर की सीमाओं में आन उतरी।

समुंदर में कहीं डूबी हुई जो पुण्य

गंगा वह

अचानक कूच करती सागरी तल में उभर ऊपर

भयानक स्याह बादल पांत बन कर

फन उठाती है दिशाओं में

निरंतर गूँजती तड़ तड़ तड़तड़
 जैसे तेज टाइप हो रहे हैं शब्द
 बाहर धूल में जो शब्द गड़ते हैं
 कि मुद्रित कर रहा है
 आसमानी हाथ
 तिरछी मार छींटों की
 घटाओं की गरज में
 बिजलियों की चमचमाहट में
 अंधेरी आत्मसंवादी हवाओं से
 चपल रिमझिम
 दमकते प्रश्न करती है
 मेरे मित्र
 कुहरिल गत युगों के अपरिभाषित
 सिन्धु में डूबी
 परस्पर जो कि मानव पुण्य
 धारा है
 उसी के क्षुब्ध काले बादलों को
 साथ लायी हूँ
 बशर्ते तय करो
 किस ओर हो तुम, अब
 सुनहले उर्ध्व आसन के
 निपीड़क पक्ष में, अथवा
 कहीं उससे लुटी टूटी
 अंधेरी निम्न कक्षा में तुम्हारा मन
 अचानक आसमानी फासलों में से
 चतुर संवाददाता चांद ऐसे
 मुस्कराता है

मुक्तिबोध ने नाम पाया विशाल भारतीय बुद्धिजीवी की मनःस्थितियों का पर्याय मुक्तिबोध। कविता के मनोवैज्ञानिक अंतस के अंधेरों और उजालों के बीच तैरता मुक्तिबोध का आक्रामक आत्मविश्वास कविता पंक्तियों को कुछ ऐसे गतिमान करता है कि अंधेरे और उजालों के अक्स सीधे पाठक की रूह को उद्वेलित करते हैं। कविता के पंक्तिबद्ध संयोजन करने की सचेष्ट व्यवस्था के बाहर भी कवि मन की तरंगें पाठकीय चेतना को खटखटाती हैं और चित्रात्मक आहटों में सरसराती हैं। यह सब वे किसी बंधे बंधाये शिल्प और शैली में नहीं गूँथते, अपनी स्वाभाविक तर्ज में अपने भाव और कथ्य को अंजाम देते हैं।

उनकी विचार सम्पदा किसी वेगवती नदी के साथ बहती लगती है। मुक्तिबोध का रचना संसार अपने देश के सांस्कृतिक पर्यावरण के धूप छांही विस्तार, विन्यास में फैला है।

उनके अपने शब्दों में लेखक अपने होने की घेराबंदी को तोड़ किसी अन्य के मर्म में प्रवेश

करता है तो अपनी ही नजर में उसकी भूमिका बदल जाती है। मुक्तिबोध को पढ़ते हुए लगता है कि आत्ममुग्धता की भी श्रेणियां होती हैं।

वर्णमाला में लिख दिये इस जीवन और जगत के हजार रंग नद नदियां, पर्वत पठार, भूरे, बर्फीले, हरे भरे रेतीले विस्तार, पोखर, झीलें, चांद सितारे, आकाश और ऐसे विशाल सृष्टि के विस्तार में हर सांस के साथ धड़कता विशाल पुरुष। मुक्तिबोध के शब्दों में

दोनों हम और वह शून्य।

मुक्तिबोध इस निःसंग विराट के आतंक में हैं।

काली सूनी

उस अंतरिक्ष शैया

पर लेटा है

वह भयानक

विचित्र निःसंग विराट।

मेरे हृदय की धक धक पूछती है

वह कौन

सुनायी जो देता है

पर नहीं देता दिखायी

मैं इस उलझन को

सुलझा नहीं पाता

वह कठिन है।

बहैसियत कवि मुक्तिबोध की इस जगत में सुलगती दिन रात की स्याह सफेदी और उसमें से उभरती हमारे बहुरंगी लोक की निरंतरता की बहुलहरिया में ब्रह्मांड पुरुष की सोती हुई मानव देह की तरह ही दो कानों की परिकल्पना विलक्षण है। मुक्तिबोध के असंख्य प्रतीकों और बिम्बों में यह अद्भुत है। इस लोक के शोर और कोलाहल को विराट पुरुष तक पहुंचाने वाले कानों की कल्पना कम दिलचस्प नहीं। नश्वरों की आवाजें, प्रार्थनाएं, कामनाएं, शिकायतें, उलाहने सब वहां तक कैसे पहुंच सकती हैं अगर प्रभो नींद में हों और उनके कान बंद हों। मुमकिन है वैज्ञानिकों की मदद से जल्दी ही यह सुविधा भी मानव समाज को प्राप्त हो जाये।

मुक्तिबोध अपनी लेखकीय हस्ती में अपनी इंसानी पहचान कैसे करते हैं? यह भी खासा दिलचस्प है। वे स्वयं अपने में दूसरे को सम्बोधित करते हैं। इस मुखड़े को देखें

गोल स्याह धब्बा

जो हमेशा साथ साथ चलता है

और जाने किस

भयंकर उपग्रह के शीश पर

कदम रखे हम दोनों

मैं और मुझमें उगा मेरा दूसरा लेखक।

अपने व्यक्तित्व की पहचान करते हुए मुक्तिबोध अपने में दो संज्ञाओं, दो मुखड़ों को चीन्हते हैं। दोनों एक दूसरे में गुंथे हैं साथ साथ सांस लेते हैं, धड़कते हैं और फिर भी अलग थलग हैं। एक वह जो मुक्तिबोध है, दूसरा वह जो रचनाकार हो जमा है अपने आंतरिक के गहन में स्वयं

अपना ही निरीक्षण करते हुए और निष्कर्षों तक पहुंचते हुए
मैं अपने में ही सम्मोहित
मन में डूबा निज में ही
मेरा ज्ञान उठा निज से ही
मार्ग निकाला अपने में ही
जब खोया
तो अपने से ही कुछ पाया।
निज का उदासीन विश्लेषण
आंखों में आंसू भर लाया
मेरा जग से द्रोह हुआ पर
मैं अपने से ही विद्रोही।

यह भाव हर लेखक के अंतस्थल में देर सवेर स्पंदित होता है। द्रोह और विद्रोह में फर्क करते हुए मुक्तिबोध लेखकीय अहम और मानवीय निजता को अलग रखते हैं।

मुक्तिबोध के लेखकीय अस्तित्व में ब्रह्मांड के विशाल, विराट विस्तार का भौगोलिक अहसास और उससे उभरती, उफनती रचनात्मक कल्पनाएं अंतरिक्ष, पृथ्वी और घनी आबादियों के शोरगुल कोलाहल के अलावा उनके ध्वनि संसार में से उठ खड़े होते हैं कुटुम्ब, कबीले, व्यक्ति, नागरिक, जातीयता, सामाजिक समूह, और राजनीतिक दलों के अखाड़े।

इन पंक्तियों में जैसे वह मृत्युलोक के नश्वरों से कहते हों
जीवन की लौ को घेरे हुए
सहस्त्रों वर्षों से यह सागर
उफनता आया है
उसका तुम भाष्य करो
उसका आख्यान करो
चाहो तो उसमें तुम डूब मरो
अतल निरीक्षण को
मर कर तुम पूर्ण करो।

अपने से ऊपर उठना
अपने से नीचे गिरना है
आज तुमसे बहस नहीं होगी
क्योंकि भीतर की
सारी सम्पन्नता के बावजूद
मैं वह रेगिस्तानी मुल्क हूँ
जिसमें हर बुराई
हर कमी
हर रुकावट
प्यार से कायम रखी है
इसलिए कि अपने से

ऊपर उठना

अपने से नीचे गिरना है।

अद्भुत है दो छोरों पर ऐसी तटस्थता जिसके होने से ही लेखक का अंतर निरंतर जागरूक है। ऊपर उठ कर अपने अहम को संयमित करने के बहाने यह कहना कि अपने से ऊपर उठना अपने से नीचे गिरना है।

अपनी ही काट पीट

गलत के खिलाफ

नित सही की तलाश में

कटे पीटे वाक्यों के

कटे पीटे गणित के

उलटे उछरे अक्षरों सा

अंकों सा।

मुक्तिबोध अपने लेखक होने की हैसियत को सहज ही व्यावहारिकता की पटरी पर उतार देते हैं। ऐसा करते हुए उनकी शब्दावली लिखित से बोलचाल के मुहावरे पर उतर आती है। यह चमत्कारी प्रखरता क्या है, क्यों है, इसे जानना कठिन है।

तुम्हारे शब्द

मेरे शब्द

मानव देह

धारण कर

भटक कर

घूम फिर कर

सब तजुर्बे ले

उस बरामदे

में जा पहुंचे हैं

उपेक्षित काल पीड़ित

सत्य जिस घर में।

मुक्तिबोध का वैशिष्ट्य उनका विचार पक्ष है जो व्यक्ति और समाज के ऐन बीचोबीच की जटिलताओं में से गुजरता है। उसकी खलबलियों को अंकित करता है।

बात अभी कहां पूरी हुई है

आत्मा की एकता में दुई है

इसीलिए

स्वयं के अंधेरो के शब्द और

टूटी हुई पंक्तियां

न उभरे हुए चित्र

टटोलता हूं उनमें कि

कोई उलझा, अटका हुआ सत्य

कहीं मिल जाये

उलझन में पड़ा हूं

अपनी ही धड़कन गिनता हूँ
मैं उनके नियमों को खोजता
नियमों को ढूँढ़ता हूँ
अपवाद पर अकस्मात्
उपलब्ध होते हैं नियम अपवाद के।

कविमन बेचैनी में खोजता है आंखों से ढूँढ़ता है मानो 'सत्य' किसी मकड़ी के जाल में फंसा हो। वह जाला कुछ और नहीं अपने में चलती धड़कनें हैं, जहां से उठ खड़े होते हैं नियमों के अपवाद।

अद्भुत है रचनात्मक मानसिकता का विस्तार। सोच प्रामाणिक वही नहीं जो मेरी है दूसरे प्रबुद्ध की वैचारिक सीमाएं और क्षमताएं भी उसे प्रभावित करती हैं। मुक्तिबोध के लेखक ने अपनी रचनात्मक हस्ती में एक मुकम्मल आलोचक की उपस्थिति जाग्रत कर रखी थी। एक अनिवार्य निःसंगता ताकि आत्मतल को घेरे अंधेरे और उजालों से अपने मर्म को निहार, सुधार सकें।

मेरी प्रतिक्रियाएं
सही हैं या गलत हैं या कुछ और
सत्य हूँ भी कि नहीं कि सिर्फ
कहने का तरीका
सुबह से शाम तक
मन में ही
आड़ी तिरछी लकीरों को
सही करता हुआ
मैं

इसी का एक और रंग

बाघ नख

अहम के तथ्य के बहाने
कैसे हैं सत्य
ढाक ढक चाहते हैं जुड़ें
बड़े नाखून
किसके लिए हैं
यह बाघ नख
कौन है अभागा यह?

मानो या न मानो तुम

मानो या न मानो तुम
अधूरी सतही जिन्दगी में भी
जगत पहचानते मन जानते
जी मांगते तूफान आते हैं

व उनके धूल धुंधले कर्ण कर्कश
गद्य छंदों में
तड़पते भान दुनिया छान आते हैं
अचानक इस्तिहानों के तजुबों से
बुजुर्गी आ गयी जिनको
कि ऐसे दर्दवाले ज्ञानवाले
जी पिलाते मन मिलाते दिल
जगत के भव्य भावोद्दण्ड तूफानी
सुरों से सुर मिला अगले दुर्घट
विकट घटनाक्रमों का एक
पूरा चित्र स्वर संगीत
प्रस्तुत कर

महकती महकाती

महकती महकाती
सहज निजत्व गंध
तुम मुझे चाहिए
मुझे दो
मुझे लो
मानवीय हार्दिक क्षमता को
क्षण को
मानवीय प्रतिभा के रंग की
निजत्व विद्युत रेखा
दमकती फिरती है चारों ओर

पुत्र की अंतर्कथा से ये पंक्तियां

मां पुत्र

आगे आगे मां पीछे मैं
उसकी दृढ़ पीठ जरा सी झुक
चुन लेती ठंडल पल भर रुक
वह जीर्ण नील वस्त्रा
है अस्थि दृढ़ा
गतिमति व्यक्तिमत्ता
कर रहा अध्ययन मैं उसकी
मजबूती का
उसके जीवन से लगे हुए
वर्षा गरमी सरदी और क्षुधा
तृषा के वर्षों से

मैं पूछ रहा

मुक्तिबोध की लम्बी कविता के इन अद्भुत शब्दों के लिए आज की स्त्री विमर्श वाली भीड़ कवि को साधुवाद कहे कि मुक्तिबोध ने मां की महिमा के तमाम दैवी प्रकरणों में पहली बार दो विशेषणों गतिमति और व्यक्तिमत्ता का प्रयोग किया।

भारतीय परिवार संस्थान की मानसिकता में मां ऋतुमति अर्थात् गतिमति है। वह संतति के हर जन्म के साथ गतिशील है। परिवार समय को अंकित करते हुए भी व्यक्तिमत्ता शब्द उसके पारिवारिक चौखटे में सम्बंधों की गुणा है। व्यक्ति का शब्द सम्मान हमारे लोकतांत्रिक संविधान ने मां को भी दिया है। पिता के लिए वे कहते हैं

पिता तुम्हारी वीर जीवन
इतिहास कथा
देती है मेरी प्रेरणाओं को
दिशाएं बता
आंसू पोंछ जाती वे
धीरज बंधाती वे
संग्राम का शिल्प मुझे अचूक
सिखा जाती है
संघर्ष में मुझे देती
सत्य की महान व्यथा
पिता तुम्हारी मुझे आती है
याद जब
मेरी तुच्छता की ही आती
पहचान तब
तेरा पुत्र दीन मैं
किन्तु नहीं हीन मैं
कि नहीं बलहीन मैं
करामाती नहीं फिर भी
दिखाता हूं करतब
पिता तुम्हारी मुझे याद आती
है जब
मुझे दीख पड़ता है सामने
ही हिम नग
जिसके समीप ही
छोटी सी ऊंचाई पर
तेरी परछाईं में नहाती हुई
कुटिया है एक नव
अपनी गिरस्ती लिए नयी

मुक्तिबोध की निगाह मात्र परिवार संस्थान पर नहीं है वह व्यक्ति और समाज के सम्बंधों के

मूल तक पहुंचते हैं। सामाजिक जागरण में सिर उठाती पुरानी विसंगतियों, जटिलताओं और रूढ़ियों की भी टटोल करते हैं

यह है मस्तक की महिमा
न अंतर की उष्मा
से उठती है ज्वाला अति क्रुद्ध एक
संग्राम का घोष एक
जीवन संतोष एक
क्रान्ति का निर्माण का, विजय का
सेहरा एक
चाहे जिस देश, प्रांत का हो।

इस लोक में उगते जनमते अपने से मनुष्यों के ऊपर अपने 'स्व' को दूसरों से मूल्यवान समझना
इंसानी सामाजिकता के विरुद्ध है।

बकौल मुक्तिबोध

अभ्यंतर दृष्टि से देखूं
तो मानवीय प्रतिभा का सौन्दर्य
सच तेज पुंज है
हिय में जो कुछ महान है
सरस व सुंदर
अमल व निश्चल
सजग व जाग्रत
ज्वलंत चेतन।

जिन्दगी एक महाविद्यालय और विश्वविद्यालय है। लेखक को अंतरविरोधों का सामना करना पड़ता
है। ऐसे में लेखक कभी विषय और उसके प्रस्तुतिकरण के विरुद्ध अपनी मानसिक प्रतिक्रियाओं
पर जासूसी भी करता है। मुक्तिबोध दुनिया के शोर को सुनते हैं, फिर सुने हुए को अपने अंतस
में घोल लेते हैं

हृदय में चुपचाप होती चर्चा
मैं उसे बहुत ध्यान से सुनता
पढ़ता हूं।
मैं जिज्ञासु वृथा हूं
जाने किस रहस्यमय प्रतीक कथा
का अर्थ खोजता फिरता हूं...
विश्लेषण को अंतिम मानने से इनकार करता हूं।

एक और जगह वे कहते हैं

पता नहीं क्यों लोग स्वयंकृत विश्लेषण पर दृढ़ आस्था और निष्ठा
रखते हैं। वह मुझे बड़ा अविवेकपूर्ण लगता है।

(मुक्तिबोध)

किसी भी बुद्धिजीवी द्वारा निसंगता से अपने लेखन की सर्जनात्मक सीमाओं और क्षमताओं को इतनी बारीकी से देखना आसान नहीं, दुर्लभ है।

पुनर्रचना

मुक्तिबोध के अनुसार साहित्यकार कल्पना द्वारा जीवन की पुनर्रचना करता है। जीवन की वह पुनर्रचना ही कलाकृति बनती है। रचना में जो भी पुनर्रचना होती है वह सारतत्व उस जीवन का प्रतिनिधित्व करता है। जो भी जीवन इस जगत में वस्तुतः जिया जाता है, भोगा जाता है, वह जितना आंतरिक है, उतना ही बाह्य है। बाह्य और आंतरिक के बीच स्पष्ट रेखा खींचना मुश्किल है।

चक्र से चक्र लगा हुआ है
जितना ही तीव्र है द्वन्द्व
क्रियाओं और घटनाओं का
बाहरी दुनिया से
उतनी ही तेजी से
लगता है द्वन्द्व को
फिक्र की फिक्र लगी हुई है।

मुक्तिबोध भविष्यदर्शी की तरह नैतिकता के स्वर्ण मूल्य को उपेक्षित काल पीड़ित की तरह देख रहे हैं। वह झूठ जो नाना रूपों में विश्व भर में प्रवाहित होता है। झूठ के भी विभिन्न शेड्स नयी धातु या कागजी शक्ति में चालू होते हैं। 'सत्य' के मुकाबले झूठ की धारदार मौजूदगी से भला किसे इनकार होगा।

सच के मुकाबले में झूठ भी दुनिया के हजारों सदाचारी विकल्पों को ललकारता है, सच्चाई के मुखड़ों को पछाड़ता है। सत्य और असत्य के अलग अलग पहरन दुनिया की रंगीनियां बन कर अपनी अपनी पहचान को सुदृढ़ बनाने में उड़ते रहते हैं, उड़ानें भरते रहते हैं।

मैं कुछ शिकायतें करना चाहता हूँ इस दुनिया के खिलाफ
लेकिन सोच कर रुक गया।

आखिर मैं अपनों की दुनिया से स्वयं को अलग क्यों मान लूँ। दुनिया का खाकर, दुनिया का पीकर, इसी दुनिया के मनुष्य से प्रेम कर उसी से अलग समझना अपने लेखकीय 'स्व' को जरूरत से ज्यादा तूल देना है। (मुक्तिबोध)

मुक्तिबोध अपनी सोच में व्यक्ति की द्वंदात्मक जटिलताओं की संश्लिष्ट पेचीदगियों पर भी नजर रखते हैं। आस्था अनास्था के दो विपरीत छोरों पर नजर रखते हुए वे एक ऐसी कल्पना करते हैं कि आस्था अनास्था एक दूसरे के विपरीत नहीं हैं गुण दोष में अनास्था आस्था की पुत्री है। उसी तरह जैसे अनैतिकता नैतिकता की संतान है और अधर्म धर्म का पुत्र है। यह श्रृंखलाएं बंधी बंधायी है, एक दूसरे से विलग नहीं।

मैं अनुभव करता हूँ

कि गूढ़ रहस्यों का नाम
जिन्दगी है।
ऐसा न होता
तो औषधिशास्त्र से लेकर
युद्ध शास्त्र और राजनीति के
समस्त सिद्धांत साहित्य संस्कार
में भी कार्यरत रहते !...

मुक्तिबोध के दिल दिमाग से उभरती, उफनती भाव तरंगों में से होकर अनुभव रचनात्मक संस्कारों की परस्परता में पन्नों पर बहता है।

उन्हीं के शब्दों में

क्षमा करें एकदम आत्म निवेदन पर उतर आया हूं। अनुकूल मनोरम और आत्मीय वातावरण में हर शब्द की गूंज मेरे लिए विविध और विभिन्न हो जाती है।

मुक्तिबोध अपनी काव्य पंक्तियों को इतराने नहीं देते। गद्य का तेवरी मुखड़ा देकर मानो उन्हें चौकस करते हैं। यह अटपटापन कभी पाठक को परेशान करता है और कभी अचरज में डालता है। किसी शाब्दिक चित्रात्मकता का टुकड़ा जैसे तह के नीचे से निकाल लाया जाये।

पूछ उठाये
वह जंगली तेज
कंजी आंख फैलाये
यमदूती पुत्री सी
सभी देह स्याह
पर पंजे श्वेत और
खून टपकाते
हुए नाखून।

काव्य पंक्तियों में ही एक और चित्र

हवा चुप रही थी कि
वह हंस पड़ी थी और
टीले ने फिर कहा
अपने समाज में
सच में मैं अकेला हूं
जिनसे है श्रेणीगत एकता
वे मुझसे दूर हैं
सच में अकेला हूं
मुझे दुश्मनी निगाहों से देखते
जो मुझसे एक दम भिन्न हैं
वे मेरे मित्र हैं

किन्तु गुण धर्म जो
स्वाभाविक उनके हैं
मेरे न हो सके।

लेखक की आत्मा में गहन आंतरिक का सोता बिछा रहता है। कभी बूंद बूंद रिसता है, कभी तरलता से स्पंदित पंक्तियों में चकित कर देने वाली छवियां अंकित हो उठती हैं

आदतन सिर्फ आदतन
पर इरादतन भी
अंधेरा मेरा खास वतन
जब आग पकड़ता है
सामने अंधेरा आसमान
पहाड़ टकराते
भीतर के विस्फोटों में
सूर्य टूटता है
ये बड़ी बड़ी मंजिलें
धधकती खड़ी खड़ी
और वहीं कहीं
अधजले ठूठ की कटी
पिटी डाल पर
पक्षिणियां अपने बच्चे देती हैं

मुक्तिबोध की इस कविता से जाने क्यों जापान पर एटमबम के विस्फोट की घटना आंखों के आगे घूम जाती है। मानवता को कुरेदते दो शब्द सूर्य और पक्षिणियां।

सूर्य के प्रकाश का टूट टूट कर बिखरना, ऊंची ऊंची इमारतों का धड़धड़ा कर टूटना जलना, अंधड़ में तांडव सी नाचती आग की लपटें, प्रलय का सा भयावह दृश्य, और ऐसे में मुक्तिबोध आंकते हैं और जोड़ते हैं विलक्षण दृश्य इस एक पंक्ति में। अधजली टहनियों पर पक्षिणियां प्राण जल की बूंदों की आस में जिन्दगी की धरती पर सुरक्षा की कामना करती हुईं और पक्षियों की मांएं धरती पर उगने वाली प्राणों की क्यारियों की नष्ट न हो जाने वाली प्रार्थनाएं करती हुईं।

विस्मयकारी है मुक्तिबोध के अंतस में विविध मुद्राओं और भंगिमाओं को ग्रहण करने की विलक्षण क्षमता।

शब्दों के बड़े बड़े पत्थर
जोश से उठा फेंकता
जोर से यों कि शिखर
गड़गड़ा कर उठता है
यह आदर्शों का पर्वत है।

पाठक को आश्चर्य होता है कि शब्द और पत्थर को आमने सामने रख शायद मुक्तिबोध भारतीय सहनशक्ति और उसे झेल लेने की प्रवृत्ति को तरेर रहे हैं या अपने मराठी कड़ियल स्वभाव को नाटकीयता में ढाल रहे हैं।

देखें मुक्तिबोध का यह तेवर

देख मुझे पहचान
मुझे जान
मैं मरा नहीं हूँ
देखते नहीं हो क्या
मेरी यह सिगरेट
धुआंती है अब तक
मेरी आग मुझ में
जल रही है अब तक
मुझे जान मैं मरा नहीं हूँ।

मुक्तिबोध के यहां वह ताप है जो किसी भी सर्द ठंडक को गरमाने की सामर्थ्य रखता है। अपने को लेकर आत्मदया और संताप का मर्दन करता है।

आत्मोत्पन्न सत्य

वीरान सड़क सूखी सूनी
ठंडी कन्हेर पर
लाल लाल कुछ फूल
चुपचाप अंधेरे में उतरे

कुएं का गोल तला सूखा
जिसमें कचरे के बड़े बड़े
हैं ढेर अरे
यह तो विचित्र है बात
किसी ने आत्मज संज्ञोजात
वहां जाकर रखा।
छोड़ा त्यागा
शिशु रोता है जोर जोर से
अरे कौन अभाग था वह
जिसने आत्मोत्पन्न सत्य
त्यागा।
किस मौन विवशता के
कारण
किसके भय से। (मुक्तिबोध)

मुक्तिबोध प्रकृति के लैण्डस्केप को भी कुछ ऐसे सगेपन से निहारते हैं जैसे वह स्वयं भी शिप्रा कूल के मैदान में एक भव्याकार पीपल हों।

आसमानों पर चढ़ा कुछ ऐसा खुमार कि धरती की सुमधुर काया पर फैली शरद की कपूरी मधुर धूप बांकपन से दमकने लगी। हरहराती रंगबिरंगी तल बिजुरी लहरिया तड़ित नृत्य के छनकार से आरम्भ हो उठी और मेघ जल सा शामियाना तन गया। प्रकृति के लेखाकारों की इस संगोष्ठी

की अध्यक्षता कौन करेगा?

अंधेरे के कुहरीले फैलाव में से आकाश झांकता है तो मुक्तिबोध की लेखकीय आत्मा पर चांदनी चमकने लगती है। अंतस की मुडेर पर से देखते हैं तो आकाशगंगा दमकने लगती है। शब्दों की पांतों में पंक्तियां उभरने लगती हैं।

मुक्तिबोध के यहां चित्रात्मकता की कमी नहीं। मुलाहिजा हो

काली दमकती चट्टान
तिमिर में समय भागता है
सांवली हवाएं
पत्थरीले कछारों पर समय
झरता है
सम्बंधों की घाटी
उघड़ी भीतों की ढहती
प्राचीरों के सिर पर उगी घास

दहकती धूप भरे मैदानों में
बिछी दमकती तलवार
जैसे हो बांक भरी नदी की धार
वतन की याद बन
तुम्हारे विचारों की अनुभवी
गठानों में गुंथा हुआ
क्षितिज की जलती हुई भौहों को देख

और यहां मुक्तिबोध अपने खांचे में टटोल रहे हैं अपना भारतीय मन।

वह तुम्हीं हो
इस रिश्ते से
इस नाते से
यह भारतीय आकाश
और
यह पृथ्वी तल
बंजर जमीर के
खंडहर के बरगद पीपल
ये गलियां ये राहें
घर मंजिल
पत्थर जंगल
पहचानते रहे नित
नित तुमको जिन आंखों से
उन आंखों से मैंने भी

तुमको पहचाना
मानव दिगंत के कूलों पर
जिन किरणों का ताना बाना।

भारतीय गांव

उसी दिन उसी दिन
छोटा सा भारतीय गांव एक
उदासीन उदासीन
ऊपर नीला आसमान
नीचे घास मैदान
वृक्षों के बीच में से रेलवे की
चिलकती पटरियां
वृक्षों के बीच खुली
हरी हरी भूमि
हमारे ख्यालों से बिखरी है
फैली है
फैली है गांवों की अधट्टी
ठठरियां
उदास गमगीन

छोटा सा हमारा राष्ट्रीय हाईस्कूल
अपने में
अपने में मुंदा हुआ लवलीन
विचार मग्न हाय
देखता था समय के महाकाव्य
चरणों के चलने का विस्फोट
चिमूर में आष्टी में नारियो से अंगरेज
फिरंगी फौजियों का बलात्कार
गांधी थे गिरफ्तार
फिरंगी फौजों की
गोलियों की बौछार
मैदानी पवन में
कांपते थे सुबह से
खून सनी जिबह में
सम्भावी भारतीय
विभाजन समाचार

नागरिक के रूप में मुक्तिबोध की सजगता अद्भुत है। स्वतंत्रता संघर्ष की उन नागरिक

उत्तेजनाओं के कालखंड को एक इतिहासज्ञ की निगाह से देखते हैं। गांव में स्थित उस स्कूल को जहां भारत की अगली पीढ़ियां जीवन के नये अध्यायों का पाठ कर रही हैं और बड़े शहरों की हलचलों से भी दूर देश के नये भविष्य का इंतजार कर रही हैं।

मुक्तिबोध की जनोन्मुख शब्दावली, काव्य, विचार, मुहावरे, नये देश की नयी सूचना देते हैं। जातिगत दंश की ओर संकेत करते हैं।

कवि के अंतर्मन में छटपटाती आशंकाएं, अपने को लेकर, अपने से ही टकराहटें, शिकायतें, उलाहने करने के आदी मुक्तिबोध स्वच्छंद सर्जक की तरह अपने को भी किसी दूसरे की तरह सम्बोधित करते हैं और दूसरों के लिए भी वही दरवाजा खोलते हैं। उन्हें पुकारते हैं, देखते हैं। अपने समय के शोर और सन्नाटों को देखती उनकी सोच बड़ी दुनिया से जुड़ी थी। वे उन तक लगातार पहुंचते रहे शमशेर की कविता के संदर्भ में मुक्तिबोध ने कहा है

“शमशेर के मौलिक विशेष के दो आयाम हैं। एक कवि की मनोरचना अर्थात् आत्मा का भूगोल और दूसरे आत्मा का इतिहास। इस भूगोल और इतिहास से बौद्धिक विशेष का निर्माण हुआ है। यह मौलिक विशेष आत्मचेतस होकर अपनी सत्ता स्थापित करता है। उसकी प्रस्थापना एक रूप शिल्प का विकास है।”

सूत्रधार की भूमिका में उनके अपने स्वर में उनके अपने ही मानसिक मंच पर जब शब्द और अर्थ एक दूसरे का स्पर्श करते हैं तो एक साथ कुछ अनोखा और कुछ अटपटा घटित होता है। गद्य और पद्य के मुखड़े एकाकार हो उठते हैं। कभी काव्य तरंगों और कभी गद्य की सुथरी सपाट पंक्तियां। कुछ टुकड़े देखें

एक के बाद एक
स्फुरण व स्पंद और
प्रेरणा का धड़कता हुआ
लांग जम्प
दिमागी रगों की हिलती टहनियां
मस्तिष्क गुम्बद तिमिर में
कहीं
अजब पालतू से खयाल से
आपके
पंख फड़फड़ अकस्मात
करने लगे
घोंसलों से गिराने लगे ये मलिन
पंख पर बीट तिनके कहीं

हम साहित्यिक अपने ढंग से सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं

हमारे स्वप्न के भीतर स्वप्न
विचारधारा के भीतर
विचारधारा।

उसके भीतर भी एक
और सघन विचारधारा
कथ्य के भीतर एक और
कथ्य
अनुरोधी के विपरीत विरुद्ध
और नेपथ्य का संगीत।

वर्तमान समाज

वर्तमान समाज के घेरे में
व्यक्ति और व्यक्तित्व
स्वयं के मूल्य से नहीं
चमक पाते हैं
चिलकते रहते हैं
अनुचित निर्धारित मूल्यों से
अस्वाभाविक अनैतिक
शक्तियों के असंगत
टूटे हुए होल्डर से लगी हुई
अच्छी सी निब सी
केवल अहलकार का काम
करती हुई
अच्छे कई व्यक्तियों की शक्तियां
गहरे न्यस्त स्वार्थों से अनुशासित
होती हैं।

विचार प्रवाह

मुक्तिबोध के ही शब्दों में लेखक कवि अपने होने में विलग होकर किसी अन्य के मर्म में प्रवेश करता है तो अपनी निगाह में भी बदलाव महसूस करता है। व्यक्ति का आत्मविश्वास कितना भी हो उसकी आत्ममुग्धता और उससे जुड़ा रचनात्मक वैभव उसे कमतर नहीं अपार ही लगता है।

दिलचस्प है मुक्तिबोध का यह तेवर जो आज भी बुद्धिजीवी समाज में सत्य की तरह स्थापित है।

समाज में जितने भी विचार प्रवाह हैं
सब हमें याद हैं
हर एक का चेहरा व जीवन रहस्य
हम जानते हैं
अंधा और बहरा कौन है
एक नेत्र कौन है
कहां से उठा है

सब हमें मालूम है
कौन किस उल्लू का कितना बड़ा पट्टा है
सब हमें मालूम है।

पक्षधरता

पक्षधरता आधुनिक शब्द है। नया नया शब्द है। इसके राजनीतिक अर्थ होते हैं। इसके पीछे साम्यवादी छत है। भारतीय चेतना के राजनीतिकरण से मेरा मतलब पार्टी दर्शन के अनुसार चेतना का ढल जाना नहीं है। मेरा मतलब उस विश्वबोध से है जो विश्व को उच्च स्तर पर रूपांतरित करना चाहता है। दूसरे शब्दों में, मानव मूल्यों की सर्वाधिक सर्व स्तरीय नियंत्रणशील स्थापना चाहता है। (मुक्तिबोध)

जिन्दगी में जो कुछ महान है
कल्पना का भास नहीं है
मनुष्यों के भीतरी यथार्थों की ऊंचाई
बकवास नहीं
तो मानव की मुक्ति के नाम पर
उन्नति के नाम पर
संघर्ष के नाम पर
आदर्श के नाम पर
स्नेह के नाम पर
गरजते हुए, भौंकते हुए
चमत्कारी अहम् का प्रयास भी
नहीं है
मानो या न मानो
जिन्दगी में जो कुछ महान है
वह प्रमोशन नहीं है
किसी बड़े आदमी या साहित्यिक का
झूठा सर्टिफिकेट नहीं है।

आर्थिक भव्य का मर्म हर प्रगति दौड़ में लगभग एकजुट रहा। लोकतंत्र में दायित्व और व्यावहारिक छल कपट की ओर संकेत कर मुक्तिबोध इसे भी साहित्यिक विमर्श में शामिल कर लेते हैं। वह अपनी दूरदृष्टि से कुछ ऐसा देख रहे थे जो आज पचास वर्षों के बाद भी धीमा नहीं पड़ा बल्कि अपने चरम पर है।

मानव मूल्य और पक्षधरता

साहित्य में भी पक्षधरता का प्रश्न हमेशा से रहा है और रहेगा। पक्षधरता का सम्बंध मनुष्य के विश्वबोध और सद असद विवेक,

बुद्धि अर्थात् अंतरात्मा के विवेक से है। हिन्दी में आत्मा की बात की जाती है। विभिन्न संदर्भों के अनुसार, उसके विभिन्न अर्थ भी किये जाते हैं। हिन्दी में अभ्यांतर जगत, अंतरतम, अंतर हृदय का प्रयोग भी होता है। इस सबका सार रूप अर्थ है। मनोजगत जिसमें बुद्धि, कल्पना, संवेदना और भावना आदि की प्रक्रिया चलती है।

भाषाई संस्कृति और शब्द विवेचन पर गहरे से सोचना भी मुक्तिबोध के क्रियाकलापों के बाहर नहीं था। मुक्तिबोध का सजग नागरिक दशकों दशक पहले इस तथ्य को कुछ यूँ अंकित करता है

समाचार पत्रों के पतियों के
मुख स्थूल
गढ़े जाते संवाद
गढ़ी जाती समीक्षा
गढ़ी जाती टिप्पणियां
बौद्धिक वर्ग है क्रीतदास
किराये के विचारों का उद्भास

बड़े बड़े चेहरों पर स्याहियां
पुत गयीं
नपुंसक श्रद्धा
सड़क के नीचे ही गटर में
छिप गयी
कहीं आग लग गयी
कहीं गोली चल गयी

शक्ति गलियारों का यह नया प्रयोग और विकासक्रम भाषा और शब्दों को नया अर्थ दे रहा है। सामाजिक चेतना और राजनीतिक प्रदूषण की ओर देखते हुए मुक्तिबोध की अपने ही शब्दों में यह प्रतिक्रिया दिलचस्प है

प्रतिपल जाग्रत
व्यक्ति की तरह
अध्ययन करता हूँ
उनके हिय के तालाबों में
सिर से पैरों तक
लहलुहान रहता हूँ।

अपने लोकतंत्र में
हर आदमी उचक कर चढ़ जाना
चाहता है
धक्का देता हुआ बढ़ जाना

चाहता है।

हर एक को अपनी अपनी
पड़ी हुई है
चढ़ने की सीढ़ियां
सर पर चढ़ी हुई हैं
निसैनी सोपानों का क्रम
ऊपर हाथों में उठा हुआ
सिर पर चल रहा है
हर एक अपना अपना स्वर्ग सेतु
बुलडोजर, क्रेन चलाये
देख रहा है ऊपर की ओर

मुक्तिबोध एक सजग बुद्धिजीवी की तरह चौकन्ने और चौकस होकर स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद के दशकों में बदलते समय पर आंख रखे हुए थे। उन्होंने कहा

मेरा अपना विचार है कि जिस भ्रष्टाचार, अवसरवादिता
और अनाचार से आज हमारा समाज व्यथित है, उसका सूत्रपात
बुजुर्गों ने किया है
स्वाधीनता प्राप्ति के उपरांत
भारत में
राजधानी दिल्ली से लेकर
प्रांतीय राजधानियों तक
अवसरवादिता के जो दृश्य
दिखायी देते हैं
उनमें बुजुर्गों का बहुत बड़ा
हाथ है।
यह न बुजुर्गों की आलोचना है, न युवा पीढ़ी की तरफदारी। यह
स्वाधीनता प्राप्ति के बाद नयी विकास योजनाओं से उभरते
भ्रष्टाचार की ओर संकेत है।

जीवन में संघर्ष कवि मन की सिर्फ कलात्मक कसौटी नहीं। वह इंसानी जज्बों की वह तस्वीर है जो पराजित होना नहीं जानती। यथार्थ की जीर्ण शीर्ण सीढ़ियों पर भी पैर रखने की हिम्मत रखती है। समय से मुठभेड़ करते मुक्तिबोध अपने होने से अलग और दूसरों से जुटे, जुड़े भी अनाम धड़कनों की विवशताओं और क्लिष्टताओं को कविता में जांचते परखते हैं। साहित्यिक जीवन के खुरदरे यथार्थ को प्रस्तुत करते हुए सार्थकता के प्रतिमानों से भी टकराते हैं।

मुक्तिबोध के कवि का आत्मक्षण ऐसा कि विपरीत दिशाओं के शब्द दोहराने जाने को उद्धृत एक दूसरे की ओर झपटने लगते हैं। शायद लुप्त हो जाने की सम्भावना से या पंक्तिबद्ध होने की आकांक्षा में। काव्य पंक्तियों में पंक्ति दर पंक्ति शब्द दौड़ते हैं। रफ्तार में कुछ ऐसे जैसे

दूरी को मापना हो और निकटता को समेटना हो। मानो बंधे बंधाये शिल्प की दरकार न हो। उनकी शब्द सम्पदा किसी वेगवती नदी के साथ बहती लगती है। कभी कह डालने की उतावली में पंक्तियों के लयात्मक क्षरण में वह गद्य की सपाटबयानी में उतर जाती है।

विस्मयकारी है मुक्तिबोध के अंतस में बाह्य की मुद्राओं और भंगिमाओं को अपने में ग्रहण करने की क्षमता। लोक के विविध समाजों से उठती आवाजों का कोलाहल, शोर जिस तरह वह अपने मानसिक व्याकरण में स्थित करते हैं वह न किसी विचारधारा के विज्ञापन के लिए लगता है और न ही किसी रियायती क्रम में प्रसंगवश उठता हुआ।

कहना चाहिए कि मात्र विचारधारा नहीं, मुक्तिबोध मानवाधिकार की उस नयी वैचारिकता की ओर बढ़ रहे थे जिसे उनके जाने के बाद मानवीय संरक्षण और हित में विश्व भर में प्रसारित होना था।

स्वाधीनता संग्राम के संघर्षकाल में भी मुक्तिबोध की जानकारी में ऐसे शक्ति गलियारों की पहचान जरूर होती रही होगी, जहां उनसे जुड़े व्यक्तियों के गहरे स्वार्थ होते हुए भी वह कार्य कौशल से अनुशासित हो संस्थानों के सम्भावित कार्यकलापों को अंजाम देते रहे हों।

वसंत के अनियंत्रित समीर के झोंके
उसको छू ही लेते हैं
वह नग्न सुदामा विवश
क्या कहे
उसके सदा तुच्छ समझे जानेवाले
उस गहन हृदय में
वसंत के वसंती रंग
उस बबूल को देख तुरंत ही
युगानुयुग संतप्त
देशकाल व्यापी छाया सिद्धार्थ
बुद्ध को भी
फीकी लगती है।

बबूल के साथ साथ ही कौंध जाते हैं ऊंची जात के पाम और नीची जात के पाम। इन दोनों की किस्म को बराबर ले आने के लिए मुक्तिबोध का लोकतांत्रिक मिजाज कहां पहुंच कर क्या छूना चाहता था हम आज समझ सकते हैं। इस कविता की पंक्तियां देखें

यह बबूल

दुबला धूल भरा अप्रिय सा
सहज उपेक्षित
श्याम वक्र अस्तित्व लिए
वह तिरस्कृत
अपमानों को मौन झेलता
चिर अपमानित
पथ के एक ओर चुपचाप खड़ा है

फटेहाल जीवन की नंगी कठिन दीनता
सा जो वर्जित
यह बबूल है
वृक्षों के अभिजात वर्ग की आंखों
से रह गया बहिष्कृत।

प्रतीकों और बिम्बों की
असम्वृत रूप में भी रह
हमारी जिन्दगी है यहां
वहां पर धूल के भूरे गरम
फैलाव पर
पसरी लहरती चादर
बेथाह सपनों की
जहां पर पत्थरों के सिर
गरीबों के उपेक्षित श्याम चेहरों की दिलाते याद
टूटी गाड़ियों के सांवले चक्के
दिखे तो मूर्त होते आज के धक्के
भयानक बदनसीबी के
जहां सूखे बबूलों की
कटी पांत
भरती है हृदय में धुंध डूबा दुख
भूखे बालकों के श्याम चेहरों साथ
में भी घूमता हूं शुष्क
आती याद मेरे देश भारत की
अरे मैं नित्य रहता हूं अंधेरे घर
जहां पर लाल डिबरी ज्योति के सिर पर
कसकते स्वप्न मंडराते

मुक्तिबोध के कवि मन पर कसकते स्वप्न मंडराते हैं अपने देश के भूखे श्याम चेहरे बच्चों के। लेखकीय संस्कृति संस्कार प्रतीकों बिम्बों और मिथकों से कहां विलग है पर निर्धन भूखे बच्चों के यथार्थ से आंखें चुराने से क्या साहित्य से जुड़ी मानवीय संस्कारी सद्भावनाएं हरियाती रहेंगी?

पाठक के रूप में कल्पना करें तो मुक्तिबोध संवेदनीय शब्दों को मापने के लिए न तो टेबल पर बैठे नजर आते हैं, न ही किसी नाटकीय मंच से अपनी काव्य शृंखला का कविता पाठ करते हुए नजर आते हैं स्टेडियम की दौड़ पट्टी पर तेजी से भागते हुए मानो उन्हें खुद आगे बढ़ कर अपनी पंक्तियों पर विजय पाना हो।

उनकी कविता का आत्मिक मात्र कवि के गहन आंतरिक संवेदन में से ही नहीं उभरता। शब्दों में गठित वह बाहर की बड़ी दुनिया से जुड़ी व्यक्तित्व चेतना का अंग भी बन जाता है। एक ओर मुक्तिबोध का सजग, सशक्त और किसी हद तक जिद्दी पक्ष है और दूसरी ओर उनकी

रचनाशीलता को घेरे हुए इस धरती का बृहतर दृश्यव्य है।

आलोचक की ठंडी अंतर्दृष्टि से हट कर साहित्य का साधारण पाठक मुक्तिबोध की पंक्तियों में उस मानवीय ताप को भी महसूस करता है जो इनसानी नस्ल को हजारों हजार सालों से सालता रहा है। इनसान और इनसान के बीच बराबरी का वह महत्वांकाक्षी रोमांस जिसके साथ मानवता के संघर्ष जुड़े रहे हैं।

मुक्तिबोध की पंक्तियों का विशेष मुक्तिबोधीय भाषाई शोर, कोलाहल भौगोलिक और ऐतिहासिक संवेदन से उभरता है। उस समय काल को प्रदर्शित करता है जब विभिन्न प्रदेशों की इकाइयां एक दूसरे से दूरी महसूस नहीं करती थीं, देश के भावनात्मक एकत्व से जुड़ाव रखती थीं।

उन्हीं के शब्दों में

जन जन का चेहरा एक
चाहे जिस देश प्रांत पुर का हो
जन जन का चेहरा एक
एशिया की यूरोप की अमरीका की
गलियों की धूप एक
कष्ट दुख संताप की
चेहरों पर पड़ी हुई झुर्रियों का रूप एक
जोश में यों ताकत में बंधी हुई
मुट्टियों का एक लक्ष्य
पृथ्वी के गोल चारों ओर के
धरातल पर
है जनता का दल एक, एक पक्ष।

मुक्तिबोध के यहां वह ताप है जो किसी भी ठंडक को गरमाने की सामर्थ रखता है और अपनी शर्तों पर आत्मदया और संताप का मर्दन करता है। अपने को लेकर यह कवि मन के साहस की कलात्मक कसौटी नहीं, यह मानवीय जज्बे और जुर्रत की वह तस्वीर है जो पराजित होना नहीं जानता।

जीर्ण शीर्ण जीने पर भी चढ़ जाने की हिम्मत रखता है। वैशिष्ट्य उनका विचार पक्ष है जो व्यक्ति और समाज की ऐन बीचोबीच की जटिलताओं को पहचानता है। अपनी संवेदनशील निगाह से छूता है। छानता है। मुक्तिबोध के आंतरिक चित्रात्मक कोलाज उनके सूक्ष्म और अमूर्त को एक साथ नया भाषायी स्वरूप देते हैं।

जीवन एक विशाल उपन्यास है मुक्तिबोध

सोचा जाये तो यह एक बड़ी स्वप्न जीवन कथा का ही अंग है। जीवन ही एक विशाल उपन्यास है। यह एक ऐसी चित्रकथा है जिसमें कितने ही मनोहर, सुकुमार, भयंकर और विषाद, अवसादपूर्ण दृश्यों के टुकड़े हैं। अगर मैं अपनी तात्कालिक जीवन गाथा का प्रसंग उठा कर लिखूं तो भी बहुत कुछ हो सकता है लेकिन सवाल यह है कि क्या मैं ऐसा करना चाहता हूं।

समय से मुठभेड़

अपने समय से मुठभेड़ करते हुए लेखक होने के नाते मुक्तिबोध अपने होने से अलग बौद्धिक स्तर पर दूसरों की धड़कनों की व्यथा को एक दुर्लभ और सहज क्लिष्टता से मापते, जांचते, तरेरते हैं और अपने जन्मगत स्वभाव को प्रत्यक्ष करते हैं। उनका भाषाई क्रम वैविध्य रंगों में देख कर आश्चर्य होता है।

उनका मानसिक तापमान साहित्यकारों के व्यावहारिक और सामाजिक संघर्ष के खुदरेपन के यथार्थ को विविधता से अंकित करता है। बौद्धिक सार्थकता के प्रतिमानों को प्रभावित करते हुए भी वे उसे नहीं भूलते।

मुक्तिबोध के ही शब्दों में लेखक कभी अपने होने में अपनी ही धेरेबंदी को तोड़ कर किसी अन्य के मर्म में प्रवेश करता है तो अपनी निगाह में भी बदलाव महसूस करता है। व्यक्ति का आत्मिक विश्वास कितना भी हो, उसकी आत्ममुग्धता और उससे जुड़ा रचनात्मक वैभव उसे कमतर नहीं अपार ही लगता है।

दिलचस्प है मुक्तिबोध का यह तेवर जो आज भी बुद्धिजीवी समाज में सत्य की तरह स्थापित है।

मुक्तिबोध की जनोन्मुख शब्दावली कथ्य, विचार, मुहावरे, जातिगत परम्परा के विपरीत स्वतंत्रता प्राप्ति के साथ 'लोक' के खुलते सामाजिक दौर की सूचना दे रहे थे।

छायावाद के रचनाकाल के बाद आजादी के साथ ही साहित्य में कोमल शब्दावली बदली बदली लगने लगी है। प्रचलित मान्यताओं से हट कर अब वह पूंजीवाद से समाजवाद को आवाज दे रही है।
(मुक्तिबोध)

यह काल तुम्हारा नहीं

तुम छिपा चलो जो कुछ तुम हो
यह काल तुम्हारा नहीं
किन्तु एकत्र करो
प्रज्वलित प्रस्तरों को
वे आते होंगे लोग
जिन्हें तुम दोगे
देना ही होगा पूरा हिसाब
अपना सबका
मन का
जन का

मुक्तिबोध की यह चेतावनी ऐसी कि लगभग स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भी राजनीतिक पार्टियों के शक्ति शामियाने ऐसी परिपाटी पर अग्रसर हैं जो 'लोक' और लोकतांत्रिक मूल्यों का हनन करने से नहीं हिचकते।

दिलचस्प है कि सत्ता तंत्र और जनतंत्र के बीच की दूरी को मुक्तिबोध कैसे महसूस करते हैं

तमाशा

राजनीति साहित्य क्षेत्र भी
महा असत्य शूकरो का है
एक तमाशा
यद्यपि बोली जाती मुंह से
भारतीय संस्कृति की भाषा
मध्यवर्ग के भारतीय संस्कृति
के गहरे तालाबों में
मानव की निःसीम उपेक्षा से मुस्कराते
लाखों स्याह कमल हैं
जिनको चिमगादड़ की रात्रि शैया
पंखों की सी पंखुडियां हैं

लोकतंत्र में व्यावहारिक छल कपट और लोकतांत्रिक दायित्व के सैद्धांतिक विकास पर आज भी वही प्रश्नचिह्न है। वह धीमा नहीं पड़ा, अपने चरम पर है। सदियों से पीड़ित सुदामा परिवारों को जीवन की उपेक्षाओं से लेकर राष्ट्र के आर्थिक भव्य का प्रचार प्रकरण आज भी हमारे जनतंत्र को कमजोर करता है। बुद्धिजीवी समाज ऐसी टटोल पर हर समय आंख रखता है, यह हमें सचेत रखने के लिए उद्यत करता है। यदि नहीं रखता तो रखना चाहिए।

मुक्तिबोध का लेखक स्वतंत्रता प्राप्ति की ऐतिहासिक घटना के देश के अगले पिछले समय पर आंख रखते हुए राजनैतिक, प्रशासनीय और सामाजिक परिवर्तनों से उभरती नयी स्थितियों और उनकी व्यवस्था पर लगातार आंख रखते हुए जन साधारण के जीवन में नयी आशाओं महत्वाकांक्षाओं की प्रक्रियाओं की गहरी खोज खबर रखता था। नये सम्प्रेषण के साधन, देश के प्रेस साहित्य की विविध विधाएं और रेडियो प्रसारण के नये स्वर भारतीय जनजीवन के यथार्थ पर उनकी पकड़ ऊपरी नहीं थी। समाचारपत्रों के आंतरिक प्रबंधन पर उनकी ये पंक्तियां कितनी सटीक हैं

गढ़े जाते संवाद
गढ़ी जाती समीक्षा
गढ़ी जाती टिप्पणियां
गढ़े जाते शोषक
जन जन उर शूल
बौद्धिक वर्ग है क्रीतदास
किराये के विचारों का उद्भास
बड़े बड़े चेहरों पर स्याहियां पुत गयी
नपुंसक श्रद्धा
सड़क के नीचे ही गटर में छिप गयी।

मुक्तिबोध भारतीय समाज में जातीयता के संक्रमण और सामाजिक विभिन्नताओं के पक्ष विपक्ष के

आरपार भी देखते हैं और देश भर की उत्पीड़क प्रवृत्तियों के यथार्थ को ऐतिहासिक कालानुक्रम में जांचते हैं। इस मनोवृत्ति से उपजे ठेठ अंतर्विरोधों की पहचान करते हैं।

मेरे मित्र सहचर

युद्ध के गीतों को पहली ही
जोरदार
ओजस्वी पंक्ति सी
क्षितिज की जलती हुई भौंहों को
देख वह
तुम्हारी भौंहों को चूमती ही रही है
अग्नि परीक्षा से दहकते मैदान
तुम्हारे प्राणों में समाते ही रहे हैं
तुम्हारे विचारों की अनुभवी
गठानों से गुंथा हुआ व्यक्तित्व
जनता का नवयुग आसमान छूता हुआ
मानवीय मर्मों के जीवंत आदर्श
जिन्दगी के कंधों पर झुकी हुई
वजनदार
जन अनुभवों की छलछलाती भरी
हुई गगरी।

फिर वही

फिर वही यात्रा सुदूर की
फिर वही भटकती हुई खोज
भरपूर की
कि वही आत्मचेतस अंत
सम्भावना
जाने किन खतरों से जूझे
सम्भावना
जाने किन खतरों से जूझे जिन्दगी।

आज के मुंहजोर और मुंहतोड़ समयों में मुक्तिबोध को पढ़ते हुए नहीं लगता कि हम किसी गुजर चुके समय में से गुजर रहे हैं। हमारे आज के विकास क्रम में वह 'आज' की शुरुआत थी जिसके चरम को हम आज भुगत रहे हैं।

सदियों सदियों से 'पुरुषोत्तम राम' के लाडले रामू की बात करते हुए मुक्तिबोध एक नहीं अनेक देशवासियों की बात करते हैं जो 'राम नाम' की स्तुति में अपने जीवन की अवधि को इनी गिनी जरूरतों के नगों में उम्र गुजार देते हैं। इस उम्मीद में कि सहूलियतों से जीना भी जन्म जन्मांतरों के हाथ में है।

शोरीली सभ्यता

साहबान
भीड़ भड़कती है
सम्भालो
अपनी अटैची सम्भाल
कर रखो
जमाना उचक्का है।

पिरोना एक ही तस्वीह में
इन बिखरे हुए दानों को।

मुक्तिबोध के रचनात्मक प्रवाह में से गुजरते हुए पाठक महसूस करता है एक विशेष प्रकार की लेखकीय तन्मयता जो अंदर और बाहर के कोलाहल से जाग्रत होती है भाषायी विपुलता और निर्धारित लक्ष्य पर पहुंच जाने की आतुरता के बावजूद।

कभी कभी रचनाकार के निकट भाषा की ऐसी उत्तेजना जो सर्जक के आंतरिक तल से उभरते उभरते अपने को और कभी दूसरों को सम्बोधित कर अनजाने ही क्रूर पंक्तियों की शक्ति अख्तियार कर लेती है। ऐसे उदाहरण भी मुक्तिबोध में कम नहीं हैं।

लिखित मूर्त शब्दावली सी
व्यथा के अंधेरे समुद्रों
तले
हृदय की कथाएं कि जीवन
कथाएं
चलित चित्र की सी घूमती
हैं रुलातीं, हंसातीं
पाताली अंधेरों की गुफाओं में

उच्चतर वर्ग

हमारे भारत के उच्चतर वर्गों के कर्णधार ठेठ साम्राज्यवादी देशों की विचारधाराओं के राजनीतिक दर्शन को प्रचारित, प्रचलित कर रहे हैं। इन विचारधाराओं से लगे दृष्टि बिन्दुओं का प्रचार साहित्य में भी उपलब्ध है। फर्क सिर्फ यह है कि विचारधारा की पाठ्य सामग्री अधिक सूक्ष्म अधिक युक्तियुक्त होकर औचित्य और संगति का जामा पहन साहित्य में उपस्थित होती है।

प्रचंड शौर्यवान अष्ट सष्ट
वरदान
खून रंगदारी है
तुम्हारी नीति बड़ी प्यारी है
विपरीत दोनों दूर छोरों द्वारा

पुजकर
स्वर्ग के पुल पर
चुंगी के नाकेदारी
भ्रष्टाचारी मजिस्ट्रेट
रिश्वतखोर थानेदार
और निराकार शून्य
महान विशेषताएं मेरे सब जनों की
तुम उधार ले
जिन को संवार लिया
यशस्काय बन गया
चिरंतन तिरोहित
यशोरूप रह गया चिन्तन
आविर्भूत

मुक्तिबोध की रचनात्मकता मात्र विचारोत्तेजक, भाषिक, प्रसार प्रचार ही नहीं, उनकी बहुस्तरीय सामाजिक दृष्टि में वह हमारी जड़ता को भी कुदेदती है। संकीर्णता को तरेरती है। उद्देश्य इतना भर कि हम अपनी कुरीतियों, कमजोरियों को बदलने का मिजाज बनायें।

जम गये जाम हुए, फंस गये
अपने ही कीचड़ में धंस गये
कहां जाऊं दिल्ली या उज्जैन

ओ मेरे आदर्शवादी मन
ओ मेरे सिद्धांतवादी मन
अब तक क्या किया
जीवन क्या जिया
उदरम्भरि जन अमात्य बन गये
किसी व्यभिचारी के बन गये
विस्तर।

उनकी ज्वलंत जिज्ञासाएं समय की बदलती राह रस्मों को पहचानती हैं। मुक्तिबोध लेखक के गम्भीर कौतूहल की विस्मयकारी गरिमा को पहचानते थे। रह रह मानो अपने से कहते हों

यह रहा मेरा समय
मेरे आसपास फैला है
मेरी गलियों में
दिन रात की निरंतरता
में शोरीली बस्तियों
सड़कों के मोड़ पर की
सलवटें, ये टुकड़ों से दीखता।

कवि और कविता पर स्वयं मुक्तिबोध

कविता कवि के पार्श्व और प्रेक्ष्य की खोज से अलग नहीं की जा सकती। कवि जीवन हमारे दैनिक जीवन का अपेक्षतया एक छोटा सा अंग है और इसी कवि जीवन का ताना बाना हमारे वास्तविक जीवन के ताने बाने से गुंथा हुआ है। जीवन अपने विशिष्ट उद्भासपूर्ण क्षण में ही कवि जीवन हो जाता है। यह कवि जीवन किसी उच्च मनोवैज्ञानिक स्तर का आविर्भाव है। वास्तविक है। कवि जीवन के मूल्य और नियम यथार्थ में जीवन मूल्यों पर ही टिके हैं।

मुक्तिबोध ने उस दौर की प्रचलित काव्यप्रणाली से परे ही कवि भाषा को नये संस्कार और नयी शब्दावली में प्रस्तुत किया। एक विचित्र आत्मबद्धता के साथ। मुक्तिबोध गहरे तक जानते रहे होंगे कि देश के राजनीतिक तानेबाने में जब परिवर्तन होते हैं तो वैचारिक स्तर पर भी मानदंड बदल जाते हैं। उनकी कविता का आत्मिक कवि के गहन आंतरिक संवेदन से ही नहीं उभरता पंक्तियों में गठित हो वह बाहर की बड़ी दुनिया से जुड़ी व्यक्ति चेतना का अंग बन जाता है।

शब्द

उलट पुलट शब्द
टूटी हुई लाइनें
न उभरे हुए चित्र
न अपूर्ण लकीर
मुझे नहीं सूझता कि
मैंने क्या लिखा है
दूढ़ता हूँ किन्तु मैं उन्हीं में कि
अटकी कुछ बात जो कि
भटकाती मुझे यों
अटकी हुई बात
किन खंडहरों में दूढ़ता हूँ
तहखानों में रखने का खजाना

हर दौर में हर भाषा का नया पुराना छोटा बड़ा लेखक कभी न कभी ऐसी चिन्ताओं से घिर जाता है। इन रचनात्मक चक्रों में फंसा महसूस करता है और फिर शुभ मुहूर्त में अपनी गलती पर लौट आता है। मुक्तिबोध की लेखकीय रफ्तार के अनुरूप शब्द दौड़ते हैं जल्दी जल्दी, पंक्तियों से कुछ ऐसा झलकता है कि उस ओर तत्काल बढ़ जाओ, जहां विराम प्रतीक्षा में है।

हर लेखक को कभी न कभी ऐसे क्षणों का सामना करना होता है, किन्तु मुक्तिबोध की इन पंक्तियों को पढ़ हैरानी होती है। वह इस झुंझलाहट को न भी प्रकट करते तो भी अगली नयी काव्य पंक्तियों तक आसानी से पहुंचते पहुंचते गद्य का मुखड़ा अपना लेते।

अब तक क्या किया
जीवन क्या जिया

ज्यादा लिया और दिया कम
मर गया देश
अरे जीवित रह गये तुम
लोक हित पिता को घर से निकाल दिया
जन मन करुणा से मां को हकाल दिया
स्वार्थों के टैरियर कुत्तों को पाल लिया
भावना के कर्तव्य त्याग दिये
हृदय के मंतव्य मार डाले
बुद्धि का भाल ही फोड़ दिया
तर्कों के हाथ उखाड़ दिये

कवि के अंतस में छटपटाती आशंकाएं, टकराहटें उलाहने मुक्तिबोध स्वच्छंद सर्जक की तरह अपने को सम्बोधित करते हैं और दूसरों के लिए दरवाजा खोलते हैं। उन्हें टेरेते हैं, समय के शोर और सन्नाहों में अटपटा घट रहा है। उसकी ओर आपका ध्यान केन्द्रित करते हैं।

लेखक का आत्मसंवाद

आज छंदों में उमड़ती आ रही है
जो कि सादे गद्य में खुलती रही
जो कि साधारण सड़क चलती रही
आज छाती में घुमड़ती आ रही है बात
रास्ता है पैर हैं और धैर्य चलता जा रहा है
किन्तु उर में क्यों उदासी शाप सी
प्रत्येक चेहरे पर लिपी जो राख सी
प्राण है ओ बुद्धि का भी कार्य चलता आ रहा है
खड़ा है बल है हृदय में तो ओज भी तो कम नहीं
मैं महाशोधक महाशय सत्य जल का मीन हूं
सत्य का मैं ईश ओ मैं सर्वप्रकाश हूं परम स्रष्टा हूं
किन्तु उर में अश्रु है अति म्लान भी
स्नेह है आदर्श है और तेज भी तो कम नहीं
तर्क है ओ तर्क का राक्षस हमारे बाहु में है
सत्य की व्याख्या स्वयं हूं

(जो सदा है शोधनीया)

सफल हूं पथभ्रष्ट हूं अविजेय हूं
आधीन हूं
हृदय में घुन सा लगा रहता
पाप यह दारुण जगा रहता

अपने को महाशोधक, महाशय, सत्य का ईश और स्वप्न का स्रष्टा पुकारने वाले मुक्तिबोध अपने से संवाद से करते हुए सादे गद्य की साधारण सड़क पर कविता को उतार लेते हैं। काव्य परम्परा में वह भला पद्य और गद्य अलग अलग मुखड़ों को क्यों न पहचानते होंगे। फिर यह आत्मसंवाद

दो स्तरों पर हो रहा है। अपने से और दूसरों से।

मैं तुझ तक पहुंचने की मूर्खता करना नहीं चाहता
बस इसलिए
उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में
मैं क्यों न चिमगादड़ बनूं
व धरित्रों की ओर मुंह कर
पैर तेरी ओर करता लटकता ही रहूं
क्या है यहां

मुक्तिबोध अपनी काव्य तरंगों के साथ साथ उमड़ते तनावों और उछालों के दबावों तले बहते प्रवाह भी जानते थे। उग्र शिराओं में उतनी ही उतावली से प्रज्वलित होती उस लौ को भी जिन से उनकी सर्द पंक्तियां तपिश खींचती थीं।

जब प्रश्नचिन्ह बौखला उठे

जीवन के प्रखर समर्थक से जब
प्रश्नचिह्न बौखला उठे थे दुर्निवार
तब एक समुंदर के भीतर
रवि की उद्भासित छवियों का गहरा निखार
स्वर्णिम लहरों से झल्लाता
झलमला उठा
मानो भीतर के सौ सौ अंगारे उतर
सब एक साथ
बौखला उठे
तमतमा उठे
संघर्ष विचारों का लोहू
पीड़ित विवेक की शिरा शिरा में उठा गिरा
मस्तिष्क तंतुओं में प्रदीप्त
वेदना यथार्थों की जागी
मेरे सुख दुख ने अकस्मात्
भावुकतावश
सुख दुख के चरणों की
मन ही मन
यों की पा लागी
कंठ में ज्ञान संवेदन के
आंसू का कांटा फंसा और
मन में वह आसमान छाया
जिसमें जन जन के घर आंगन
का सूरज आसमान छाया

झुरमु झुरमु वह नीम हंसा
 चिड़िया डोली
 फरफर आंचर तुमको निहार
 मानो कि मातृभाषा बोली
 जिस से गूँजा यों घर आंगन
 खनके मानो बहुओं की चूड़ी के कंगन
 मैं जिस दुनिया में आज बसा
 जन संघर्षों की राहों पर
 ज्वालाओं से
 माओं का बहनों का सुहाग सिन्दूर
 हंसा बरसा बरसा
 इन भारतीय गृहणी निर्झरिणी नदियों के घर घर में भूखे प्राण हंसे
 दिल में आंसू के फव्वारे
 लेकर मेरे से छंद बावरे
 बुरी तरह अकुला कर
 बूढ़े पितृश्री के चरणों में लोट पोट कर
 ऐसी पावन धूल हुए
 बहना के हिय की तुलसी पर
 पन छाया कर
 मंजरी हुए
 भाई के दिल में फूल हुए
 अपने समुंदरों के विभोर
 मस्ती के शब्दों में गम्भीर
 तब मेरा हिन्दुस्तान हंसा

मैं व्यक्तिवादी नहीं हूँ

अपने लघु सांसारिक अहम को सम्बोधित करते हुए मुक्तिबोध अपने को सुझा रहे हैं कि संवारने के लिए अपना बौद्धिक विस्तार करना होगा, इतना कि उसमें संपूर्ण विश्व समा जाये। ऐसा घटित हो सके इसके लिए तो मुझ जैसे को कई बार मरना होगा। जानता हूँ मैं व्यक्तिवादी नहीं हूँ पर मेरा अंतर विस्तार चाहता है। मैं Trans-Individual में विश्वास रखता हूँ।

हम जब अपने लघु सांसारिक अहम को पार कर विस्तृत जीवन के भागी होते हैं तभी हम आध्यात्मिक कुल तक पहुंचते हैं। हम व्यवहार और गहरायी दोनों में Trans-Individual हो सकते हैं। मैं न साम्यवादी हूँ न समाजवादी, सच तो यह है कि आज का समाज व्यक्ति की गुणवत्ता को कुचल देता है। (मुक्तिबोध)

मुक्तिबोध अपने देश के एतिहासिक संकोचों को खूब जानते थे। वह आज भी पराजित शृंखलाओं से उठ धार्मिक, राजनैतिक वैमनस्य के दुष्प्रभावों का सामना करता है। ऐसा न होता तो मुक्तिबोध

की रचनात्मक सम्पदा का मुख्य स्वर राजनैतिक चेतना का पर्याय न बन पाता जिसे हम उनके वैचारिक दृष्टिकोण में गहरे तक महसूस करते हैं।

मुक्तिबोध की रचनात्मकता में मात्र विचारोत्तेजक भाषिक प्रसार प्रचार ही नहीं, उनका बहुस्तरीय सामाजिक दृष्टिकोण हमारी मानसिक जड़ता को भी कुरेदता है। संकीर्णता को तरेरता है।

स्वतंत्रता संघर्ष की जिस दिशा की ओर उस समय देश उन्मुख था, उससे भारतीय जन मन आने वाले समय में उभरने वाले भावनात्मक और सामाजिक यथार्थ से अनभिज्ञ नहीं था। जनता जनार्दन स्वतंत्रता प्राप्ति के साथ जुड़ी नयी संवैधानिक मर्यादाओं की ओर देख रहा था। यह मुक्तिबोध की पंक्तियों में लगातार यहां वहां गोचर होता चलता है।

मुक्तिबोध की पंक्तियों में हमारा जन साधारण जिस भी चौखट से उभरता है, जिस रचाव रसाव में अपने अभावों को अपनी सामाजिकता को जीवन शैली में स्वीकार करता चला जाता है, उनकी कविता में वह उसी तरह प्रकट होता है। मुक्तिबोध की सोच उनकी कविता से दूर नहीं। उसमें मात्र विचारधारा का ही उद्घोष नहीं।

मुक्तिबोध की अपने पर निगाह

मैं सब में से गुजरना चाहता हूं
इसलिए खुद को ही दूसरों को
दिये दिये फिरता हूं।
अजीब है जिन्दगी
बेवकूफ बनने की खातिर
सब तरफ अपने को लिए लिए
फिरता हूं

लेखकीय बिरादरी में कदम रखने वाले लेखक के जज्बे और खुमार को कौन नहीं जानता? सिरफिरे प्रबुद्धों की बिरादरी में अपने को लिए लिए फिरना कितना जरूरी है कितना 'प्राचीन' पहुंचे हुआओं की संगत सोहबत में अपने को देखना, उनकी रचनात्मक विरासत के निकट ही अपनों को पहचानने के दौर में अपने को लिए लिए फिरना होता है।

सत्ता के परब्रह्मा

ईश्वर के आसपास

दुनिया की हाट समझ
जन जन के जीवन का
मांस काट
रक्त मांस विक्रय के
प्रदर्शन की प्रतिभा का
नया ठाठ

शब्दों का अर्थ जब
नोच खसोट लूट पाट
सत्ता के परब्रह्मा
ईश्वर के आसपास
सांस्कृतिक लहंगों में
लफंगों का लास रास
खूब हो कर तालियां
देते हुए गोल मटोल
बिके हुए मुखों के
होंठों का अर्थ जब
सत्ता के लोहे के ठंठे से बच कर
जनता की दिग्विजयी
क्षमता से कतरा कर
सज्जन के पंच प्राण
करते जब अविश्वास
जन बल में अश्रद्धा
स्वयं उन्हें देती है
आत्मविश्वास हानि
सज्जन की आत्मा तब
विधवा बन जाती है।

सत्ता की प्रतिष्ठा में हजार स्तुति स्रोतों के बावजूद बुद्धिजीवी बिरादरी की रचनात्मक चेष्टाएं शब्द और विचार की स्वतंत्र अस्मिता की सुरक्षा में प्रयत्नशील रही हैं।

तरह तरह के अहंकार विश्लेषण
चारित्रिक आख्यान,
जमाने के सूर व आयतें
सुनने को मिलती हैं
पग पग पर चौराहे मिलते हैं
बाहें फैलाये रोज मिलती हैं
सौ राहें
नव नवीन दृश्यावली

लेखक की बात करें तो उसे अपने आसपास सौ सौ विषय रोज मिलते हैं। मुक्तिबोध शायद 'सूर' के इन शब्दों की ओर संकेत कर रहे थे। "हर एक भाषा के लोग जब बातचीत करते हैं तो कहीं ठहर जाते हैं और कहीं नहीं ठहरते। कहीं कम ठहरते हैं और कहीं ज्यादा और इस ठहरने और न ठहरने की बात के सही बयान करने और सही मतलब समझने समझाने में बहुत दखल है।"

मेरा स्व जगमगाता रहता है

एक स्वप्न कथा
एक विजय और एक पराजय
मेरी शुद्ध प्रकृति
मेरा स्व
जगमगाता रहता है
विचित्र उथल पुथल में
मेरी सांझ मेरी रात
सुबह व मेरे दिन
नहाते हैं नहाते ही रहते हैं
अथाह समुंदर के अथाह पानी में
उठते गिरते हुए दिगवकाश जल में
विक्षोभित हिल्लोलित लहरों में
मेरा मन नहाता रहता है
सांवले जल में
फिर में फिसलते से किनारे को
पकड़ कर मैं
मैं कौंध कौंध उठता हूँ
इस कोने उस कोने
चकाचौंध किरणों वे नाचती
सामने बगल में (मुक्तिबोध)

अपने से आग्रह करता हुआ लेखक

भांति बीज की
कष्टों की गहरी गहरी
अंधियाली मिट्टी की
गीली गीली परतों
में डूबो डूबो और गल जाओ
बनो धरा प्रिय पात्र
अंधेरे में गहरायी में झरते
उस तिमिर कठिन मृत्तिका
लोक की ठंडी
सिहरन की लम्बी लम्बी लहरें
तन मन के अस्तित्व लोक में कवि
वह घुले प्राण में,
तुम उसमें मिल जाओ
फिर उठो हरित अंकुर से

धरती की वेदना गहनता
के प्रतिनिधि
तुम बन निकलो यों
जड़ीभूत परतों में से
बन चलो सृजन गम्भीर वृक्ष
कष्टानुभवी सत्यों से तुम
अपना सारा बल पाओ

अपने व्यक्तित्व के लेखकीय हिस्से से आतंकित और काफी हद तक आक्रांत मुक्तिबोध निज केन्द्रित स्वभाव के तनाव और उछाल को खूब पहचानते रहे होंगे। उस रफ्तार को भी जिसके चलते उनकी गर्म शिराएं उन्हें शब्द छवियों की ओर धकेलती थीं जहां कविता का सोता झमझमाता है। उन्हीं के शब्दों में

चाहिए मुझे मेरा पाषाण
चाहिए मुझे मेरा आसंग बबूलपन
कौन हो कहीं की अजीब तुम
बीसवीं सदी की एक
नालायक ट्रेजेडी
जमाने की दुखांत मूर्खता

मुक्तिबोध की प्रतिबद्धता किसी भी विचारधारा की रही हो वह अपनी सजगता में अपने समय को देखने से कतराए नहीं। वह एक ऐसा समय था जब विश्व भर के समाज में नये नये परिवर्तनों के साथ नयी नयी विचार क्रांतियां भी मानवीय परिवारों में उभर रही थीं। नयी अर्थव्यवस्था, नयी बराबरी की सामाजिक, राजनैतिक विचारधाराएं सिर उठा रही थीं। प्रचलित मान्यताओं को परे ठेल सामंतवाद को उखाड़ देने के पीछे पड़ी थीं। बड़े जन समुदाय अपने में आत्मबल समेट कर अपनी शक्ति को सुदृढ़ करने को वचनबद्ध थे। ऐसे कालखंड में भारत के नागरिक नये सत्ता तंत्रों से अनजान नहीं थे।

स्वतंत्रता संग्राम में जूझ रहे बुद्धिजीवियों की तरह भारतीय जनता साम्राज्यवाद, साम्यवाद और तानाशाही तंत्रों को भी नजर में रखे हुए थी और इसी के साथ साथ गांधी के अहिंसावादी दर्शन को भी। जो जनता जनार्दन में गांधी के असहयोग आंदोलन के लिए विश्वास की पुष्टि करता था।

अप्रस्तुत श्रोता और अनुपस्थित पाठक को सम्बोधित करते हुए मुक्तिबोध

ओ अप्रस्तुत श्रोता
और अनुपस्थित पाठक
मैं अंधेर कारखाने के
स्याह धुएं के बहाव में से निकल कर
अंगारे सा
उड़ तिर कर चुपचाप तुम्हारी छत पर
चोरी चोरी आ पहुंचा हूं

पर जलाऊंगा नहीं तुम्हें
में अपनी कविताओं से
हां अंधेर कारखाना यह
जिसकी लाल भड़क बेताब धमन भट्टी में
झोंक खुद ही को रोज
आत्महत्या करता है व्यक्ति
किन्तु वह पुनर्जन्म पा
विकसित करता नया एकदम नया
पेट धड़ सींग पूंछ और पंख
और फिर उड़ता फिरता
चलता फिरता
खूब बोलता फिरता
किन्तु द्वंद्व स्थिति में स्थापित यह
मेरा वजनदार लोहा
लाल लाल
उन भयंकर अग्नि क्रियाओं में
तेज धकेला जाकर
पिघलते हुए दमकते हुए
तेज पुंज गहन अनुभव का छोटा सा दोहा बनता है।

विष्णु के अर्द्धपशु अर्द्धमानव अवतार : नरसिंह और हयग्रीव

सुवीरा जायसवाल

“महाभारत का कहना है कि कर्ण मां की गोद (कोख) से पैदा नहीं हुआ था। इसका मतलब है कि उस समय जेनेटिक साइंस मौजूद था... हम गणेश जी की पूजा किया करते हैं। कोई तो प्लास्टिक सर्जन होगा उस जमाने में जिसने मनुष्य के शरीर पर हाथी का सर रख कर प्लास्टिक सर्जरी का प्रारम्भ किया होगा।” भारत के प्रधानमंत्री श्री नरेन्द्र मोदी ने प्रतिष्ठित डाक्टरों, वैज्ञानिकों और गण्यमान व्यक्तियों को सम्बोधित करते हुए रिलायंस फाउंडेशन हास्पिटल एवं रिसर्च सेण्टर के उद्घाटन के समय पूरी संजीदगी से ये उद्गार व्यक्त किये थे। हालांकि मोदी जी हिन्दू धर्म में, देवी देवताओं में पूरी आस्था रखते हैं, सभी बाधाओं को हरने वाले विघ्नेश्वर गणेश जी की पूजा भी करते हैं, जो शिव और पार्वती जैसे सक्षम, सर्वशक्तिमान देवी विभूतियों के पुत्र हैं, उनका शिरोच्छेद होने से पार्वती जी बहुत कुपित हो गयी थीं तब शिव ने स्वयं गणेश के धड़ पर एक हाथी का सिर लगा कर उन्हें पुनर्जीवित कर दिया था, ऐसा पुराणों में कहा गया है, तब किसी मनुष्य की, एक प्लास्टिक सर्जन के निपुण हस्तक्षेप की, क्या आवश्यकता आन पड़ी? और वह भी ऐसी निपुणता कि मानव धड़ पर एक भारी भरकम हाथी का सिर? हाथी के सिर वाले गणेश जी विद्या और प्रज्ञा के अधिष्ठाता माने जाते हैं। महाभारत के आदिपर्व के अनुसार उन्होंने महर्षि व्यास द्वारा एक सहस्र श्लोकों में रचित महाभारत को लिपिबद्ध करने का महान कार्य किया।

जो भी हो, गणेश केवल एक अकेले ऐसे देवता नहीं हैं जिनका सिर एक जानवर का और बाकी शरीर मनुष्य का है। भगवान विष्णु के दो प्रमुख अवतार नरसिंह और हयग्रीव भी इसी श्रेणी में आते हैं, एक सिंह सिर वाले हैं तो दूसरे घोड़े का सिर धारण कर प्रकट हुए थे। अभी तक उनके बारे में किसी प्लास्टिक सर्जन के चमत्कार की घोषणा नहीं की गयी है। विष्णु के इन स्वरूपों की युक्तिसंगत, बुद्धिगम्य व्याख्या करने में यदि सुप्रतिष्ठित इतिहास लिखने की कार्यपद्धति का प्रयोग

किया जाये तो अनुचित न होगा। पहले हम विष्णु के नरसिंह अवतार का विवेचन करेंगे।

यद्यपि महाभारत में इन दोनों अवतारों का उल्लेख हुआ है, तथापि इनके क्रियाकलापों का पूरा विवरण बाद के पुराणों में ही मिलता है। भारतरत्न महामोपाध्याय पांडुरंग काणे का मत² है कि उपलब्ध पुराणों में से कोई भी तीसरी अथवा चौथी शताब्दी में पूर्व की रचना नहीं है। उनमें वर्णित कथाओं के बारे में वे लिखते हैं कि उस काल में अधिकतर भारतीयों का जीवन बड़ा नीरस और संजीदा हुआ करता था। आम आदमी की अद्भुत, विस्मयोत्पादक चमत्कारों की बुभुक्षा को संतुष्ट करने के लिए कुछ भी नहीं था। अतः लोगों का मनोरंजन करने के लिए अनेक पौराणिक कथाएं गढ़ी गयी थीं, उसी प्रकार जैसे कि पश्चिमी देशों में लाखों लोग आजकल जासूसी कहानियां और उपन्यास पढ़ते हैं। कुछ पौराणिक गाथाएं धार्मिक, दार्शनिक अथवा नैतिक मूल्यों पर जोर देने के लिए भी लिखी गयी हैं, परंतु उन्हें आधिदैविक जामा पहना दिया गया है ताकि वे अधिक आकर्षक और प्रभावशाली बन सकें।

यह सही है कि पौराणिक कथाएं हूबहू ऐतिहासिक यथार्थ का वृत्तांत नहीं होतीं, पर उनके क्रमविकास का उपलब्ध स्रोतों के आधार पर अध्ययन उनमें निहित धर्म, संस्कृति और समाज सम्बंधी तथ्य अवश्य उजागर कर सकता है और सांस्कृतिक इतिहास की पुनर्रचना के लिए ऐतिहासिक प्रक्रियाओं में महत्वपूर्ण अंतर्दृष्टि प्रदान कर सकता है। नरसिंह का उल्लेख सर्वप्रथम महाभारत³ के वनपर्व और शांतिपर्व में हुआ है जहां वे विष्णु के प्रादुर्भाव कहे गये हैं परंतु उनके बारे में कुछ विशेष नहीं बताया गया है। उनके कर्तृत्व का विवरण हरिवंश⁴, मत्स्य⁵ और पद्य⁶ पुराणों में दिया गया है और इन सभी विवरणों में भाषा और अंतर्वस्तु की इतनी समानता है कि ये निश्चित रूप से एक ही स्रोत से लिए गये हैं। हरिवंश के संशोधित संस्करण के सम्पादक श्री पी.एल. वैद्य का मत है कि हरिवंश के जन संस्करण में पाया जाने वाला बाराह, नरसिंह और वामन प्रादुर्भावों का विवरण मूल हरिवंश में 1050 ईसवी के बाद ही जोड़ा गया है; इसलिए उन्होंने पूरे अवतरण को प्रथम परिशिष्ट में रख दिया है। पुराणों का भी काल निर्णय कठिन काम है। परंतु इतना तो निश्चय है कि भागवत पुराण में पाया जाने वाला वृत्तांत सबसे बाद का है। पी.एल. वैद्य भी हरिवंश के वृत्तांत को भागवत पुराण से कहीं अधिक प्राचीन मानते हैं।

जो भी हो, हरिवंश के अनुसार दैत्यों के राजा हिरण्यकशिपु ने ग्यारह हजार पांच सौ वर्षों तक कठिन तपस्या कर ब्रह्मा को प्रसन्न कर लिया और उनसे यह वर मांग लिया कि उसे कोई देव, असुर, यक्ष, मनुष्य या पिशाच नहीं मार सकेगा, उसे किसी अस्त्र शस्त्र से नहीं मारा जा सकेगा। वह आकाश, पाताल या भूमि पर नहीं मारा जा सकेगा और वह न दिन में न रात में मरेगा। ब्रह्मा से ऐसा वरदान पा वह दर्प से अपने आपको अपराजेय समझने लगा और सभी देवताओं को उत्पीड़ित करने लगा। देवगण हार कर देवों के देव, परमदेव विष्णु की शरण में गये। विष्णु ने उन्हें अभय दिया और आधा मनुष्य और आधा सिंह का रूप धारण कर मानवीकृत ओंकार को अपना सहायक बना दैत्य राजसभा में पहुंच गये। वहां हिरण्यकशिपु बलि, वैरोचन, नरक, प्रह्लाद, विप्रचित्ति आदि महान असुरों के साथ सहस्रों अप्सराओं से घिरा दिव्य आसन पर विराजमान था। अन्य दैत्यों के साथ बैठे हुए प्रह्लाद ने जब नरसिंह को सभा में प्रवेश करते हुए देखा तो वे अपनी दिव्यदृष्टि से पहचान गये कि ये विष्णु ही हैं और दैत्यों का विनाश करने आये हैं। उन्होंने अपने पिता हिरण्यकशिपु को समझाने का प्रयत्न किया परंतु हिरण्यकशिपु ने सभी दानवों को नरसिंह को बंदी बना लेने अथवा मार डालने का आदेश दिया। भयानक युद्ध के बाद नरसिंह ने ओंकार की सहायता से हिरण्यकशिपु को अपने नखों से विदीर्ण कर डाला। उसके वध पर ब्रह्मा सहित सभी देवों ने नरसिंह का गुणगान किया। तदनंतर विष्णु ने

अपने नरसिंह रूप को क्षीराब्धि सागर के उत्तरी तट पर स्थापित कर दिया और स्वयं अपने निजस्वरूप में वापस लौट गये।

ध्यान देने योग्य है कि इस विवरण में नरसिंह द्वारा किसी स्तम्भ को तोड़ कर बाहर निकलने की बात नहीं कही गयी है। वे सबके सामने दैत्य राज्यसभा में खुले द्वार से प्रवेश करते हैं और प्रह्लाद यद्यपि उन्हें पहचान लेते हैं पर इस बात का कोई संकेत नहीं है कि वे विष्णुभक्त होने के कारण पिता द्वारा प्रताड़ित किये जा रहे थे और उन्हें बचाने के लिए विष्णु ने नरसिंह अवतार लिया था। कूर्मपुराण⁷ के अनुसार तो पिता के आदेश पर पहले प्रह्लाद विष्णु से युद्ध करते हैं पर पराजित होने पर वे जान जाते हैं कि ये सार्वभौम अनंत वासुदेव (विष्णु) ही हैं और उनका स्तुतिगान करने लगते हैं।

कूर्मपुराण में पाया जाने वाला वृत्तांत हरिवंश से कई बातों में भिन्न है। इसके अनुसार विष्णु ने एक 'पुरुष' का सृजन कर उसे हिरण्यकशिपु को मार डालने के लिए भेजा। पर प्रह्लाद और हिरण्यकशिपु उससे जम कर लड़े और उसे हरा दिया। हारने पर पुरुष विष्णु के पास वापस चला गया। तब विष्णु ने नरसिंह रूप धारण किया और अचानक दैत्यनगरी में प्रकट हो गये। हिरण्यकशिपु अपने भाई हिरण्याक्ष तथा अन्य दैत्यों के साथ नरसिंह से घोर युद्ध करता है और मारा जाता है तथा प्रह्लाद को छोड़ उसके अन्य पुत्र अनुह्लाद आदि और अन्य दैत्य नरसिंह के शरीर से प्रकट हुए अन्य सिंहों द्वारा ग्रस लिये जाते हैं। इस संदर्भ में हिरण्याक्ष का उल्लेख इस बात की और इंगित करता है कि सम्भवतः कूर्मपुराण का विवरण सबसे पुराना है क्योंकि हिरण्याक्ष तो वाराह रूप में विष्णु द्वारा मारा गया था और पौराणिक अनुक्रम के अनुसार वाराह अवतार, नरसिंह अवतार से पहले ही लिया जा चुका था। अतः अवतारों के अनुक्रम की सर्वमान्य स्थापना के पूर्व ही कूर्मपुराण में पाया जाने वाला वृत्तांत रचा गया होगा।

प्रह्लाद का जन्म से ही विष्णु के अनन्य भक्त के रूप में चित्रण और उन्हें अपने पिता के प्रकोप से बचाने के लिए विष्णु का नरसिंह रूप धारण कर दैत्य राजसभा के एक स्तम्भ को विदीर्ण कर प्रकट होने का आख्यान सर्वप्रथम भागवत पुराण⁸ में मिलता है। यह पुराण दक्षिण भारत में आलवार संतों द्वारा मुखरित भक्ति आंदोलन की पृष्ठभूमि में रचा गया था।⁹ और यह प्रह्लाद की कथा को भक्त और भगवान के चरम सम्बंध के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करता है। यह कथा बहुत लोकप्रिय हुई और इसने वैष्णव मूर्तिशास्त्र में नरसिंह के एक नये रूप को जन्म दिया।

गोपीनाथ राव¹⁰ ने शिल्पशास्त्र सम्बंधी ग्रंथों का अध्ययन कर नरसिंहावतार की मूर्तियों के दो भेद बताये हैं। पहला गिरिज नरसिंह और दूसरा स्थूणा नरसिंह। पहले प्रकार की कल्पना नरसिंह के एक पहाड़ी गुफा से बाहर निकलने पर आधारित है और दूसरे में एक स्तम्भ से। सम्भवतः नरसिंहावतार के मूल में किसी जनजातीय सिंह देवता की आराधना थी जिसके वैष्णवीकरण की प्रक्रिया में नरसिंहावतार के पौराणिक मिथकों ने जन्म लिया। ध्यान देने योग्य है कि पुराणों के अनुसार नरसिंह और हिरण्यकशिपु के युद्ध के समय नरसिंह के शरीर से अनेक सिंह प्रकट हुए थे और उन्होंने दानव सेना का सफाया कर दिया था। इस बात की पुष्टि आंध्र प्रदेश के गुंटूर जिले के पिदुगुरल्ला गांव की सीमा पर स्थित कोण्डमोटु नामक स्थल से पाये गये एक फलक से भी होती है जिसमें नरसिंह को पूरी तरह पशु रूप में ही चित्रित किया गया है।¹¹ इस फलक पर छह देवताओं की आकृतियां खुदी हुई हैं जिनकी क्रमशः पद्मन्, विष्णु, नरसिंह, कृष्ण, संकर्षण और अनिरुद्ध के रूप में पहचान की गयी है और ऐसा माना गया है कि एक सातवीं आकृति साम्ब की भी थी जो अब नष्ट हो चुकी है। शैली के आधार पर इसे तीसरी अथवा चौथी शताब्दी के पूर्वार्द्ध में रखा गया है। उद्भूत फलक पर विष्णु और पंचवीरों के साथ सिंह देवता का अंकन इस बात का द्योतक है कि वे उभरते हुए

भागवत/वैष्णव धर्म में सम्मिलित कर लिये गये थे। यहां उनका चित्रण अर्द्धमानव और अर्द्धसिंह रूप में न होकर उकडू बैठे हुए सिंह के रूप में हुआ है और उनके देवत्व की पहचान गर्दन के पास से निकले दो हाथों से होती है जिनमें से एक में गदा है और दूसरे में चक्र। वक्षस्थल पर श्रीवत्स का चिह्न भी है। सिंह देवता के वैष्णवीकरण की यह प्रारम्भिक अवस्था है। गुप्तयुगीन मूर्तियों में उनका अर्द्धसिंह अर्द्धमानव रूप पूर्णतया स्थापित पाया जाता है जिसका महाभारत में आये प्रसंगों से समर्थन होता है।

पर ये सिंह देवता कौन थे? नरसिंह के पूजास्थल सबसे अधिक उड़ीसा और तेलंगाना सहित आंध्रप्रदेश में पाये जाते हैं। 1961 के सेन्सस आफ इंडिया के अनुसार केवल आंध्रप्रदेश में ही एक सौ उनहत्तर नरसिंह मंदिर हैं।¹² इनमें से अधिकतर में मुख्य देवता की मूर्ति पशु अथवा किसी गैरमानवीय प्रतीक (aniconic) के रूप में है और एक अनुमान के अनुसार लगभग सत्तर प्रतिशत नरसिंह मूर्तियां इसी प्रकार की हैं।¹³ इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि ये इस प्रदेश में रहने वाली जनजातियों के पूजास्थल रहे होंगे जिनका कालांतर में वैष्णवीकरण हो गया। प्राक् जनजातियों के देवता अक्सर पशुरूप में हुआ करते थे और वे उनकी मूर्तियां न गढ़ उन्हें किसी पत्थर या खम्भे में अथवा पहाड़ी पर स्थित माना करती थीं। ऐशमैन ने अपने एक महत्वपूर्ण लेख¹⁴ में दिखलाया है कि ऐसे पूजा प्रतीकों में मानवीय लक्षणों का आरोपण (आंखें या हाथों का आरोपण) धीरे धीरे उनके वैष्णव, शैव अथवा शाक्त धाराओं में सम्मिलित होने पर हुआ और बाद में उनकी प्रतिमाएं पौराणिक मिथकों के अनुसार बनने लगीं और नये मंदिर भी स्थापित हुए।

नरसिंह आंध्रप्रदेश की जनजातियों में भी बहुत लोकप्रिय हैं और उनके बारे में अनेक गाथाएं¹⁵ प्रचलित हैं जो इस देवता को कुछ जनजातियों के बहुत करीब दर्शाती हैं। पूर्वीघाट की नल्लमल्ल पहाड़ियों में रहने वाली संग्रहक आखेटक चेंचु जनजाति नरसिंह की केवल पूजा ही नहीं करती, उन्हें अपना निकट का सम्बंधी, बहनोई मानती है। उनमें प्रचलित धार्मिक गाथाओं के अनुसार नरसिंह ने चेंचु राजा की पुत्री से विवाह कर लिया था। इस कहानी के कई पाठ हैं। उनमें से एक के अनुसार चेंचुओं के सरदार की पुत्री एक बार जंगल में शिकार के लिए विचरण कर रही थी। उसने एक शेर देखा। वह शिकार करने में पूरी दक्ष थी और उसने निर्भयता से निशाना साध कर शेर पर तीर चला दिया। तीर लगते ही सिंह मनुष्य रूप में बदल गया। दोनों एक दूसरे पर मुग्ध हो गये और नरसिंह ने चेंचु राजा से पुत्री का हाथ मांगा। सरदार ने पहले कुछ शर्तें रखीं, परंतु अंत में ऋषियों के समझाने पर कि यह कोई साधारण मनुष्य नहीं सारे संसार के स्वामी नरसिंह हैं, उसने अपनी पुत्री का विवाह नरसिंह से कर दिया। विवाह के बाद चेंचु राजकुमारी चेंचुलक्ष्मी के रूप में पूजित होने लगी, इस कथा का पौराणिक पाठ अहोविलमूहात्म्यमु में पाया जाता है। अहोविलमू अपने नरसिंह मंदिर के लिए प्रसिद्ध है। वहां पूजा पौराणिक विधि से ब्राह्मण पुजारियों द्वारा होती है किन्तु कुछ खास अवसरों पर कुछ धार्मिक कृत्य चेंचु जन द्वारा ही किये जाते हैं।

केवल चेंचु ही नहीं, कुछ अन्य जनजातियां भी अहोविलमू से सम्बंधित हैं। तेलंगाना और रायलसीमा के पठारों में रहने वाले गोल्ल पशुचारक विशेष रूप से नरसिंह के भक्त हैं और अहोविलमू के नरसिंह को पेद्द वोबुलेसुदु (Pedda Vobulesudu) नाम से पूजते हैं। उनके धर्मगुरु उन्हीं की जाति के दासरी होते हैं जो बचपन में पारिवारिक बंधनों से मुक्त हो नरसिंह देवता को समर्पित हो जाते हैं और एक स्थान से दूसरे स्थान विचरण करते हुए अपने समाज में प्रचलित नरसिंह देवता सम्बंधी आख्यानों का गायन करते हैं। ये आख्यान गोल्ल जीवनशैली के ही अनुरूप होते हैं। मसलन जहां चेंचु गाथाओं में नरसिंह एक आखेट में दक्ष चेंचु बालिका से विवाह कर उनके सम्बंधी बन जाते

हैं, वहीं गोल्ल गाथाओं में नरसिंह की कथा सात भाइयों की कथा बन जाती है जिनमें पेद्द वोबुलेसुदु सबसे बड़े हैं। उन्हें 'विष्णुमूर्ति' का अवतार माना जाता है। गोल्ल गाथाओं में ब्राह्मणधर्मी पौराणिक मिथकों और गोल्ल समाज में प्रचलित आख्यानों का अदभुत सम्मिश्रण है। ऐसे समन्वय को प्रोफसर मूर्ति वैष्णवधर्म के जनजातीयकरण (tribalization) की संज्ञा देते हैं। वस्तुतः धार्मिक मिथकों और आस्थाओं का आदान प्रदान एकपक्षीय न था। समन्वय के उपरांत भी विभिन्न जनसमूहों में प्रचलित लोककथाएं उनके मूलरूप और जीवनशैली का आभास अपने में समाये रहती हैं। उदाहरण के लिए, इन जनश्रुतियों के अनुसार वोबुलेसुदु (विष्णुमूर्ति नरसिंह) के भाई मुददुलेतिस्वामी, जिन्हें कम्बक नरसिंह (कम्बक = स्तम्भक) भी कहा गया है, भेड़ें चुराने में सिद्धहस्त हैं और जिस झुंड से भी वे भेड़ चुरा लेते हैं उस झुंड के भेड़ों की संख्या दोगुनी हो जाती है। ऐसा विश्वास है कि यदि उन्हें दोपहर तक मांस का नैवेद्य न चढ़ाया गया तो वे अत्यंत क्रोधित हो जाते हैं। मूर्ति का कहना है कि स्थानीय जनश्रुति के अनुसार सिंहाचलम् के प्रसिद्ध नरसिंह मंदिर में भी कुछ दशकों पूर्व तक देवता को मांस का नैवेद्य चढ़ाया जाता था। गोल्ल दासरियों को वैष्णव धर्म में दीक्षा सिंहाचलम् मंदिर के पुजारी ही दिया करते हैं।

सिंहाचलम् का विख्यात वाराह नरसिंह मंदिर भी किसी आदिम जनजाति के पूजास्थल का कालांतर में वैष्णवधर्म में आत्मसात हो जाने का उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत करता है। लगता है कि यहां यह प्रक्रिया सीधे वैष्णवधर्म में न होकर बौद्ध और शैव मतों से गुजरती हुई सम्पन्न हुई।

सिंहाचलम् का मंदिर विशाखापट्टम् के उत्तर में दस मील की दूरी पर समुद्र स्तर से आठ सौ फीट की ऊंचाई पर एक पहाड़ी पर स्थित है जिसे कैलाश पर्वत के नाम से जाना जाता है। इस पहाड़ी पर अनेक झरने हैं और उनमें से मुख्य झरने का नाम गंगाधर है। मंदिर के बगीचे में तरह तरह के फलफूल और अनन्मास के पेड़ हैं जिनकी सिंचाई इसी झरने से होती है। मंदिर के मुख्य विग्रह का वृत्त बड़ा ही रोचक है। वैशाख महीने की अक्षय तृतीया को छोड़ कर पूरे वर्ष मुख्य विग्रह के दर्शन गर्भगृह के मध्य में बनी पादपीठ पर योनि में स्थित शिवलिंग के रूप में किये जा सकते हैं। केवल अक्षय तृतीया के दिन वे अपने निजस्वरूप में आ जाते हैं। उनका निजस्वरूप नरसिंह अथवा वराह नरसिंह का माना गया है किन्तु इस रूप में उनकी पूजा नहीं होती, कोई चढ़ावा नहीं चढ़ता, भेंट पूजा तभी शुरू होती है जब वे लिंग रूप पुनः धारण कर लेते हैं। इसके लिए मूर्ति पर कुल बारह मन चंदन का लेप चढ़ाया जाता है ताकि उन्हें फिर से एक बड़े चंदन से बने हुए लिंग का रूप दिया जा सके। चंदन के लेप को रेशमी कपड़े पर थोप कर मूर्ति पर लगा दिया जाता है। हर अक्षय तृतीया के दिन प्रभात मुहूर्त में चंदन का लेप उतार दिया जाता है और संध्या होते होते बारह मन चंदन लेप में से चार मन का लेप अक्षय तृतीया को लगाया जाता है और बाकी बराबर बराबर तीन भागों में क्रमशः वैशाख की शुक्ल पक्ष की चतुर्दशी, ज्येष्ठ की पूर्णिमा और आषाढ़ की पूर्णिमा को लगाया जाता है। अक्षय तृतीया के दिन चंदनयात्रा पर्व बड़े धूमधाम से मनाया जाता है और भक्तजन निज स्वरूप का दर्शन करते हैं किन्तु जब तक प्रतिमा को लिंग का रूप नहीं दे दिया जाता उनकी आखिक पूजा भी नहीं होती।¹⁶

स्थानीय जनश्रुति के अनुसार सिंहाचलम् पहले शैव मंदिर था, किन्तु रामनुजाचार्य ने शैव पुरोहितों को शास्त्रार्थ में हरा कर उन्हें वैष्णवधर्मानुयायी बना दिया और शिल्पकारों को शिवलिंग को वराह नरसिंह मूर्ति में परिवर्तित कर देने का आदेश दिया। परंतु जब ऐसा किया जाने लगा तो मूर्ति से रक्तप्रवाह होने लगा। घबड़ा कर प्रधान पुरोहित ने चंदन का लेप लगाना शुरू कर दिया और अंत में उसे पुनः लिंग का आकार दे दिया। तबसे विग्रह सारे साल शिवलिंग के रूप में रहता है केवल

अक्षय तृतीया के दिन निजस्वरूप में देखा जा सकता है जब पुराना लेप हटा कर नये सिरे से चंदन लगाया जाता है। इस जनश्रुति की ऐतिहासिकता संदिग्ध है और अभिलेखीय साक्ष्यों के आधार पर डा. सुंदरम का मत है कि ग्यारहवीं शताब्दी से पूर्व ही सिंहाचलम् वैष्णव धर्म का केन्द्र बन चुका था। फिर भी यह तो मानना ही होगा कि एक समय सिंहाचलम में शैव मत का वर्चस्व था। आज भी मुख्य देवता की पूजा शिवलिंग रूप धारण कर लेने पर ही होती है। यह परम्परा की गहरी जड़ों का प्रमाण है। इसके अतिरिक्त मंदिर जिस पहाड़ी पर स्थित है उसे कैलाश कहा जाता है और सबसे बड़े जलप्रपात का नाम गंगाधर है। पहाड़ी की तलहटी में दो द्वार हैं जो भैरवद्वार और माधवद्वार नामों से जाने जाते हैं। मंदिर में कामदहन उत्सव भी मनाया जाता है जो शिवमंदिर में तो उचित है पर वैष्णव मंदिर में निषिद्ध होना चाहिए क्योंकि विष्णु प्रद्युम्न के रूप में कामदेव से अभिन्न माने जाते हैं, उनके जलने पर कैसा उत्सव! अंत में यह भी ध्यान योग्य है कि सिंहाचलम मंदिर में देवता को विभूति आदि सभी वे चीजें चढ़ाई जाती हैं जो शिव देवता के लिए तो उपयुक्त है किन्तु विष्णु के लिए नहीं।

इस सम्बंध में विष्णुधर्मोत्तर पुराण के अंतिम दो अध्याय जिनमें लिंग स्फोट नरसिंह दर्शनम् की कथा कही गयी है, प्रासंगिक लगती है। बताया गया है कि एक बार एक विश्वक्सेन नामक ब्राह्मण घूमतेघामते ऐसी पहाड़ी पर आ गया जहां के सभी निवासी शिवभक्त थे। विश्वक्सेन स्वयं विष्णु भगवान का एकांतिक भक्त था और सदैव पंचरात्र पद्धति से उनकी पूजा किया करता था। पहाड़ी पर भी उसने पारा के झरने में स्नान किया और केशव की पूजा करने लगा। अचानक वहां के ग्रामस्वामी का पुत्र अपने कतिपय खड्ग और धनुर्धारी अनुचरों के साथ आ धमका और उसने विश्वक्सेन को जनार्दन की पूजा करते देख लिया। उसने ब्राह्मण से कहा “मेरे सर में अत्यधिक दर्द हो रहा है। अतः मैं स्वयं स्नान कर मंदिर में पूजा करने में असमर्थ हूं। आप मेरी ओर से मंदिर में शिवलिंग की पूजा कर दें।” ब्राह्मण ने कहा कि वह विष्णु और उनके अवतारों के अतिरिक्त किसी अन्य की पूजा नहीं कर सकता। तब वह ग्रामस्वामी कुमार तुरंत अपनी तलवार खींच कर विश्वक्सेन का वध करने पर उद्यत हो गया। यह देख ब्राह्मण मंदिर के अंदर चला गया और उसने मन ही मन कहा कि विष्णु सर्वव्यापक हैं। महादेव भी विष्णु के क्रोधी रूप से ही अनुप्राणित हैं वही क्रोध नरसिंह में भी आत्मीभूत हुआ है। अतः मैं इस लिंग में विष्णु के नरसिंह रूप को नमन करता हूं। यह सुनते ही कुमार ने ब्राह्मण को मारने के लिए अपना खड्ग तान लिया। उसी समय लिंग को तोड़ते हुए भगवान नरसिंह प्रकट हो गये। उन्होंने ग्रामस्वामी के पुत्र और उसके अनुचरों को अपने नेत्रों की ज्वाला से भस्म कर दिया और सात्वतों (भागवत/वैष्णव भक्तों) के प्रमुख, ब्राह्मण को आशीर्वाद स्वरूप दिव्यदृष्टि प्रदान कर दी।

यद्यपि इस अवतरण में पहाड़ी के नाम का उल्लेख नहीं है पर मेरे विचार से यह सिंहाचलम में हुए शिवलिंग के नरसिंह की मूर्ति में अंतरण का ही मिथकीय वर्णन है। इसे शिव के लिंगोद्भव रूप का विवरण नहीं माना जाना चाहिए।¹⁷ यद्यपि शिव की लिंगोद्भव मूर्तियां मध्यभारत में कई स्थानों पर अंकित हुई हैं और उन्हें पूर्ण मध्ययुग का माना गया है पर उनमें शिव को अपने गैरमानवीय प्रतीक (aniconic form) से मानव रूप में उद्भूत होने का चित्रण होता है। शिव लिंग रूप में ही पूजे जाते रहे हैं, उनका मनुष्य रूप में चित्रण बहुत बाद में शुरू हुआ है। परंतु विष्णुधर्मोत्तर पुराण में शिवलिंग से शिव नहीं, नरसिंह लिंग को फाड़ कर निकलते हैं। वे स्वाभाविक रूप से उद्भूत नहीं होते और निकलते ही शैव भक्तों का नाश कर डालते हैं। स्पष्टतः यहां शैव और वैष्णव मतों के बीच एक विशिष्ट पूजास्थल पर अपने प्रभुत्व के संघर्ष का प्रसंग है जिसमें विजय वैष्णव धर्मानुयायियों की होती है। सिंहाचलम् का शैव अतीत पूरी तरह लुप्त नहीं हुआ परंतु अब वह वैष्णवों का एक महान तीर्थ

है। ध्यातव्य है कि नरसिंहावतार के प्रतिकार स्वरूप शैव मत में शिव के शरमेश अथवा सिंहधन मूर्ति की अवधारणा उपजी।

कतिपय विद्वानों का मत है कि संकरम (संगारामम्) और रामतीर्थम् के देवालियों की भांति एक समय सिंहाचलम् भी बौद्धों का पवित्र स्थान था। संकरम सिंहाचलम् के दक्षिण में तीस मील की दूरी पर और रामतीर्थम् उत्तर में चालीस मील की दूरी पर स्थित है। एक समय यह पूरा प्रदेश बौद्धधर्म के प्रभाव में था। परंतु सिंहाचलम् में बौद्ध अवशेषों के कोई ठोस प्रमाण नहीं मिले हैं। यह बात अवश्य है कि मध्य भारत के दक्षिण कोसल से लेकर उड़ीसा और पूर्वी दकन के क्षेत्र में रहने वाली पहाड़ी जनजातियां अपने देवी देवताओं को पहाड़ियों के किसी गट्ठर या शिलाखंड में अवस्थित मानती थीं और लकड़ी के स्तम्भों के रूप में भी उनकी पूजा करती थीं। इस तरह की एक देवी स्तम्भेश्वरी (उड़िया भाषा में खम्भेश्वरी) की पूजा आज भी पश्चिमी और मध्य उड़ीसा में बहुप्रचलित है। शुल्की और मंज राजवंश के अभिलेखों से पता चलता है कि वे इन राजवंशों की इष्टदेवी और संरक्षिका थीं। एक आदिम जनजातीय देवी के ब्राह्मणधर्मी मुख्यधारा में आत्मसात हो जाने का यह विशिष्ट उदाहरण है। स्तम्भ पूजा के कुछ शेष चिह्न सिंहाचलम् में भी मौजूद हैं। सिंहाचलम् मंदिर के मुखमंडप का एक स्तम्भ 'कप्पस् स्तम्भ' कहा जाता है और स्थानीय लोगों का विश्वास है कि इस स्तम्भ की पूजा करने से संतानहीन स्त्रियों को संतान की प्राप्ति होती है और बीमार पशु पुनः स्वस्थ हो जाते हैं। हो सकता है कि नरसिंहावतार के एक स्तम्भ को फाड़ कर प्रकट होने का वृत्त किसी जनजातीय पावन स्तम्भ पूजा का नरसिंह के माध्यम से वैष्णव धर्म में अधिक्रमित होने का मिथकीय लेखा हो। जो भी हो, जनजातीय पूजास्थलों के मुख्यधारा में संविलयन में और साम्प्रदायिक संघर्षों में नरसिंहावतार की अवधारणा की विशेष भूमिका रही है।

विष्णु के एक दूसरे अर्द्धपशु अर्द्धमानव अवतार हयग्रीव का भी ऐतिहासिक दृष्टि से विश्लेषण कम रोचक नहीं है। महाभारत के शांतिपर्व¹⁸ में कहा गया है मधु और कैटभ नाम के दो दैत्यों ने ब्रह्मा से वेदों को चुरा कर समुद्र के तल में छुपा दिया। विष्णु ने हयग्रीव रूप धारण कर दैत्यों को मार डाला और चारों वेदों को ब्रह्मा को पुनः सौंप दिया। तत्पश्चात् उन्होंने अपने हयशिर को पूर्वी समुद्र में फेंक दिया और निज स्वरूप में वापस आ गये। परंतु इसी पर्व में यह भी कहा गया है¹⁹ कि विष्णु उत्तर पश्चिमी समुद्र में अपने हयशीर्ष रूप में स्थित होकर अपने भक्तजनों की यज्ञाहुति ग्रहण करते हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार विष्णु का हयग्रीव रूप अपने बीज रूप में उन वैदिक मिथों में दूढ़ जा सकता है जिनमें अश्विनीकुमारों द्वारा ऋषि दध्यंच अथवा मूर्तिमान यज्ञ के शिर कट जाने पर उन्हें पुनः घोड़े का शिर प्रदान कर जीवित करने की बात कही गयी है।²⁰ महाभारत में कई स्थलों पर विष्णु को साक्षात् यज्ञ और हयशिर भी कहा गया है। विष्णु धर्मोत्तर पुराण के अनुसार हयग्रीव की अष्टभुजी मूर्ति के चार दायें हाथों में शंख, चक्र, गदा और पद्म और चार बायें हाथ चार मूर्तमान वेदों के शिर पर रखे हुए दिखाये जाने चाहिए।

परंतु विष्णु हयग्रीव के अतिरिक्त महाभारत और पुराणों में एक दैत्य हयग्रीव का भी उल्लेख है। आदिपर्व²¹ में हयशिर दानव ऋषि कश्यप और उनकी पत्नी दनु का पुत्र कहा गया है। उद्योगपर्व में हयग्रीव के विष्णु द्वारा मारे जाने का भी उल्लेख है परंतु यह स्पष्ट नहीं किया गया है कि ऐसा उन्होंने हयशीर्ष रूप धारण करके किया था। नरसिंह पुराण में दैत्य हयग्रीव का प्राग्ज्योतिषपुर के नरकासुर आदि अन्य दैत्यों के साथ कृष्ण के द्वारा मारे जाने का उल्लेख है। इस पुराण में कृष्ण को नरसिंह (विष्णु) की कृष्णशक्ति का अवतार कहा गया है और बलभद्र को उनकी सितशक्ति का। परंतु

दैत्य हयग्रीव को मारने के लिए विष्णु हयग्रीव के रूप में ही अवतरित हुए इसका पूरा विवरण कालिका पुराण में दिया गया है जिसकी रचना पूर्वी भारत में सम्भवतः नवीं शताब्दी के आसपास हुई थी। यहां हयग्रीव दैत्य को ज्वरासुर कहा गया है और बताया गया है कि दैत्य को मारने के उपरांत विष्णु हयग्रीव ने गंधमादन पहाड़ी और लौहित्य नदी के बीच में स्थित मणिकूट पर्वत को अपना निवास स्थान बनाया।²¹ गंधमादन पहाड़ी अब गंधमऊ नाम से जानी जाती है और गौहाटी के पंद्रह मील उत्तर पश्चिम में मणिकूट और गंधमऊ पहाड़ियों के बीच स्थित हाजो नामक गांव में पहाड़ी पर विष्णु हयग्रीव का एक प्रसिद्ध मंदिर है जहां आज भी नित्य पूजा अर्चना होती है। अठारहवीं शताब्दी के असमी कवि श्रीरामचंद्रदास ने इस पूजास्थली का विशेष उल्लेख किया है और यह कथा वर्णित की है कि एक हयासुर नामक दैत्य मणिकूट पहाड़ी पर रहा करता था। वह ज्वरासुर था। विश्व के कल्याण के लिए जब विष्णु उसका वध करने को उद्यत हुए तो असुर ने प्रार्थना की कि उसके वध के पश्चात विष्णु उसका रूप धारण कर मणिकूट पहाड़ी को अपना स्थायी निवास स्थान बनायें। विष्णु ने दैत्य की प्रार्थना स्वीकार कर ली, और उस स्थान पर विष्णु हयग्रीव मंदिर में ज्वर देवता के रूप में भी पूजे जाते हैं।²² मंदिर की मुख्य मूर्ति का वास्तविक स्वरूप कैसा है, इसका सही अनुमान लगाना अब कठिन है क्योंकि उभरी हुई आंखों के सिवा सारी मूर्ति कपड़ों और फूलों से ढंकी रहती है पर ई.टी. डाल्टन²³ ने उस प्रदेश का सर्वेक्षण कर यह अनुमान लगाया था यह कोई भग्न बुद्ध मूर्ति है। सम्भवतः इस अनुमान का आधार यह है कि इस क्षेत्र में बौद्धधर्म के अनेक अवशेष चिह्न अभी भी वर्तमान हैं। पहाड़ी का मणिकूट नाम भी बौद्धधर्म का प्रभाव दर्शाता है। यद्यपि मंदिर की व्यवस्था, पूजा अर्चना ब्राह्मण पुजारियों के हाथ में है, फिर भी भूटान, तिब्बत, लद्दाख और दक्षिण पश्चिम चीन से सैकड़ों तीर्थयात्री मंदिर में देवता के दर्शन करने आते हैं जिन्हें वे 'महामुनि' नाम से अभिहित करते हैं। उनमें ऐसा विश्वास भी प्रचलित है कि हाजों में भगवान् बुद्ध ने परिनिर्वाण प्राप्त किया था। यह धारणा गलत है क्योंकि अब यह लगभग सर्वमान्य है कि बुद्ध का परिनिर्वाण गोरखपुर के पास कुशीनगर में हुआ था। लेकिन पहाड़ी की एक शिला पर प्राचीन तिब्बती लिपि में बौद्ध गूढ़ मंत्र 'ओं मणि पद्मे हुं, ओं अः हुं' आदि खुदे हुए हैं और बौद्ध लामाओं के अनुसार इसी शिला पर बुद्ध का दाहसंस्कार हुआ था। पर इस शिला में चतुर्भुज विष्णु की मूर्ति का भी अंकन है। मंदिर के भीतर और बाहर आसपास जो भी मूर्तियां और पवित्र स्थल हैं उनको हिन्दू पौराणिक देवी देवताओं से और बौद्ध लामा बौद्ध देवी देवताओं से संदर्भित करते हैं। बौद्धों की मान्यता है कि पहले वहां बुद्ध के भस्मावशेषों पर बना एक चैत्य था जिस पर बाद में हयग्रीव मंदिर बना दिया गया है। ऐसा हो भी सकता है क्योंकि विद्वानों का मत है कि असम में अनेक बुद्ध प्रतिमाएं आज विष्णु की मूर्तियों के रूप में पूजी जा रही हैं।²⁴

जो भी हो, मणिकूट पर्वत पर स्थित देव मंदिर का एक बौद्ध अतीत भी था, ऐसा मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। हयग्रीव केवल विष्णु के अवतार के रूप में ही नहीं बौद्ध मंत्रयान में भी एक शक्तिशाली देवता के रूप में पूजे जाते हैं। वे विद्या के अधिष्ठाता विद्याराज कहे गये हैं और भैषज्य गुरुसूत्र के अनुसार वे व्याधियों को दूर करने वाले हैं। हयग्रीव विद्या के जाप से शत्रुओं का नाश हो जाता है। कुछ विद्वानों का मत है बौद्धधर्म में हयग्रीव विद्याराज की कल्पना वेदों की रक्षा करने वाले विष्णु हयग्रीव से ली गयी है और मंत्रयान में उसे उग्र रूप दे दिया गया। परंतु ज्यादा सम्भावना इस बात की है कि हयग्रीव के मूल में किसी आदिवासी जनजाति के देवता की भावना निहित है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि विष्णु हयग्रीव महाभारत में उत्तर पश्चिम और पूर्व दोनों ही दिशाओं से सम्बद्ध किये गये हैं परंतु दानव हयग्रीव को सर्वदा, प्राग्ज्योतिष (असम) से जोड़ा गया है। दूसरे, पहले मिथकों में विष्णु हयग्रीव मधु कैटभ का संहार कर वेदों का उद्धार करते हैं किन्तु बाद के कालिका

पुराण और योगिनीतंत्र (सोलहवीं शती) में मधु, कैटभ के स्थान पर दैत्य हयग्रीव का उल्लेख है और उसे मणिकूट पहाड़ी पर स्थापित किया गया है। हमारा सुझाव है कि विष्णु हयग्रीव का दानव हयग्रीव ज्वरासुर का वध कर उसके स्थान पर स्वयं उसी रूप में पूजित होने का आख्यान स्थानीय आदिवासी पूजास्थल के वैष्णवीकरण को व्याख्यायित करने के प्रयास में गढ़ा गया है। योगिनीतंत्र के अनुसार प्राचीनकाल में राजा इंद्रद्युम्न को स्वप्न में देवी आदेश मिला कि समुद्र में एक विशाल वृक्ष तैर रहा है। वे उसे निकलवा कर देव प्रतिमाएं बनवायें। राजा ने ऐसा ही किया। उस वृक्ष के दो टुकड़े जगन्नाथपुरी ले जाये गये और उनसे जगन्नाथ और बलभद्र की मूर्तियां बनीं और एक टुकड़ा मणिकूट ले जाया गया जिससे हयग्रीव माधव की मूर्ति गढ़ी गयी। पुरी के जगन्नाथ की पूजा की जनजातीय (विशेष रूप से शबर जनजाति की) पृष्ठभूमि पर बहुत कुछ लिखा जा चुका है। मणिकूट हयग्रीव की कल्पना भी किसी पहाड़ी जनजातीय देवता से उद्भूत लगती है। पी.सी. चौधरी²⁵ का कहना है कि खसी भाषा में हंय हंय का अर्थ होता है अत्यधिक लाल। अतः लाल गर्दन अथवा लाल रंग के देवता का नाम 'हयग्रीव' दे दिया गया। जो भी हो, बौद्ध मूर्तिकला शास्त्र के ग्रंथों में विद्याधरों के राजा विद्याराज हयग्रीव का बड़े पेट और तीन आंखों वाले लाल रंग के भयावह देवता के रूप में चित्रण हुआ है। अनेक भूटानी बौद्ध लामा अपनी एक अंगुली अथवा अंगूठा जला कर मणिकूट के देवता को भेंट में देते हैं। यह प्रथा सम्भवतः आद्य धार्मिक विश्वासों से प्रेरित आत्मबलि की परम्परा का प्रतीकात्मक अवशेष है। मंत्रयानी बौद्धधर्म में अनेक आद्य जनजातीय जादू टोने की विधियों, मंत्रों तंत्रों का समावेश हुआ है। हयग्रीव तो ऐसी विधाओं के अधिष्ठाता थे। उनकी उपासना असम से लेकर तिब्बत, चीन, मंगोलिया, जापान और दक्षिण पूर्व एशिया के अन्य देशों में काफी प्रचलित हुई। छठी सातवीं शताब्दी तक मंत्रयान का दक्षिण और पूर्व भारत में प्रसार हो चुका था। असम में बौद्धधर्म के अवशेष भी इसी समय के माने जाते हैं। उपलब्ध स्रोतों के आधार पर यह कहना अनुपयुक्त नहीं होगा कि एक आद्य जनजातीय पवित्र स्थल पहले मंत्रयानी बौद्धों के और बाद में वैष्णव धर्मोन्नायियों के नियंत्रण में आ गया, और बौद्ध हयग्रीव की पूजा को विस्थापित कर भाजव हयग्रीव की आराधना को संस्थापित करने की प्रक्रिया में दैत्य हयग्रीव और विष्णु हयग्रीव की संघर्षकथा का सृजन हुआ।

बौद्ध और वैष्णव धर्मों के आपसी सम्बंध भी बड़े ग्रंथिल रहे हैं। एक ओर, लोकमानस में बुद्ध भी भगवान बन चुके थे और नारायण विष्णु के अवतार माने जाने लगे थे; गीतगोविन्द में जयदेव उनका पशुघाती वैदिक विधियों की निन्दा करने वाले सद्य हृदय केशव के अवतार के रूप में अभिनंदन करते हैं, दूसरी ओर वृद्ध हारीत स्मृति में स्पष्ट शब्दों में बुद्ध की पूजा का वर्णन किया गया है और दशावतारों की सूची में बुद्ध के स्थान पर हयग्रीव को रख दिया गया है। शंकराचार्य पर बौद्ध दर्शन का इतना प्रभाव था कि उनके आलोचकों ने उन्हें 'प्रच्छन्न बौद्ध' की संज्ञा दी। दूसरी ओर उन्हें बौद्धधर्म को उखाड़ फेकने के लिए सतत प्रयत्नशील धर्मयोद्धा के रूप में भी जाना जाता है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए और ब्राह्मण धर्म के पुनरुत्थान के लिए उन्होंने विशिष्ट संन्यासियों का गठन भी किया। वैदिक पौराणिक मतावलम्बियों की बौद्धों से मुठभेड़ केवल बौद्धिक स्तर पर ही सीमित नहीं थी इसके भी प्रमाण मिलते हैं। जब विनयतोष भट्टाचार्य ने बौद्ध ग्रंथ साधनमाला में वर्णित ऐसे प्रसंगों का उल्लेख किया जिनमें बौद्ध देवताओं द्वारा हिन्दू देवताओं को अपने पैरों से कुचलते हुए दिखाया गया है तो अधिकतर विद्वानों ने ऐसे विवरणों को पूर्णतः संकुचित मनोवृत्ति की काल्पनिक उड़ान मान कर खारिज कर दिया। किन्तु बाद में खुदाई के दौरान बिहार और उड़ीसा में कई जगहों से ऐसी ही प्रस्तर मूर्तियां मिली हैं जिनसे यह सिद्ध हो जाता है कि साम्प्रदायिक द्वेष और विवाद केवल वैचारिक स्तर तक ही सीमित नहीं था, सार्वजनिक स्थानों और मंदिरों में ऐसी मूर्तियों का स्थापन

सामाजिक स्तर पर भी गहरे टकराव की सूचना देता है।²⁶ सिंहाचलम् और मणिकूट के हयग्रीव मंदिर का इतिहास कुछ ऐसे ही संघर्ष और उथल पुथल की ओर इंगित करता है।

टिप्पणी

1. देखिये शनिवार नवम्बर 1, 2004 के 'हिन्दू' समाचारपत्र में करण थापर का लेख।
2. पी.वी. काणे, हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र, पूना भंडारकर आरियंटल रिसर्च इंस्टिट्यूट, वाल्यूम IV, 1953
3. महाभारत संशोधित संस्करण, III.100.19; XII. 326. 725; XII.337. 86
4. हरिवंश, गीता प्रेस, गोरखपुर, III . 41-47
5. मत्स्य पुराण, अध्याय 161-163
6. पद्मपुराण सृष्टिखंड, अध्याय 42
7. कूर्म पुराण I. 15 . 18 और आगे।
8. भागवत पुराण, VII. 1-10
9. सुवीरा जायसवाल, वैष्णव धर्म का उद्भव ओर विकास, ग्रंथ शिल्पी, नयी दिल्ली, 1996, पृ. 233-4; इस पुराण के रचनाकाल ओर आलवारों के संदर्भ के विवेचन के लिये देखिये, Friedhelm Hardy, **Virahobhakti : The Early History of Krisna Devotion in South India**, OUP Delhi, 1983
10. T.A. Gopinath Rao, **Elements of Hindu iconography**, P. 149 (Motilal Banarsidass, 2nd ed, 1968) Vol. I, Pt. i, P. 149
11. Md. Abdul Waheed Khan, An Early Sculpture of Narsimha, Andhra Pradesh Government Archaeological Series, No. 16, Hyderabad, 1964
12. Anncharloft Eshmann 'Hinduization of Tribal Duties in Orissa : The Sakta and Saiva Typology' in Eshmann, H. Kulke and G.C. Tripathi, The Cult of Jagannath and Regional Tradition of Orissa (Manohar, Delhi, 1978), PP. 79-97
13. वही, पृ. 108
14. उपरोक्त
15. M.L.K. Murti, 'The God Narasimha in the Folk Religion of Andhra Pradesh, South India, **South Asian Studies**, Vol. 13, 1997, P. 179-88
16. पूर्ण विवरण के लिए देखिये के. सुंदरम्, द सिंहाचलम् टेम्पल सिंहाचलम् देवस्थानम्, सिंहाचलम्, द्वितीय संस्करण, 1984
17. एनशरलौट एश्मैन (देखिये ऊपर टिप्पणी सं. 12) का यह मत भ्रमपूर्ण है।
18. महाभारत, XII. 335
19. महाभारत, XII. 326.56
20. विस्तृत विवेचन के लिए देखिये, Suvira jaiswal, 'The Demon and the Duty : Conflict Syndrome in the Hayagriva Legend' in **Studies in History**, I. i. New Series (1985), PP 1-13
21. कालिकापुराण (चौखम्बा, वाराणसी, 1997) अध्याय 78
22. माहेश्वर नियोग 'हयग्रीव वशिष्प इन आसाम' जर्नल आफ ऑरिएण्टल रिसर्च, मद्रास, 1954 वाल्यूम 22 पृ. 31 और आगे।
23. ई.टी. डाल्टन, जर्नल ऑफ दि एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, वाल्यूम 24, 1855, पृ. 8 और आगे।
24. सरतचंद्र गोस्वामी **इंद्रोद्भूतसिंह आसाम वैष्णविज्म**, गौहाटी, 1946, पृ. 10-11; माहेश्वर नियोग, 'बुद्धिज्म इन कामरूप', **इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टरली**, वाल्यूम 27, 1957, पृ. 140-50
25. पी.सी चौधरी, द हिस्ट्री ऑफ सिविलिजेशन ऑफ द पीपुल ऑफ आसाम टु द ट्वैल्व सेंचुरी एडी., गौहाटी, 1959, पृ. 332
26. बी. एन. शर्मा, 'रिलीजस टॉलरेंस एंड इनऑलरेंस इन इंडियन स्कल्पचर', बी.आर. सक्सेना द्वारा सम्पादित उमेश मिश्र कौमेमोरेशन वाल्यूम, इलाहाबाद, 1970, पृ. 657-68

बहता नीर

आरम्भिक आधुनिक भारत में भाषा और समाज

राजकुमार

शेल्डन पोलक : “उपनिवेशवाद ने दक्षिण एशिया को कैसे बदला, यह हम तब तक नहीं जान सकते, जब तक हमें ये न मालूम हो कि यहां क्या था, जिसे उसने बदला।” (2011 : 19)

औपनिवेशिक दौर में निर्मित ज्ञान के विभिन्न अनुषंगों का विगत वर्षों में गम्भीर अध्ययन तो किया गया और उसकी कमियों का भी यथोचित उल्लेख हुआ लेकिन भाषाविज्ञान एक ऐसा क्षेत्र है, जहां औपनिवेशिक दौर में रचे गये ज्ञान का दबदबा अभी भी बहुत कुछ कायम है। औपनिवेशिक दौर में निर्मित भाषायी मानचित्र मुख्यतः इस तथ्य पर आधारित है कि आर्य भारत में बाहर से आये, इसलिए भारत में मुख्य रूप से दो भाषा परिवार बने जिन्हें ‘आर्य भाषा’ परिवार और ‘द्रविड़ भाषा’ परिवार नाम दिया गया। आर्यों की दो शाखाओं की परिकल्पना की गयी जिनमें से एक यूरोप की ओर चली गयी और दूसरी भारत की ओर आ गयी। यह माना गया कि दो शाखाओं में विभाजित होने से पहले ये एक ही तरह की भाषा का इस्तेमाल करते रहे होंगे। इसलिए उत्तर भारत की आर्य भाषाओं और यूरोप की भाषाओं में खोजने पर कुछ न कुछ सामान्य तत्व मिल जायेंगे। यद्यपि ‘इंडो यूरोपियन’ भाषा परिवार के प्रणेता विलियम जोन्स ने माना कि भाषा के उस आदि रूप को खोज पाना मुश्किल है, जिससे इस परिवार की भाषाओं की उत्पत्ति हुई लेकिन उत्पत्ति के किसी आदि स्रोत की कल्पना के सहारे हम उसके मूल रूप के समीप पहुंच सकते हैं। इस हेतु हमें सम्बद्ध भाषाओं के बाहरी प्रभावों को हटा कर उस भाषा के मूल रूप की खोज धातु और व्याकरणिक संरचना के आधार पर करनी होगी। इस तरह भाषा की एक आत्मपूर्ण संरचना की कल्पना की गयी और ऐतिहासिक भाषा विज्ञान के सहारे उसके विकास के विभिन्न चरणों को रेखांकित किया गया। यह सही है कि उस दौर में भाषाओं

के पारस्परिक मिश्रण के सहारे भाषाओं के विकास को व्याख्यायित करने वाले विद्वान भी थे लेकिन तुलनात्मक भाषाशास्त्र का विकास इस तरह हुआ कि भाषायी मिश्रण को परवर्ती परिघटना समझ कर हाशिये पर धकेल दिया गया। कहा गया कि भाषाओं का 'जेनेटिक सम्बंध' प्रारम्भिक अवस्था का सूचक है और इसके जरिये भाषा के बुनियादी तत्वों को चिह्नित किया जा सकता है। भाषा की परिकल्पना उसके अमिश्रित बुनियादी तत्वों के सहारे व्याकरण की बुनियाद पर की गयी। इस तर्क की निष्पत्ति यह है कि भाषा का मूलभूत आंतरिक तत्व ही महत्वपूर्ण है और बाकी चीजें बहुत मायने नहीं रखती हैं। भाषायी वंशवृक्ष में एक ही परिवार की भाषाओं के मध्य इन्हीं मूलभूत तत्वों के आधार पर उनके सम्बंधों को समझा जा सकता है। इस हेतु दूसरे स्रोतों से आये शब्दों को पहचानना और उन्हें बाहर करना जरूरी माना गया। इस तरह भाषायी मिश्रण के औचित्य का ही निषेध कर दिया गया। स्पष्ट है कि भाषायी वंशवृक्ष के मध्य सम्बंध व्यवहार में आने वाली भाषा के आधार पर नहीं बल्कि उसके अमूर्तन के सहारे स्थापित किया गया।

विलियम जोन्स के एक समान भाषा से लैटिन, ग्रीक और संस्कृत की उत्पत्ति के सिद्धांत के पीछे ईसाई चिन्तन परम्परा की भूमिका हो सकती है। अम्बर्तो इको ने अपनी पुस्तक 'सर्च फार परफेक्ट लैंग्वेज' में इस परम्परा का उल्लेख किया है। उनके अनुसार यह कहानी बाइबिल से शुरू होती है। विप्लव के बाद समूची पृथ्वी पर सिर्फ एक ही भाषा थी और सर्वत्र वही बोली जाती थी। लेकिन 'इंसान ने अपने दम्भ में ईश्वर से होड़ लेने की ठानी और स्वर्ग तक पहुंचने के लिए मीनार बनानी शुरू की। मनुष्य के घमंड को चूर करने के लिए और इस तरह के मीनार के निर्माण की प्रक्रिया रोकने के लिए ईश्वर ने सोचा कि मुझे नीचे उतरना चाहिए और वहां पहुंच कर उसने भाषा को इस तरह उलझा दिया कि वे एक दूसरे की बात न समझ पायें... इसीलिए इस मीनार का नाम 'बेबेल' पड़ा। ईश्वर ने समूची धरती की भाषा को तोड़ दिया और फिर उसे पूरी धरती की सतह पर बिखरा दिया। विलियम जोन्स की परिकल्पना के अनुसार ग्रीक, लैटिन ग्रीक, फारसी और संस्कृत एक भाषा परिवार की भाषाएं हैं और इस समूह की मूल भाषा सम्भवतः संस्कृत थी। फिर इसी के साथ यह बात भी चल निकली की चार पांच हजार वर्षों के अलगाव के बाद यूरोप के आर्यों का अपने बिछड़े हुए भारतीय आर्यों से मिलन हुआ है। अब यह जिम्मेदारी यूरोप के आर्यों की है कि वे अपने बिछड़े और पिछड़े हुए भारतीय आर्यों को उन्नत सभ्यता का पाठ पढ़ा कर सभ्य बनायें और समान उत्पत्ति के मूल स्रोतों को खोज निकालें। विडम्बना यह है कि इस समूची कहानी को उन्नीसवीं सदी की पढ़ी लिखी जातियों ने हाथोंहाथ लिया। केशवचंद्र सेन जैसे लोगों के कथन से इस तथ्य की पुष्टि होती है। अपनी हीनताग्रंथि से मुक्ति पाने के लिए उन्हें यह सिद्धांत बहुत आकर्षक लगा कि पश्चिमी सभ्यता के मूल स्रोत भारतीय हैं। इसी के साथ यह बात जोड़ दी गयी कि भारतीय आर्य सभ्यता में कालांतर में जो गिरावट आयी, उसका मूल कारण इस्लामी आक्रमण है। कहने का आशय यह है कि यह परिकल्पना औपनिवेशिक हितों के अनुकूल तो थी ही, तत्कालीन प्रबुद्ध भारतीयों को भी रास आ रही थी। (2006 : 212 230) कहा जाता है कि हम जो चाहते हैं, वही खोज भी लेते हैं। इस प्रसंग में भी यही हुआ। उत्तर भारत की भाषाओं और यूरोप की भाषाओं में कुछ सामान्य तत्व खोज निकाले गये और उनकी बुनियाद पर 'इंडो यूरोपीयन' भाषा परिवार का महल खड़ा कर दिया गया। विडम्बना यह है कि आज की तारीख में आर्यों के बाहर से आने और यहां आक्रमण कर अपना वर्चस्व स्थापित करने की सैद्धांतिकी को निर्विवाद तथ्यों और तर्कों के आधार पर सिद्ध कर पाना मुश्किल है। यहां तक कि रोमिला थापर ने अपनी पुस्तक 'द पास्ट बिफोर अस' में इतिहास लेखन के एक विशेष दौर में निर्मित एक

आख्यान के तौर पर इस समूची परिघटना का उल्लेख किया है लेकिन इसे एक निर्विवाद तथ्य के रूप में नहीं रखा है। 'इंडो यूरोपीयन' भाषा परिवार की परिकल्पना को स्वीकार कर लेने पर हुआ यह कि भारत की कथित आर्य भाषाओं और यूरोप की भाषाओं के बीच तुलनात्मक अध्ययन के द्वारा सामान्य तत्वों को सामने लाने का प्रयास तो खूब हुआ, लेकिन भारतीय भाषाओं के बीच समानता और निरंतरता के तत्वों को देखने और उनके निहितार्थों को समझने की कोशिश लम्बे समय तक कम ही की गयी।

टॉमस आर. ट्राटमान के शब्दों में 'सबसे बुरी बात यह हुई कि भाषा परिवार की इस सैद्धांतिकी ने भारत के इतिहास को दो प्रजातियों के इतिहास के रूप में देखने की बुनियाद रख दी। इतिहास की बुनियादी शर्त के रूप में नस्ल की इस नयी यूरोपीय परिकल्पना का भारतीय इतिहास की व्याख्या पर बहुत गहरा असर पड़ा। इसे ही मैंने भारतीय सभ्यता की नस्लीय सैद्धांतिकी कहा है। इस सैद्धांतिकी के अनुसार भारतीय सभ्यता की निर्मिति दो प्रजातियों के संघर्ष और उनके आंशिक मिश्रण से हुई। ये प्रजातियां थीं गोरे और संस्कृत बोलने वाले आक्रांता आर्य और द्रविड़ भाषा बोलने वाले काले बर्बर मूल निवासी। इस शुरुआती संघर्ष से जाति व्यवस्था की उत्पत्ति होती है। इस संघर्ष के परिणामस्वरूप पैदा होने वाली नयी सभ्यता की केन्द्रीय संस्था जाति व्यवस्था बनती है। यह दृष्टिकोण लम्बे समय तक भारतीय सभ्यता के इतिहास के महाख्यान के रूप में कायम रहा। अब जरूर इस महाख्यान की सचाई पर संदेह किये जाने और उसकी जांच पड़ताल की शुरुआत हुई है। मैंने अन्यत्र दिखाया है कि इंडो यूरोपीयन यानी भारोपीय और द्रविड़ भाषाओं के बीच मुठभेड़ को दो नस्लों की मुठभेड़ के रूप में व्याख्यायित करने के लिए उपलब्ध साक्ष्यों को कितना ज्यादा तोड़मरोड़ कर पेश करना होगा! यही नहीं, सभ्यता को गोरी प्रजाति से और बर्बरता को काले लोगों के साथ तात्विक रूप से सम्बद्ध करना बिल्कुल गलत है। (2006 : 225)

भारोपीय भाषा परिवार और आर्यों के आक्रमण से सम्बंधित विवाद के विस्तार में जाये बिना मैं इस चर्चा को डॉ. कोएनराड के उद्धरण से समाप्त करना चाहता हूं "यह कहना तो जल्दबाजी होगी कि भाषा वैज्ञानिकों ने भारोपीय भाषा परिवार की भारतीय उत्पत्ति के सिद्धांत को साबित कर दिया है। लेकिन हम इतना जरूर विश्वासपूर्वक कह सकते हैं कि यूरोपीय उत्पत्ति और आर्यों के भारत पर आक्रमण के बहुउद्देश्य भाषायी साक्ष्य पूरी तरह अपर्याप्त हैं। यूरोपीय उत्पत्ति के सिद्धांत एक एक करके उन विद्वानों द्वारा गलत साबित किये जा चुके हैं जिनका भारतीय उत्पत्ति सिद्धांत और उससे सम्बंधित ज्ञान से कुछ लेना देना नहीं है।" (लिंग्विस्टिक एस्पेक्ट ऑव द इंडो यूरोपीयन अरहिमट क्वेश्चन, डॉ. कोएनराड एल्ट, द कोएनराड एल्ट साईट)

(2)

शेल्डन पोलक के अनुसार यूरोप में 'ओरिजिन पैराडाइम' की शुरुआत आधुनिकता के आगमन से पहले ही हो चुकी थी। 'ओरिजिन पैराडाइम' का मतलब यह है कि उत्पत्ति, वंश की शुद्धता और मिश्रण के निषेध को लेकर पश्चिम में बड़े पैमाने पर चिन्तन किया जा रहा था। इसके साथ ही ऐतिहासिक आवश्यकता के रूप में राष्ट्र के महत्व का एहसास बढ़ रहा था और इतिहास के कर्ता के रूप में आम आदमी की भूमिका पर विचार हो रहा था। अठारहवीं सदी की 'राष्ट्र और भाषा परियोजना' इसी प्रक्रिया की तार्किक परिणति थी। इस परियोजना के बारे में ट्राटमान ने लिखा है कि 'राष्ट्र और भाषा परियोजना' का, जैसा कि हमने देखा, शुद्ध विज्ञान से सम्बंध नहीं था, भले ही ऐसा प्रायः कहा

जाता रहा हो; लेकिन ये ऐसा शुद्ध विज्ञान नहीं, जिसने धर्म की जंजीरों से स्वयं को मुक्त कर लिया हो। इसके विपरीत इस परियोजना की गहरी जड़ें बाइबिल में हैं; उन राष्ट्रों की वंशावली में हैं जो नोह और उनके तीन पुत्रों से अवतरित हुए। (2006 : 213) ट्राटमान के इस खुलासे पर सेक्युलर और धार्मिक राष्ट्रवादियों को जरूर गौर करना चाहिए। यही नहीं, अठारहवीं उन्नीसवीं सदी में निर्मित भाषा परिवारों की परिकल्पना और तुलनात्मक भाषाशास्त्र पर अगाध श्रद्धा रखने वाले विद्वानों को ट्राटमान की इन बातों पर भी गौर फरमाना चाहिए। “अठारहवीं सदी में शुरू हुई भाषाओं की तुलना का एक वृहत्तर इथनोलाजिकल चरित्र था और इसका मकसद भाषाओं का वंशवृक्ष तैयार करना था। भाषाओं का वंशवृक्ष तैयार करना स्वयं में उद्देश्य नहीं, साधन था। राष्ट्रों के वंशवृक्ष तक पहुंचने का साधन। इसका उद्देश्य राष्ट्रों की पारस्परिक सम्बंधों की विलुप्त हो चुकी स्मृतियों को दोबारा हासिल करना था। इस परियोजना और इसकी खोजों को भाषा वैज्ञानिक फ्रेम में देखा जाना था। ऐसी भाषा वैज्ञानिक समझ जो भाषा को एक आत्मपूर्ण इकाई मानती हो, समूची तस्वीर को भले ही न पकड़ती हो, लेकिन भारत में उसे प्रायः इसी रूप में लागू कर भाषा परिवारों की परिकल्पना की गयी।” (2006 : XIX, XX)

प्रश्न यह है कि क्या किसी भाषा की उत्पत्ति को किसी एक भाषा परिवार के साथ जोड़ कर व्याख्यायित किया जा सकता है? उत्पत्ति का मिथ किसी भाषा के बनने की प्रक्रिया को किस सीमा तक व्याख्यायित कर सकता है? ये प्रश्न इसलिए महत्वपूर्ण हैं क्योंकि बाहरी प्रभावों को हटा कर भाषा के किसी मूलभूत अमिश्रित रूप की परिकल्पना का प्रभाव आधुनिक भाषाओं की स्वतंत्र अस्मिता निर्माण प्रक्रिया पर भी पड़ा।

असल में औपनिवेशिक अध्येता जिस समय भारत के भाषायी मानचित्र का अध्ययन कर रहे थे, उस दौर में ज्ञान विज्ञान के सभी अनुशासनों पर प्रत्यक्षवादी (Positivism) पद्धति का वर्चस्व था। प्रत्यक्षवादी पद्धति किसी परिघटना का अध्ययन करने के दौरान भिन्नता और समानता के आधार पर पहले उसका वर्गीकरण करती है, फिर तुलना करती है, और अंततः उसको एक नाम दे देती है। इस प्रक्रिया में किसी भी परिघटना के उन तत्वों का निषेध हो जाता है, जो इस पद्धति में फिट नहीं बैठते। नामकरण और वर्गीकरण की यह प्रक्रिया प्रायः विरोधी युग्मों के सहारे खड़ी की जाती है और इसमें स्व और अन्य के बीच एक स्पष्ट विभाजक रेखा खींचना आवश्यक होता है। सफेद और स्याह अथवा स्व और अन्य की बुनियाद पर निर्मित इस ज्ञान व्यवस्था में ऐसे तत्वों का प्रायः निषेध हो जाता है जो किसी एक कोटि में पूरी तरह फिट नहीं बैठते। इस तरह दरम्यानी रूपों और अंतःसम्बंधों के लिए कोई जगह नहीं छूटती। ऐसी परिघटना जिसका स्वरूप स्पेक्ट्रम या कंटिनम जैसा हो, उसका बोध तो इस पद्धति से हो ही नहीं सकता। कहने की जरूरत नहीं होनी चाहिए कि भारत में भाषाओं और बोलियों और भाषा परिवारों के अध्ययन में इसी पद्धति का इस्तेमाल किया गया। विडम्बना यह है कि, जैसे दूसरे अनुशासनों में वैसे ही भारत की भाषाओं के अध्ययन के प्रसंग में भी, इस पद्धति से निर्मित ज्ञान को वैज्ञानिक ज्ञान की तरह निर्विवाद और अकाट्य सत्य मान लिया गया। यही नहीं, इस ज्ञान के आलोक में भारत के यथार्थ को समझने और परिवर्तित करने का प्रयास किया गया। यथार्थ के अनुरूप सैद्धांतिकी विकसित करने के बजाय सैद्धांतिकी के आधार पर यथार्थ को देखने और बदलने की इस उलटवांसी की शुरुआत भले ही उन्नीसवीं सदी में हुई हो, लेकिन यह सिलसिला आज भी खत्म नहीं हुआ है। चाहे राष्ट्र की अस्मिता हो या विभिन्न भाषाओं की अस्मिता हो या धार्मिक सामाजिक अस्मिताएं ही क्यों न हों, इन सभी का निर्माण इसी पद्धति के सहारे उन्नीसवीं सदी में हुआ। क्योंकि यह लेख मूलतः भाषायी अस्मिताओं के निर्माण प्रक्रिया पर केन्द्रित है, इसलिए अपनी बात

को स्पष्ट करने के लिए हम विभिन्न भाषाओं की स्वतंत्र अस्मिता निर्माण प्रक्रिया से जुड़े हुए फिलहाल यहां सिर्फ दो उदाहरण देना चाहेंगे।

उड़ीसा में जब उड़िया को बांग्ला से स्वतंत्र भाषा बनाने का आंदोलन चला तो फकीर मोहन सेनापति भी इससे जुड़ गये। लेकिन मुसीबत यह हुई कि उड़िया को बांग्ला से स्वतंत्र भाषा मानने के बावजूद वे जो कुछ लिखते उसमें और बांग्ला में कोई खास फर्क न दिखायी पड़ता। उल्लेखनीय है कि फकीर मोहन सेनापति के पथप्रदर्शक गुरु जॉन बीम्स नामक महानुभाव थे। जॉन बीम्स की वजह से ही उड़ीसा के स्कूलों में शिक्षा के माध्यम के रूप में उड़िया की शुरुआत हुई। जॉन बीम्स आम आदमी (अनपढ़) के द्वारा बोली जाने वाली भाषा को ही सच्ची भाषा मानते थे और तत्सम शब्दों के प्रयोग को उचित नहीं समझते थे। बीम्स के इस तरह के विचारों से फकीर मोहन सेनापति को ऐसी उड़िया भाषा खड़ी करने में मदद मिली जो बांग्ला से भिन्न दिखायी पड़े। गगनेन्द्रनाथ दास ने लिखा है कि सामान्यतः यह माना जाता है कि कोई उपन्यासकार पहले अपनी विषयवस्तु का चुनाव करता है और फिर ऐसा प्लॉट और चरित्र खड़ा करता है जो उसकी विषयवस्तु को बेहतर ढंग से प्रस्तुत कर सके। अंततः विषयवस्तु और चरित्र उपन्यास की भाषा और शैली को निर्धारित करते हैं। लेकिन ऊपर की चर्चा से ऐसा लगता है कि 'छः मन और आठ गुंठ' के प्रसंग में इसका उल्टा हुआ। क्योंकि विशेष ऐतिहासिक परिस्थिति में निम्नवर्गीय जनों के बीच बोली जाने वाली भाषा के आधार पर चरित्र और विषयवस्तु का निर्धारण हुआ। (2006)।

लम्बे समय तक पंजाब में ब्रजभाषा और हिन्दी उर्दू का साहित्यिक और सांस्कृतिक भाषा के रूप में इस्तेमाल होता रहा था। विभाजन के पश्चात पंजाबी को पंजाब की भाषा बनाने की मांग की जाने लगी। भाषावार राज्य गठन की प्रक्रिया के अमल में आने के साथ पंजाब का एक और विभाजन हुआ। हिन्दीभाषी क्षेत्र को पंजाब से अलग कर, हरियाणा राज्य बनाया गया। इस तरह पंजाब की भाषा पंजाबी बनी और हरियाणा की हिन्दी हुई। लेकिन पाकिस्तान के कब्जे वाले पश्चिमी पंजाब की सांस्कृतिक और प्रशासनिक भाषा आज भी उर्दू है। इन उदाहरणों से यह बात स्पष्ट होती है कि स्थानीय बोली को एक स्वतंत्र भाषा के रूप में स्थापित करने के पीछे 'भाषा' की बोधगम्यता से कहीं ज्यादा सामाजिक राजनीतिक कारणों की भूमिका होती है।

फकीर मोहन सेनापति के उदाहरण से यह बात स्पष्ट होती है कि क्षेत्रीय भाषाओं की स्वतंत्र अस्मिता निर्माण प्रक्रिया एक सचेत राजनीतिक आंदोलन का हिस्सा थी और इस प्रक्रिया में उस क्षेत्र के पढ़े लिखे लोगों के साथ ही औपनिवेशिक अध्येताओं की नियामक भूमिका थी। वास्तव में यह प्रक्रिया इन दोनों के सचेत और साझा उद्यम का परिणाम थी। असल में भारत की ज्यादातर भाषाओं के निर्माण की आधारभूत सैद्धांतिकी औपनिवेशिक अध्येताओं ने तैयार की थी और इसे ही थोड़ा बहुत परिवर्तित कर क्षेत्रीय बुद्धिजीवियों ने अंजाम तक पहुंचाया। सुसी थारू (1994) ने अपने एक लेख 'अरेंजमेण्ट ऑव एलायंस' में इस प्रक्रिया पर विस्तार से प्रकाश डाला है। जिस क्षेत्र में स्थानीय भाषा/बोली को एक स्वतंत्र भाषा के रूप में स्थापित करने का आंदोलन नहीं खड़ा हो पाया वहां विभाजन के दूसरे तरीके निकाले गये। उल्लेखनीय है कि पश्चिमी भाषा वैज्ञानिकों के अनुसार हिन्दी क्षेत्र की सभी बोलियां स्वतंत्र भाषाएं हैं। इस मान्यता का किशोरीदास बाजपेयी जैसे विद्वान पर भी ऐसा प्रभाव पड़ा कि कालांतर में वे भी हिन्दी क्षेत्र की इन बोलियों को स्वतंत्र भाषाएं मानने लगे। इसके बावजूद हिन्दी क्षेत्र में इन बोलियों को स्वतंत्र भाषा में रूपांतरित करने का कोई आंदोलन नहीं खड़ा हो पाया। पहले ब्रजभाषा को और फिर खड़ी बोली पर आधारित हिन्दी उर्दू को हिन्दी क्षेत्र के उन अंचलों के लोगों ने भी सहज स्वीकार कर लिया जहां यह 'बोली' बोली ही नहीं जाती थी। इसलिए

हिन्दी क्षेत्र में हिन्दी और उर्दू का विवाद खड़ा किया गया। जैसाकि ऊपर उल्लेख हो चुका है, क्षेत्रीय बोलियों को स्वतंत्र भाषा के रूप में स्थापित करने के मूल में भाषायी कारणों से ज्यादा राजनीतिक कारणों की भूमिका रही। क्षेत्रीय बोलियों की अस्मिता को स्वतंत्र भाषा में रूपांतरित करने के दौरान सचेत रूप से ऐसे तत्वों का निषेध किया गया, जो दूसरी बोली या भाषा में भी मौजूद थे। ऐसे तत्वों को ऊपर लाने की कोशिश की गयी जिनसे उस बोली की स्वतंत्र और आत्मपूर्ण पहचान कायम की जा सके। इस प्रक्रिया में क्रियाओं और कारक चिह्नों को उनकी पहचान की बुनियाद के रूप में रखा गया। भाषा के क्षेत्रीय रूपों के अंतःसम्बंध को समझने का एक वैकल्पिक आधार शब्द सम्पदा की समानता भी हो सकता है। हिन्दी क्षेत्र में ब्रजभाषा या हिन्दी उर्दू को दूसरे अंचलों में इसीलिए बिना किसी दबाव के स्वीकार कर लिया गया, क्योंकि इस क्षेत्र के स्थानीय भाषा रूपों में शब्द सम्पदा की दृष्टि से समानता बहुत अधिक दिखायी पड़ती है।

भारत में भाषाओं/बोलियों का वर्गीकरण, नामकरण और उनकी स्पष्ट सीमाएं निर्धारित करना कभी भी आसान नहीं था। लेकिन पश्चिम से आयी आधुनिकता की सैद्धांतिकी में भाषाओं के पारस्परिक सम्बंध को समझने का इसके सिवा और कोई दूसरा तरीका नहीं था। सच तो यह है कि 'स्पेक्ट्रम या कंटिनम' की तरह धीरे धीरे बदलने वाले भारतीय भाषायी मानचित्र को इस सैद्धांतिकी के जरिये समझ पाना ही मुश्किल था। आधुनिकता की सैद्धांतिकी में किसी परिघटना को समझने से ज्यादा मनोवांछित रूप में परिवर्तित कर देने पर जोर रहा है। कम से कम गैर पश्चिमी संस्कृति और सभ्यताओं के अध्ययन के संदर्भ में तो यह बात सोलहो आने सच लगती है। एडवर्ड सर्ईद ने 'ओरियंटलिज्म' नामक अपने ग्रंथ में इस समूची प्रक्रिया का विस्तार से विश्लेषण कर रखा है। इसलिए उस तपस्वील में जाने की जरूरत फिलहाल नहीं लगती। किन्तु यहां यह उल्लेख करना उचित होगा कि अंग्रेज अध्येताओं के लिए मानचित्र का निर्माण और भाषायी वर्गीकरण सुशासन के लिए निहायत जरूरी थे। इसकी पुष्टि 1881 की जनगणना के दस्तावेज से भी होती है। ज्युडिथ टी. इरविन ने अपने लेख 'लेंगेजफील्ड' में उस दौर के अध्येताओं में व्याप्त इस प्रवृत्ति का विश्लेषण करते हुए लिखा है कि इन अध्येताओं की दृष्टि में ऐसे मानचित्र से उस क्षेत्र में रहने वाले लोगों और उनकी भाषाओं का इस तरह प्रतिनिधित्व हो जाता है जैसे वास्तव में उनका कोई वजूद ही न हो। कम से कम उनको सीधे प्रस्तुत करने की जरूरत खत्म हो जाती है। क्योंकि नक्शे में उनकी उपस्थिति पहले ही दर्ज की जा चुकी है। ज्युडिथ टी. इरविन ने इस तरह का भाषायी मानचित्र तैयार करने के मार्ग में आने वाली दिक्कतों के बारे में 1853 में लिखे गये सर इरिक्सन पेरी के एक लेख का जिक्र किया है। भारत में बिल्कुल सही भाषायी मानचित्र बना पाना क्यों मुश्किल है, इस बात का उल्लेख करते हुए पेरी ने लिखा है *“सर्वप्रथम समस्या तो यही है कि दो पड़ोसी भाषाओं की सीमाएं प्रायः जंगल या ऐसे अनजान निर्जन इलाकों से होकर गुजरती हैं कि उनकी स्पष्ट सीमारेखा खींच पाना मुश्किल हो जाता है।”* ज्युडिथ इरविन ने इस समझ पर व्यंग्य करते हुए लिखा है *“यदि ये मान लिया जाये कि भाषा की सीमारेखाएं निर्जन इलाकों से होकर गुजरती हैं तो फिर यह भी मानना पड़ेगा कि भाषाओं के वजूद के लिए उन भाषाओं को बोलने वाले लोगों की भी जरूरत नहीं!”* (2011 : 46)

इस ढब पर भारतीय भाषाओं का नामकरण/वर्गीकरण करने और उनकी स्पष्ट सीमारेखाएं निर्धारित करने की चेष्टा करने वाले औपनिवेशिक दौर के पश्चिमी अध्येता ही नहीं, भारतीय अध्येता भी इस उलझन को सुलझा नहीं पाये। इस पद्धति पर किये गये अध्ययनों से उत्पन्न होने वाली समस्याओं का एहसास तो यत्रतत्र दिखायी पड़ता है, किन्तु यह एहसास किसी वैकल्पिक सैद्धांतिकी की जरूरत के एहसास में प्रायः रूपांतरित नहीं होता।

(3)

“काल की ही तरह देशभेद से भी भाषा बदलती है, बहुत धीरे धीरे। आप प्रयाग से पश्चिम चलें, पैदल यात्रा करें, चार पांच मील नित्य आगे बढ़ें, तो चलते चलते आप पेशावर या काबुल तक पहुंच जायेंगे; पर यह न समझ पायेंगे कि हिन्दी कहां किस गांव में छूट गयी, पंजाबी कहां से प्रारम्भ हुई, पश्तो ने पंजाबी को कहां रोक दिया! **ऐसा जान पड़ेगा कि प्रयाग से काबुल तक एक ही भाषा है।** परंतु यह यात्रा यदि वायुयान से करें और प्रयाग से उड़ कर पेशावर या काबुल उतरें, तो भाषा भेद से आप चक्कर में पड़ जायेंगे। प्रयाग की भाषा कहां और काबुल की भाषा कहां! इसी तरह पूर्व की यात्रा पैदल करने पर आप हिन्दी की विभिन्न ‘बोलियों’ में तथा मैथिली उड़िया बंगला आदि में अंतर वैसा न लख पायेंगे। यही क्यों, दक्षिण की ओर चलें, तो ठेठ मदरास तक पहुंच जायेंगे, भाषा सम्बंधी कोई भी अड़चन सामने न आयेगी। किन्तु वायुयान से उड़ कर मदरास पहुंचिए, जान पड़ेगा भाषा में महान् अंतर! आप कुछ समझ ही न सकेंगे।” (1998 : 4 पूर्वपीठिका)

किशोरीदास बाजपेयी के ऊपर दिये गये उद्धरण से ये बात स्पष्ट हो जाती है कि हमारे यहां भाषाएं इस तरह परस्पर जुड़ी हुई हैं कि उन्हें जबरदस्ती करके ही एक दूसरे से अलगगाया जा सकता है। भाषा के स्थानीय रूप में परिवर्तन इतना धीरे धीरे और क्रमशः होता है कि पता ही नहीं चलता कि कब और कहां एक रूप समाप्त हुआ और दूसरे रूप की शुरुआत हो गयी। लेकिन किशोरीदास बाजपेयी जैसे प्रकांड विद्वान को भी जब पश्चिमी भाषाविज्ञान का ज्ञान हो गया तो उनके विचार बदल गये और अगली पुस्तक ‘भारतीय भाषाविज्ञान’ में अवधी आदि को वे हिन्दी की बोलियां नहीं, स्वतंत्र भाषा मानने लगे। यही नहीं, हिन्दी शब्दानुशासन के परिवर्द्धित संस्करण के परिशिष्ट 1 में भी उन्होंने ये बातें जोड़ दीं। वे लिखते हैं “अवधी आदि हिन्दी की ‘बोलियां’ नहीं, स्वतंत्र भाषाएं हैं हिन्दी संघ की। ‘हिन्दी की बोलियां’ एक रूढ़ि है। यह सब भारतीय भाषाविज्ञान में स्पष्ट है।” असल में भाषा और बोली के युग्म में विचार करने की ये तार्किक परिणति थी। जबकि भारत में देश भाषाओं का चरित्र और उनका पारस्परिक सम्बंध ऐसा है कि भाषा और बोली के युग्म में उसे समझा ही नहीं जा सकता। भाषा और बोली के युग्म में हमारे भाषायी मानचित्र को विभाजित करने के लिए बहुत कृत्रिम और हिंसक तरीके से उन्हें एक दूसरे से अलगाना पड़ता है। इससे जितनी समस्याएं हल होती हैं, उससे कहीं अधिक समस्याएं पैदा हो जाती हैं। उल्लेखनीय है कि भाषा/बोली का एक स्थानीय रूप भी अपने समूचे क्षेत्र में एक जैसा नहीं दिखायी पड़ता। यह अकारण नहीं है कि राहुल सांकृत्यायन भोजपुरी को प्रयोग भेद के आधार पर तीन चार खंडों में बांटते हैं। भोजपुरी ही नहीं, दूसरी भाषाओं/बोलियों में भी ये समस्याएं दिखायी पड़ती हैं। असल में ये बोलियां आधुनिक युग में तब स्वतंत्र भाषाएं बनती हैं जब इन्हें एक दूसरे से काट कर, समानता का निषेध कर और वैशिष्ट्य भिन्नता पर जोर देकर उनका मानकीकरण किया जाता है। ऐसा नहीं कि किशोरीदास बाजपेयी इस समस्या से परिचित नहीं थे। पश्चिमी भाषाविज्ञान के प्रभाव में हिन्दी क्षेत्र की बोलियों को स्वतंत्र भाषाएं मान लेने के बावजूद पहले की ‘अवैज्ञानिक सोच’ के पुराने निशान इस पुस्तक में बचे रह गये हैं। कुछ नमूने देखिए जैसे “‘मानस’ पश्चिमी अवधी और पूर्वी पांचाली के साझे की चीज है। पूर्वी पांचाली और अवधी में स्पष्ट सीमारेखा खींचना सरल काम नहीं है।” (1998 : 580)। ... “पश्चिमी पांचाली उधर ब्रज को प्रभावित करती है और स्वयं भी प्रभावित होती है। इधर पूर्वी पांचाली अवधी को प्रभावित करती है और स्वयं भी प्रभावित होती है। पांचाली, बैसवाड़ी तथा अवधी बोलियां तिडंत प्रधान हैं और इतनी मिलती जुलती हैं कि इनके स्वरूप का स्पष्ट विवेचन विभाजन बहुत सरल काम नहीं है।” (1998

: 540) 'वस्तुतः मैथिली भाषा हिन्दी तथा बांग्ला के बीच की कड़ी है।'

तुलसीदास के जन्मस्थान का भाषायी मानचित्र देखिए "सच तो यह है कि गोस्वामी जी ने अपनी बोली में मानस की रचना की है। बांदा जिला पांचाली क्षेत्र में आता है।...' यहां की पांचाली बोली के पड़ोस में बुंदेलखंडी बोली है! परंतु बुंदेलखंडी पर ब्रजभाषा या ग्वालियरी बोली का अधिक प्रभाव है, पांचाली का कम।'" (1998 : 580)।

उपर्युक्त उद्धरणों से ये बात समझ में आ जाती है कि किशोरीदास बाजपेयी जैसे विद्वान के लिए भी 'रामचरितमानस' की भाषा का स्वरूप निर्धारण करना सुगम नहीं था। पहले वे 'रामचरितमानस' की भाषा को अवधी और पांचाली का मिश्रण बताते हैं और फिर पांचाली। यदि 'रामचरितमानस' की भाषा पांचाली है तो फिर पांचाली और अवधी में अंतर करना कितना मुश्किल है, इसका सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है! यही नहीं, तुलसीदास के लिए अवधी छोड़ कर ब्रजभाषा में लिखना कितना आसान रहा होगा, इसका भी अंदाजा लग जाता है। क्योंकि तुलसीदास के जन्मस्थल के एक ओर यदि अवधी है तो दूसरी ओर पांचाली और तीसरी ओर बुंदेलखंडी। और बुंदेलखंडी पर ब्रजभाषा का प्रभाव जगजाहिर है। वस्तुतः तुलसीदास के लिए ब्रजभाषा परायी भाषा नहीं है, जिसमें लिखने के लिए उसे सीखने की जरूरत पड़े। बहते हुए पानी की तरह भाखा के स्पेक्ट्रम का क्रमशः बदलता हुआ रूप है ब्रजभाषा। तुलसीदास के जन्मस्थान राजापुर की तरह हिन्दी क्षेत्र में अनेक ऐसे स्थलों को चिह्नित किया जा सकता है, जहां भाखा के कई स्थानीय रूप एक दूसरे से परस्पर मिलते हुए और क्रमशः परिवर्तित होते हुए दिखायी पड़ेंगे।

इसी तरह बाबूराम सक्सेना ने अपनी पुस्तक 'अवधी के विकास' में 'बघेली' को अवधी की एक बोली मात्र माना है, अवधी के समकक्ष पूर्वी हिन्दी का एक और रूप नहीं। यही नहीं, अवधी की दक्षिणी सीमा में स्थित छत्तीसगढ़ी को वे पूर्वी हिन्दी का ही एक रूप मानते हैं। छत्तीसगढ़ी कुछ बातों में अवधी से भिन्न लेकिन अन्य बातों में अवधी के अधिक समीप है। छत्तीसगढ़ी के सर्वनाम भोजपुरी से मिलते जुलते हैं। यदि इस सिलसिले को आगे बढ़ायें तो छत्तीसगढ़ी का सम्बंध उड़िया से जुड़ता हुआ दिखायी पड़ेगा और फिर उड़िया का बांग्ला और तेलगू से। बोलियों की भिन्नता रेखांकित करने के बावजूद बाबूराम सक्सेना ने हिन्दी की बोलियों के अंतःसम्बंध को बखूबी समझते हुए लिखा है कि "यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि हिन्दी की विभिन्न बोलियां पश्चिमी या पूर्वी, न केवल पड़ोस की बोलियों के वक्ताओं से अपितु अन्य बोलियों के वक्ताओं से भी परस्पर सम्बन्ध हैं। ब्रज का एक वक्ता अवध में अशिक्षित व्यक्तियों से भी अपनी ही बोली में अपना मन्तव्य समझा सकता है।" (1972 : 8) बाबूराम सक्सेना के इस तर्क की पुष्टि शांतनु फूकन के एक लेख 'श्रु श्रोट्स व्हेअर मेनी रीवर्स मीट' से भी होती है। फूकन ने इस लेख में पछाह के रहने वाले फारसी के लेखक आनंदराम मुख्तस का हवाला दिया है। अपने नौकर से मुल्ला दाऊद के 'चंदायन' को सुन कर वह पूर्वी बोली की मिठास से बहुत प्रभावित होते हैं और उन्हें 'चंदायन' की भाषा को समझने में कोई दिक्कत नहीं होती। इन उद्धरणों से हिन्दी की विभिन्न बोलियों और भाषाओं के आपसी सम्बंध और बोधगम्यता की पुष्टि होती है। इससे यह भी समझ में आता है कि किसी एक क्षेत्र का भाषायी रूप जब एक 'कॉस्मोपॉलिटन वर्नाक्युलर' (Cosmopolitan Vernacular) के रूप में फैलता है तो दूसरे क्षेत्र के लोग उसे बिना किसी विरोध के क्यों अपना लेते हैं। अपना ही नहीं लेते, बल्कि उसमें लिखने की दक्षता भी अर्जित कर लेते हैं।

भाषा का कोई स्थानीय रूप जैसे ही एक स्वतंत्र भाषा के रूप में अपनी पहचान बनाने लगता है वैसे ही वह अपनी आंतरिक भिन्नताओं का एक मानक भाषा के निकष पर निषेध भी करना शुरू

कर देता है। इस तरह उस भाषा का अपने पड़ोस की भाषा से पहले से चला आ रहा सम्बंध तोड़ दिया जाता है और दूरस्थ केन्द्र की मानक भाषा के अनुरूप उसे अपनी भाषायी पहचान गढ़ने के लिए विवश किया जाता है। जैसे, आधुनिक राष्ट्र राज्य निर्माण प्रक्रिया के पीछे प्रायः सर्वमान्य तार्किक आधार नहीं होता और उसकी सीमारेखाएं राजनीतिक आर्थिक हैसियत से निर्धारित होती हैं, वैसे ही, ‘भाषायी स्पेक्ट्रम’ में से स्वतंत्र भाषाओं का निर्माण भी राजनीतिक आर्थिक कारणों से किया जाता है। टॉमस ट्रॉटमान ने इस प्रक्रिया को यूरोप के ‘लैंग्वेज एंड नेशन प्रोजेक्ट’ (Language and Nation Project) के रूप में व्याख्यायित किया है। इस प्रोजेक्ट की महत्ता पश्चिमी विद्वानों की दृष्टि में सार्वभौमिक थी। जहां जहां वे गये और जहां उनका वर्चस्व कायम हुआ, उन्होंने इसी प्रोजेक्ट के तहत वहां की भाषाओं का अध्ययन किया। अठारहवीं सदी से इस तरह मिसालें मिलने लगती हैं।

‘भाखा’ के स्थानीय रूपों के नामकरण और उनकी सीमाएं चिह्नित करने का काम भारत में उन्नीसवीं सदी में शुरू हुआ। भाखा के किसी स्थानीय रूप में भी, जैसा कि पहले कहा गया, पर्याप्त विविधता है। असल में भाषा के मानकीकरण के दौरान उसके किसी एक रूप को मानकीकृत कर दिया जाता है और बाकी रूपों को अमान्य घोषित कर दिया जाता है। इस प्रक्रिया में भाषा के व्याकरण का निर्माण होता है और फिर लोगों से उसी के अनुरूप भाषा के प्रयोग की अपेक्षा की जाने लगती है। भाषा के इस मान्य और व्याकरण सम्मत स्वरूप को स्वीकार कर लेने के बाद भाषा का एक स्थिर रूप बन जाता है। भाषा के मानक रूप के स्थिर होने के बाद परस्पर जोड़ने वाला सतत् परिवर्तनशील रूप नष्ट होने लगता है। और फिर उनकी स्वतंत्र अस्मिताओं का निर्माण होता है। आज हम प्रायः भाषा के मानकीकृत रूप के आधार पर ही उनके सम्बंधों को देखने के आदी हो गये हैं, जबकि आरम्भिक आधुनिक भारत में भाषाओं का अंतःसम्बंध परस्पर सम्बद्धता का रहा है। इसीलिए हमारे यहां लम्बे समय तक, यहां तक कि उन्नीसवीं बीसवीं सदी में भी, हिन्दी क्षेत्र के सभी स्थानीय रूपों को भाखा कहा जाता रहा। उन्नीसवीं सदी में शिवसिंह सेंगर ने अपनी पुस्तक ‘शिवसिंह सरोज’ में लिखा है कि “इस ग्रंथ में एक हजार भाषा कवि लोगों के नाम और जीवन चरित्र सन् संवत् कविता समेत लिखे गये हैं।” (1970 : मुखपृष्ठ)

(4)

धीरेन्द्र वर्मा ने लिखा है “प्रथम आवश्यकता अपने देश अथवा वर्तमान संयुक्त प्रांत को उचित नाम देने की है। भारतवर्ष में केवल यह एक हिन्दी भाषा भाषी जन समुदाय ही ऐसा अभागा है कि न तो जिसके देश का ही कोई नाम है और न जहां के देशवासियों को ही किसी एक नाम से पुकारा जा सकता है।” (1930 : 76)। कई नामों पर विचार करने के बाद धीरेन्द्र वर्मा ने इसे **हिन्दी राष्ट्र** या **सूबा हिन्दुस्तान** के नाम से पुकारे जाने की सिफारिश की। किन्तु असल सवाल ये है कि बंगाल, पंजाब की तरह हिन्दी क्षेत्र का कोई नाम क्यों नहीं बन पाया? जब तक इस सवाल का जवाब हम नहीं खोज लेते, तब तक हिन्दी क्षेत्र के भाषायी स्वरूप को भी भलीभांति नहीं समझ पायेंगे। एक भाषा के आधार पर बने पश्चिमी राष्ट्रों के मॉडल को हिन्दी क्षेत्र और अंततः समूचे भारत पर लागू करने से हिन्दी क्षेत्र के भाषायी वैशिष्ट्य और प्रकारांतर से समूचे भारत के भाषायी वैशिष्ट्य का सम्यक् बोध नहीं हो सकता। विडम्बना ये रही है कि ज्यादातर भाषावैज्ञानिकों, साहित्य और समाज के अध्येताओं ने भारत के भाषायी वैशिष्ट्य को एक भाषा पर आधारित पश्चिमी ढंग के राष्ट्र के मॉडल पर समझने की कोशिश की है। लेकिन उन्नीसवीं शताब्दी से पहले के भारत का भाषायी मानचित्र

इस मॉडल पर फिट नहीं बैठता, उसे काटछांट कर जबरन इस मॉडल में फिट करने की कोशिश की जाती है। भारत और विशेष रूप से भाखा क्षेत्र (जिसे सामान्य रूप से हिन्दी क्षेत्र कहते हैं) के भाषायी स्वरूप को भाषा और बोली के द्विआधारी विरुद्धों के जरिये नहीं व्याख्यायित किया जा सकता। सम्प्रति इस लेख में हम 'भाखा क्षेत्र' के भाषायी स्वरूप को समझने का प्रयास करेंगे। यद्यपि हमारा विश्वास है कि इसके निहितार्थ समूचे भारतीय भाषायी मानचित्र को समझने की दृष्टि से भी, थोड़े बहुत बदलाव के साथ, उपयोगी हैं।

'भाखा क्षेत्र' में स्थानीय मुहावरों/बोलियों की आत्मपूर्ण और निरपेक्ष कोटियां नहीं बनीं। क्योंकि भाखा क्षेत्र के ये क्षेत्रीय रूप शब्द सम्पदा और व्याकरण की दृष्टि से बहुत कुछ एक जैसे हैं। जो अंतर है वह क्रियाओं और उच्चारण में है। इसलिए भाखा क्षेत्र के ज्यादातर कवि एक से अधिक भाषायी मुहावरे/बोली/भाषा में लिखते हैं। ऐसा करना उनके लिए मुश्किल भी नहीं है, क्योंकि ये भाषायी मुहावरे मूलतः 'भाखा' के ही स्थानीय विशेषीकृत रूप हैं। भाखा के इन विविध स्थानीय रूपों के बनने के दौरान भी इनके बीच भाषायी, साहित्यिक और वैचारिक स्तर पर संवाद चलता रहता है। भाखा और भाखा के विविध स्थानीय रूप संस्कृत और फारसी जैसी शास्त्रीय भाषाओं से बहुत कुछ आत्मसात कर अपना 'विकास' करते हैं। इसलिए यह भी विचार का विषय है कि भाखा के ये विविध रूप संस्कृत और फारसी से किस प्रकार का सम्बंध बनाते हैं। यही नहीं, इसके निहितार्थों को विभिन्न क्षेत्रों, धर्मों, सम्प्रदायों और जातियों की संरचना और उनके अंतर्सम्बंध को समझने के लिए इस्तेमाल किया जा सकता है। असल में, भारतीय समाज की आंतरिक गतिकी (Internal Dynamics) को समझने की कुंजी हिन्दी क्षेत्र के भाषायी अंतःसम्बंध में छिपी है और यदि हम इस अंतःसम्बंध को समझने में सफल हो जायें तो भारतीय समाज के उस 'डायनेमिक' को डिकोड कर सकते हैं, जिसे अभी तक प्रायः आधुनिकता द्वारा प्रदत्त कोटियों में ढाल कर समझने की कोशिश की जाती रही है। असल में, अभी तक हमने क्षेत्रों, भाषाओं/बोलियों, धर्मों, सम्प्रदायों, जातियों की अस्मिताओं को जिस तरह समझने की कोशिश की है, वह वस्तुतः उन्नीसवीं सदी का औपनिवेशिक आविष्कार है और उसका उपनिवेशवाद से पहले के भारतीय समाज की नैसर्गिक गतिकी से ठीक ठीक सम्बंध नहीं बनता।

धीरेन्द्र वर्मा के उद्धरण के हवाले से ये बात आयी कि हिन्दी क्षेत्र का कोई नाम ही नहीं। जब हमने इस मुद्दे पर विचार करना शुरू किया तो इस ओर ध्यान गया कि हिन्दी क्षेत्र की भाषा का लम्बे समय तक कोई नाम नहीं था। और फिर मन में ये बात कौंधी कि हिन्दी क्षेत्र का अपना नाम न होने के पीछे कहीं ये कारण तो नहीं कि इस क्षेत्र की भाषा का भी काफी समय तक कोई नाम नहीं था। चौदहवीं पंद्रहवीं सदी में उत्तर भारत में भक्ति आंदोलन के प्रवर्तक कबीर की बहुचर्चित पंक्ति है *संस्कीरत है कूप जल, भाखा बहता नीर*। कबीर के इस कथन पर विचार करने पर समझ में आता है कि जो संस्कृत नहीं है, वह भाखा (भाषा) है। और भाखा बहते नीर की तरह है। भाखा को बहता नीर कहने का अभिप्राय यह है कि उसका कोई बंधा बंधाया, सुपरिभाषित और इक्सक्लूसिव रूप नहीं है। इसका स्वरूप लगातार बहते पानी की तरह बहता बदलता रहता है। एक ही समय में, अलग अलग क्षेत्रों में इस भाखा के स्वरूप में कुछ न कुछ फर्क दिखायी पड़ता है, क्योंकि इसका अभी कोई मानकीकृत, परिनिष्ठित रूप निर्धारित नहीं किया गया है। इसीलिए इस भाषा का अभी कोई व्यक्तिवाचक नाम नहीं है।

कबीर की पूर्वोक्त पंक्तियों को तो हम लम्बे समय से पढ़ते सुनते आये थे, लेकिन इसका मर्म उद्घाटित हुआ तब, जब उसे धीरेन्द्र वर्मा द्वारा उठायी गयी बात के प्रसंग में समझा गया। कबीर ने ये भी लिखा है कि *'बोली हमरी पूरबी'*। इस प्रसंग में ध्यातव्य है कि 'पूर्वी बोली' और 'भाखा

में कोई द्वंद्व या टकराव नहीं है। इसलिए इस सम्बंध को भाषा बनाम बोली के द्विआधारी विलोम में समझने की गलती नहीं करनी चाहिए। ऐसी गलती विभिन्न विद्वानों ने अभी तक दोहरायी है। कबीर की कविताओं की उपलब्ध भाषा में पंजाबी, राजस्थानी और खड़ी बोली के नमूने तो मिलते ही हैं, भोजपुरी और अवधी से प्रभावित पंक्तियां भी दिखायी पड़ती हैं। (1958 :131)। कहा जाता है कि कबीर की रचनाएं लगभग डेढ़ सौ सालों तक वाचिक परम्परा में चलती रहीं, फिर उन्हें लिपिबद्ध किया गया। इसलिए कबीर की उपलब्ध रचनाओं पर उस क्षेत्र विशेष की भाखा की छाप दिखायी पड़ती है, जिस क्षेत्र विशेष में उसे लिपिबद्ध किया गया। इसलिए ये दावे के साथ नहीं कहा जा सकता कि कबीर ने भाखा के विभिन्न क्षेत्रीय मुहावरों में अपनी बानियां गायीं। लेकिन महत्वपूर्ण बात ये है और इस पर ध्यान दिया जाना चाहिए कि इन अलग अलग क्षेत्रीय मुहावरों में उपलब्ध रचनाएं समूचे हिन्दी क्षेत्र में गायी, पढ़ी, सुनी और समझी जाती रही हैं। क्षेत्रविशेष के मुहावरे या भाषा के कारण उसकी व्याप्ति या सम्प्रेषणीयता बाधित नहीं होती, क्योंकि क्षेत्रीय भाषायी वैभिन्न्य के बावजूद ये भाखा में लिखी गयी रचनाएं हैं, इसीलिए समूचे भाखा क्षेत्र में ये समझी जाती हैं।

कबीर से भी पहले गोरखनाथ की रचनाओं को देखा जा सकता है। गोरखनाथ की उपलब्ध रचनाओं का समय, शिवप्रसाद सिंह के शब्दों में “13वीं शताब्दी से पहले नहीं माना जा सकता, क्योंकि ये भाषा की दृष्टि से उतनी पुरानी नहीं मालूम होतीं।” (1958 : 135)। शिवप्रसाद जी ने गोरखनाथ की काव्यभाषा में ‘भाखा क्षेत्र’ के चार रूपों के प्रयोग का उल्लेख किया है, जो इस प्रकार हैं पूर्वी, राजस्थानी, खड़ी बोली और ब्रजभाषा। (1958 : 135 138)। कबीर की तरह ही गोरखनाथ की उपलब्ध कविताओं के चार या उससे भी अधिक रूप समूचे हिन्दी क्षेत्र में समझे जाते हैं।

सुदीप्तो कविराज ने अपने एक लेख में लिखा है कि भारत में भाषाओं की चौहद्दियां बहुत धुंधली हैं। एक भाषा कहां खत्म होती है और दूसरी भाषा कहां शुरू होती है, ये तय कर पाना प्रायः आसान नहीं। इसका कारण यह है कि एक भाषा कहीं खत्म नहीं होती, वह दूसरी भाषा में क्रमशः रूपांतरित होने लगती है। एक भाषा के दूसरे भाषा में संक्रमण और रूपांतरण का क्षेत्र कई बार काफी बड़ा दिखायी पड़ता है और इस क्षेत्र की भाषा को किसी भी भाषायी चौखटे में फिट कर पाना लगभग असम्भव हो जाता है। इस परिप्रेक्ष्य में यदि भाखा क्षेत्र के विभिन्न स्थानीय भाषा रूपों को समझने का प्रयास करें तो यह स्पष्ट होता है कि इन स्थानीय रूपों को स्वतंत्र भाषा के रूप में अलगाना ही असम्भव है। क्योंकि कबीर के शब्दों में भाखा बहता नीर है और समतल मैदान पर बहने वाले भाखा के नीर में ऐसी ऊंचाई या गहरायी नहीं दिखायी पड़ती जिसके आधार पर इसे स्वतंत्र भाषाओं में बांटा जा सके। वैसे तो कहावत है कि चार कोस पर भाषा बदल जाती है, लेकिन इस तरह के बदलाव की बुनियाद पर स्वतंत्र भाषाओं की कल्पना नहीं की जा सकती। क्योंकि अंततः ये भाखा के ही क्रमशः परिवर्तित हो रहे रूप हैं। इनमें पारस्परिक साम्य इतना अधिक और परिवर्तन इतना क्रमिक है कि सुदीप्तो कविराज का दो भाषाओं के बीच धुंधली सीमारेखा का मॉडल यहां लागू नहीं होता। सम्भवतः इसीलिए भाखा के रचनाकार कई स्थानीय रूपों का एक साथ और कई बार उन्हें मिला कर प्रयोग करते हैं। ऐसा करने में न तो उन्हें कोई मुश्किल होती है और न ही पाठक/श्रोता को समझने में कोई दिक्कत आती है। सम्भवतः इसीलिए भाखा क्षेत्र के स्थानीय भाषायी रूपों को फारसी/संस्कृत या अपभ्रंश से मिला कर रेखा और सधुक्कड़ी के रूप में मिलीजुली भाषाएं विकसित करने और उनमें साहित्य लिखने का चलन दिखायी पड़ता है। स्थानीय रूपों को मिला कर एक मिलीजुली भाषा गढ़ लेने का ऐसा प्रयास इसीलिए स्वीकार्य और लोकप्रिय हुआ, क्योंकि इन स्थानीय रूपों में स्वतंत्र भाषा का स्वरूप ग्रहण करने लायक भिन्नता न थी। यह अकारण नहीं कि इस तरह की मिलीजुली भाषा

का चलन भाखा क्षेत्र के अलावा भारत के किसी और क्षेत्र में नहीं दिखायी पड़ता। रामविलास शर्मा की जाति महाजाति की थीसिस से इस प्रक्रिया की समुचित व्याख्या नहीं होती। यही नहीं, ये थीसिस भाखा क्षेत्र के बाहर किसी दूसरे क्षेत्र पर लागू भी नहीं की जा सकती।

कबीर सहित ज्यादातर संतों की बानियों की भाषा को हिन्दी में सधुक्कड़ी भाषा कहने का चलन रहा है। सधुक्कड़ी कहने का मतलब ही है कि उन्होंने किसी क्षेत्र विशेष की भाषा का प्रयोग नहीं, बल्कि विभिन्न क्षेत्रों की भाषाओं के मिलेजुले रूप का प्रयोग किया है। विद्वानों ने सधुक्कड़ी भाषा की बुनियाद खड़ी बोली से निर्मित मानी है और इस ओर ध्यान आकृष्ट किया है कि खड़ी बोली को मुसलमान शासकों द्वारा धार्मिक और राजनीतिक कारणों से प्रोत्साहन मिला। शिवप्रसाद सिंह के शब्दों में “14वीं 15वीं शताब्दी का संत आंदोलन भारतीय वैधी भक्ति परम्परा का विरोधी था, उस काल के संतों ने इस नयी भाषा को स्वीकार किया, कुछ तो अपने उपदेशों के प्रचार के लिए, लेकिन ज्यादा इसलिए कि वे शिष्ट वर्ग की साहित्यिक भाषा से वाकिफ नहीं थे।” (1958 : 138)। शिवप्रसाद जी ने आगे ये भी लिखा है कि “संतों की वाणियों की भाषा का अध्ययन करने पर मालूम होता है कि ये कवि क्रांतिकारी ओजस्वी उपदेशों, रुढ़ि खंडन, पाखंड विरोधी या उसी प्रकार के परम्पराप्रथित विचारों का विच्छेदन करने के लिए जिस भाषा का प्रयोग करते थे, वह नवोदित खड़ी बोली थी, किन्तु अपने साधना के सहज विचारों, रागात्मक उपदेशों, निजी अनुभूति की बात ब्रज भाषा में करते थे। रेखा या खड़ी बोली शैली में बाद में कुछ पद भी लिखे गये, किन्तु पदों की मूल भाषा ब्रज ही रही।” (1958 : 138)। खड़ी बोली/रेखा और संत कवियों की क्रांतिकारी और रुढ़िभंजक सधुक्कड़ी भाषा असल में मिलीजुली भाषाएं हैं, जिनमें भाखा क्षेत्र के विभिन्न रूपों का प्रयोग किया गया है। इमरे बंधा रेखा की कविता को मिलीजुली भाषा में लिखी गयी कविता कहते हैं। उन्होंने स्पष्ट किया है कि दक्खिन से बली के उत्तर उत्तर आने (1700 ई.) के बाद उत्तर भारत में मिलीजुली भाषा अर्थात् रेखा में कविता लिखने का सिलसिला कमजोर पड़ गया, क्योंकि उसी के बाद रेखा के फारसीकरण की शुरुआत हुई (2010)।

खड़ी बोली में साहित्य लेखन का उल्लेख चौदहवीं सदी से मिलता है, लेकिन सोलहवीं सदी से पहले खड़ी बोली में लिखे गये साहित्य का कोई साक्ष्य नहीं मिलता। खड़ी बोली का साहित्य कई लिपियों में लिखा गया; जैसे फारसी, अरबी, देवनागरी, गुरुमुखी, कैथी इत्यादि। इससे ये बात भी स्पष्ट होती है कि भाषा और लिपि का कोई सीधा सम्बन्ध यहां नहीं दिखायी पड़ता, क्योंकि भाषा कई लिपियों में लिखी जा सकती है और लिखी गयी। इसीलिए रेखा सिर्फ फारसी लिपि में नहीं लिखी गयी, नागरी लिपि में भी लिखी गयी। यही नहीं, रेखा में सिर्फ मुसलमानों और सूफियों ने साहित्य नहीं लिखा, बल्कि निर्गुण संतों और कृष्णभक्त कवियों ने भी लिखा। मुगलों और दूसरे मुसलमान शासकों के दरबारों में ही नहीं, सत्रहवीं सदी के राजस्थान के हिन्दू रजवाड़ों के दरबारों में भी रेखा लिखी गयी। अलग अलग समय व क्षेत्र में फारसी के अतिरिक्त अवधी, ब्रजभाषा, खड़ी बोली, पंजाबी और अपभ्रंश की मिलावट करके रेखा बनायी गयी।

यह सही है कि शुरुआती रेखा मुसलमानों के बीच विकसित हुई और इसे खड़ी बोली के बजाय ब्रजभाषा का आधार बना कर लिखा गया। खड़ी बोली का मुसलमानों से सम्बंध बाद में स्थापित हुआ। सोलहवीं सदी तक आते आते नागरी लिपि और भारतीय छंदों में खड़ी बोली को आधार बना कर और फारसी का मिश्रण कर रेखा में कविताएं लिखने का चलन काफी बढ़ गया। इस तरह की मिलीजुली भाषा में कविता लिखने का सबसे प्रमुख साक्ष्य दादू दयाल की रचनाओं में दिखायी पड़ता है। दादू की रचनाओं में आठ भाषाओं/बोलियों के नमूने आसानी से पहचाने जा सकते हैं। किन्तु

सत्रहवीं सदी के ज्यादातर संत कवियों ने रेखा में कविताएं नहीं लिखीं। यहां तक कि दादू दयाल के शिष्यों में भी रेखा में कविताएं लिखने का चलन नहीं दिखायी पड़ता है। इसका कारण ये है कि सत्रहवीं सदी के निर्गुण संत कवियों ने अपनी एक मिलीजुली भाषा विकसित कर ली, जिसे हिन्दी के विद्वानों ने सधुक्कड़ी या पंचमेल खिचड़ी कहा है।

अठारहवीं सदी में रेखा उर्दू में तब्दील हो गयी। ये भी दिलचस्प तथ्य है कि अठारहवीं सदी में, शेल्डन पोलक के शब्दों में कहें तो, ब्रजभाषा का कॉस्मोपोलिटन वर्नाक्युलर के रूप में वर्चस्व स्थापित होता है। निष्कर्ष ये कि अठारहवीं सदी से पहले तक सधुक्कड़ी और रेखा में व्यापक स्तर पर साहित्य रचा गया। यहां तक कि उन पदों पर, जिनकी मूलभाषा शिवप्रसाद जी ने ब्रज बताया है, रेखा की छाप दिखायी पड़ती है। इसे ही इमरे बंधा (2010) ने हिन्दी रेखा कहा है।

भाखा क्षेत्र और भाखा क्षेत्र के विभिन्न स्थानीय रूपों के अंतर्सम्बंध और फिर उनके बीच से दो कॉस्मोपोलिटन वर्नाक्युलर ब्रजभाषा और हिन्दी/उर्दू के विकास के इतिहास को समझने के लिए ये जानना जरूरी है कि रेखा और सधुक्कड़ी से क्या आशय है। इमरे बंधा (2010) ने लिखा है कि “*मैं उस किसी भी कविता को रेखा कहूंगा, जो ‘वृहद्’ फारसी, गुरुमुखी, कैथी लिपि में लिखी गयी हो और जो वर्नाक्युलर हिन्दवी (जिसमें ब्रजभाषा शामिल है) तथा कॉस्मोपोलिटन फारसी का सचेत रूप से मिश्रण करती हो। ये रेखा सधुक्कड़ी से भिन्न है। सधुक्कड़ी संतों द्वारा प्रयुक्त स्वतःस्फूर्त ढंग से मिश्रित साहित्यिक भाषा है। इसमें उत्तर भारतीय बोलियों और भाषाओं की मिलावट है। यद्यपि सधुक्कड़ी में संस्कृत, अरबी और फारसी के शब्द भी आ जाते हैं, फिर भी ये विभिन्न वर्नाक्युलर्स के स्वतःस्फूर्त मेल से बनी भाषा है।*” बंधा (2010) के अनुसार एक साहित्यिक भाषा के रूप में रेखा का निर्माण सोलहवीं या पंद्रहवीं सदी में सूफियों द्वारा किया गया। इसे मुगल दरबार से प्रोत्साहन मिला। इसका प्रयोग निर्गुण कवियों, जनमसाखी सिक्खों, कृष्णभक्तों, राजस्थान के सत्रहवीं अठारहवीं सदी के दरबारी कवियों और मिली जुली संस्कृति के पुरस्कर्ता अन्य रचनाकारों द्वारा किया गया। यहां ये बात ध्यान में रखने की जरूरत है कि सूफ़ी संतों ने उत्तर भारत में जिस प्रकार की हिन्दवी की हिमायत की वह कई बार खड़ी बोली या रेखा के बजाय ब्रजभाषा के ज्यादा नजदीक है। इमरे बंधा ने इसी लेख में विभिन्न विद्वानों द्वारा बताये गये भाषायी संकरता के कारणों का उल्लेख किया है। लेकिन हमारे इस लेख के प्रसंग में भाखा क्षेत्र में घटित होने वाली भाषायी संकरण की प्रक्रिया की तुलना किसी और क्षेत्र में घटित भाषायी संकरण की प्रक्रिया से नहीं की जा सकती। क्योंकि भाखा क्षेत्र के स्थानीय रूपों के बीच क्रियारूपों और उच्चारण के ढंग के अतिरिक्त साम्य इतना अधिक रहा है कि एक स्थानीय रूप को दूसरे क्षेत्रों में समझने में कोई खास दिक्कत नहीं होती थी। इसीलिए इस क्षेत्र के ज्यादातर कवि एक से अधिक स्थानीय भाषायी रूपों में कविताएं रचते थे। यही नहीं, सधुक्कड़ी या रेखा के रूप में विभिन्न स्थानीय भाषायी रूपों को मिला कर साहित्य लिखने का भी यहां खूब चलन रहा है। इसका निहितार्थ ये है कि भाषा के किसी स्थानीय रूप में साहित्य लिखने के साथ साथ भाषा क्षेत्र के विभिन्न स्थानीय रूपों को मिला कर साहित्य लिखने की प्रवृत्ति यहां भक्ति आंदोलन के प्रारम्भ से ही अर्थात् लोकभाषाओं में साहित्य लिखने की प्रक्रिया की शुरुआत के साथ ही दिखायी पड़ती है। इसी वजह से भाखा क्षेत्र के स्थानीय रूपों की स्वतंत्र भाषा के रूप में पहचान बनाने की कोई सचेत कोशिश यहां कभी नहीं की गयी। सधुक्कड़ी के रूप में विभिन्न भाषायी रूपों को मिलाने की परिणति अंततः ब्रजभाषा के विकास के रूप में दिखायी पड़ती है। अठारहवीं सदी के ज्यादातर निर्गुण कवियों ने ब्रजभाषा का ही इस्तेमाल किया। स्थानीय भाषा में सचेत रूप से फारसी मिला कर लिखी जाने वाली रेखा की परिणति अंततः उर्दू के रूप में हुई। भाखा क्षेत्र में इन दो कॉस्मोपोलिटन वर्नाक्युलर

के अभ्युदय और काफी कुछ उनकी सहज स्वीकृति के कारण इस क्षेत्र के स्थानीय भाषायी रूपों को अलग भाषा के रूप में खड़ा करने का कोई सचेत प्रयास नहीं हुआ। सम्भवतः इसीलिए राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान राष्ट्र के लिए एक भाषा चुनने का प्रश्न आया तो इस क्षेत्र के लोगों ने बिना किसी विरोध के हिन्दी/उर्दू/हिन्दुस्तानी को राष्ट्र की भाषा के रूप में स्वीकार कर लिया और अपने क्षेत्रीय भाषायी रूपों को स्वतंत्र भाषा के रूप में मान्यता दिलाने के लिए कोई उल्लेखनीय प्रयास नहीं किया। इस प्रक्रिया की व्याख्या राष्ट्रभाषा के लिए अपनी क्षेत्रीय बोली को कुर्बान कर देने की भावना के रूप में करना पूरी तरह सही नहीं है। क्योंकि यहां अपनी क्षेत्रीय बोली के साथ एक मिले जुले रूप को अपनाने की प्रवृत्ति पहले से रही है।

यह सही है कि इस दौर में क्षेत्रीय भाषायी अस्मिताओं के उभार दिखायी पड़ते हैं। लेकिन ये उभार दूसरी भाषायी अस्मिता के साथ उसके पारस्परिक सम्बंध का निषेध नहीं करते। अपनी इक्सक्लूसिव निरपेक्ष पहचान बनाने का प्रयास शायद ही कहीं दिखायी पड़ता हो। इसका एक कारण यह है कि जिसे हम क्षेत्रीय भाषायी अस्मिता के रूप में पहचानते हैं, उसके अपने क्षेत्र में ही क्रमशः परिवर्तित होने वाले कई रूप दिखायी पड़ते हैं। उसका कोई मानक रूप नहीं है जिसका उस क्षेत्र में प्रयोग होता हो। इसीलिए भोजपुरी और अवधी के तीन चार उपरूपों की कल्पना करनी पड़ी। विडम्बना यह है कि ये विभाजन भी किसी ठोस भाषिक व्यवहार पर आधारित नहीं है। इन कल्पित उपरूपों को भी कई टुकड़ों में बांटा जा सकता है। गांव की बात तो छोड़िये ही, एक ही शहर के अलग अलग मुहल्लों में एक ही बोली बोलने के रंगडंग में फर्क दिखायी पड़ता है। इस तरह के सारे विभाजन और उपविभाजन अंततः संदिग्ध हो जाते हैं और उनका कोई ठोस तार्किक आधार नहीं बन पाता। सच तो ये है कि खास तरह की ज्ञान मीमांसात्मक हिंसा को अंजाम दिये बिना क्षेत्रीय इक्सक्लूसिव अस्मिताओं का निर्माण ही नहीं हो सकता था। कहने की जरूरत नहीं होनी चाहिए कि आधुनिक राष्ट्र राज्य का निर्माण इसी प्रक्रिया के तहत हुआ, और शायद ही ऐसा कोई राष्ट्र बना हो जिसकी निर्माण प्रक्रिया पूरी तरह शांतिपूर्वक सम्पन्न हुई हो।

ये सही है कि 14वीं 15वीं शती में रेखा और सधुक्कड़ी के अतिरिक्त भाषा क्षेत्र के कुछ स्थानीय रूपों का भी साहित्य लेखन के लिए स्वतंत्र रूप से इस्तेमाल किया गया, जैसे अवधी, मैथिली और फिर ब्रजभाषा। लेकिन अभी भी 'भाषा क्षेत्र' के इन स्थानीय रूपों को सिर्फ भाखा या भाषा कहा गया। जैसे सोलहवीं सदी के अवधी के कवि तुलसीदास, अवधी में लिखने के बावजूद, अपनी भाषा को भाखा कहते हैं। सत्रहवीं सदी तक भाखा क्षेत्र की भाखा के सभी स्थानीय रूपों को भाखा ही कहा जाता था। 1676 में मिर्जा खां ने 'तुहफतुलहिन्द' में संस्कृत और प्राकृत के अतिरिक्त भाषा क्षेत्र के सभी स्थानीय रूपों को भाखा कहा है। यद्यपि 'जबाने अहले ब्रज' का जिक्र भी उनके यहां आता है। फकीरुल्लाह मिर्जा खां के समकालीन थे और उन्होंने ब्रज मंडल की भाषा को 'सुदेश' की भाषा कहा है। गोपाल नामक कवि ने अवश्य 'रसविलास' नामक ग्रंथ में ब्रजभाषा शब्द का प्रयोग इससे पहले किया है। माना जाता है कि ज्ञात और उपलब्ध स्रोतों में यह 'ब्रजभाषा' शब्द का सबसे पुराना प्रयोग है। लेकिन ब्रजभाषा शब्द का बड़े पैमाने पर चलन अठारहवीं सदी में ही दिखायी पड़ता है। क्योंकि सत्रहवीं सदी के ही प्रसिद्ध कवि केशवदास ने कविताएं तो ब्रजभाषा में लिखीं, लेकिन उसे ब्रजभाषा नहीं, सिर्फ भाषा कहा। इससे ये सिद्ध होता है कि गोपाल कवि के द्वारा ब्रजभाषा शब्द का प्रयोग करने के बावजूद 17वीं सदी में भी भाषा या भाखा का ही प्रयोग ब्रजभाषा के लिए किया जाता था। केशवदास ने लिखा है *भाषा बोलि न जानहि जिनके कुल के दास/भाषा में कविता करी, जड़मति केशवदास ।।*

केशवदास लिखते हैं ब्रजभाषा में, लेकिन उसे कहते हैं भाषा। केशवदास की तरह तुलसीदास ने रामचरितमानस लिखा अवधी में, लेकिन कहा कि ये भाषा में लिखा गया है। तुलसीदास की पंक्तियाँ देखिए :

(i) भाखाबद्ध करौं मैं सोई, मोरे मन प्रबोध जो होई ॥

(ii) स्वांतःसुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा
भाषा निबद्ध मति मंजुलमातिनोति ॥

बनारसीदास जैन ने अपनी आत्मकथा 'अर्द्धकथानक' (1641) में ब्रजभाषा को 'मध्यदेश की बोली' कहा है। केशवदास के तरह ही चिन्तामणि त्रिपाठी ने 1675 में लिखित 'कविकल्पतरु' (1875) में सुर वाणी की कविता के बजाय भाषा कवित्त की बात की है। भाषा के आगे ब्रज का इस्तेमाल उन्होंने भी नहीं किया है। हरिहर निवास द्विवेदी (1955) ने लिखा है कि बंगाली वैष्णव भक्तों के प्रभाव से ब्रजभाषा शब्द का चलन 17वीं सदी में बढ़ा। इनके अनुसार मध्यदेश की बोली के साथ साथ 'मध्यदेशिया भाषा' का भी ब्रजभाषा के लिए प्रयोग होता था। किशोरी लाल (1971) ने दिखाया है कि फारसी विद्वानों के बीच ब्रजभाषा के लिए 'ज़बाने ग्वालियर' पद का चलन था।

रामचंद्र शुक्ल के अनुसार "मुसलमान लोग भाषा शब्द का व्यवहार साहित्यिक हिन्दी भाषा के लिये करते थे जिसमें आवश्यकतानुसार संस्कृत के शब्द आते थे चाहे वह ब्रजभाषा हो, चाहे खड़ी बोली। तात्पर्य यह कि संस्कृतमिश्रित हिन्दी को ही उर्दू फारसीवाले 'भाषा' कहा करते थे। 'भाखा' से खास ब्रजभाषा का अभिप्राय उनका नहीं होता था, जैसा कुछ लोग भ्रमवश समझते हैं। जिस प्रकार वे अपनी अरबी फारसी मिली हिन्दी को 'उर्दू' कहते थे उसी प्रकार संस्कृत मिली हिन्दी को 'भाखा'। भाषा का शास्त्रीय दृष्टि से विचार न करने वाले या उर्दू की ही तालीम खास तौर पर पाने वाले कई नये पुराने हिन्दी लेखक इस 'भाखा' शब्द के चक्कर में पड़ कर ब्रजभाषा को हिन्दी कहने में संकोच करते हैं। 'खड़ीबोली पद्य' का झंडा लेकर घूमनेवाले स्वर्गीय बाबू अयोध्याप्रसाद खत्री चारों ओर घूम घूम कर कहा करते थे कि अभी हिन्दी में कविता हुई कहाँ, सूर, तुलसी, बिहारी आदि ने जिसमें कविता की है वह तो 'भाखा' है, 'हिन्दी' नहीं। सम्भव है इस सड़े गड़े खयाल को लिए अब भी कुछ लोग पड़े हों।" (1988 : 285)

शुक्ल जी के ऊपर दिये गये उद्धरण से यह भ्रम फैलने की गुंजाइश लगती है कि भाषा शब्द का प्रयोग मुसलमान साहित्यिक हिन्दी भाषा के लिए करते थे और अरबी फारसी मिली हिन्दी को उर्दू कहते थे। 19वीं 20वीं सदी के लिए यह बात सही हो तो हो, लेकिन इससे पहले भाषा/भाखा का प्रयोग हिन्दी क्षेत्र के रचनाकारों ने इस क्षेत्र के विभिन्न भाषायी रूपों के लिए किया है। संस्कृत फारसी से इतर हिन्दी क्षेत्र के स्थानीय भाषायी रूपों के लिए 17वीं सदी तक भाषा/भाखा शब्द का प्रयोग किया जाता रहा। 17वीं सदी के उत्तरार्द्ध में ब्रजभाषा शब्द का चलन हुआ, इससे पहले ब्रजभाषा को भी सिर्फ भाखा कहा जाता था। असल में, हिन्दी क्षेत्र के रचनाकार जिसे भाखा कहते थे, उसे ही फारसी ग्रंथों में 'हिन्दवी', 'हिन्दुई' या 'हिन्दी' कहा जाता था। 19वीं सदी आते आते यह जरूर हुआ कि हिन्दी का अर्थ हिन्दी या उर्दू रह गया और हिन्दी क्षेत्र के बाकी भाषायी रूपों को ही भाखा कहा जाने लगा। दिलचस्प है कि ब्रजभाषा पद चलन में आ जाने के बाद भी हिन्दी प्रदेश के रचनाकारों की भाषा को भाखा ही कहा जाता था। यहां तक कि शिवसिंह सेंगर ने 1887 में प्रकाशित 'शिवसिंह सरोज' में हिन्दी क्षेत्र के कवियों को भाखा का कवि ही कहा है। (1970 : भूमिका)

हिन्दीतर क्षेत्र में भी हिन्दी क्षेत्र की भाषा को भाखा/भाषा कहने के साक्ष्य मिलते हैं। 'राधामाधवविलासचम्पू' (शक सन्वत् 1575 से 1580 के बीच, 1654 ई.) एक ऐसी रचना है जो शाहजी

भोंसले के दरबार में जयरामपिंड्ये द्वारा बंगलौर में लिखी गयी। इसमें बारह भाषाओं में कविताएं लिखी गयी हैं। इस ग्रंथ में भी उत्तर भारतीय भाषा के विविध रूपों में लिखी गयी कविताओं को सिर्फ भाखा कहा गया है। मराठा और रेखा शब्द का प्रयोग तो मिलता है, लेकिन हिन्दी क्षेत्र के विभिन्न स्थानीय भाषा रूपों का नामोल्लेख कहीं नहीं है, उन्हें सिर्फ भाखा कहा गया है। इस दौर के रचनाकार दूर दूर तक भ्रमण करते थे और स्थानीय भाषा के विविध रूपों में या उन्हें मिला कर रचनाएं करते थे। काशी के कवीन्द्राचार्य सरस्वती के अभिनंदन में विभिन्न कवियों द्वारा लिखे गये ग्रंथ 'कवीन्द्रचंद्रिका' का उल्लेख आवश्यक है, जिसमें कुछ नाम ऐसे भी हैं, जो 'राधामाधवविलासचम्पू' में भी मिलते हैं। जयरामपिंड्ये का नाम भी 'कवीन्द्रचंद्रिका' में है। लेकिन राजमल बोरा के शब्दों में 'यह निश्चित नहीं है कि ये चम्पू के रचयिता हैं।' (1968 : 219) राजमल बोरा ने इन दोनों ग्रंथों के आधार पर जो निष्कर्ष निकाला है, वो ज्यादा महत्वपूर्ण है। उनके अनुसार "कवि लोग शाहजहां के काल में वाराणसी से बंगलौर तक आया जाया करते थे और वे जहां जहां जाते वहां के कवियों से सम्पर्क स्थापित करते और इनमें विचारों तथा भावों का आदान प्रदान होता।" (1968 : 220)

अंततः अठारहवीं सदी में न केवल ब्रजभाषा शब्द का प्रयोग बड़े पैमाने पर होने लगता है, बल्कि ये समझाने का भी प्रयास किया जाता है कि ब्रजभाषा का विकास कैसे हुआ। अठारहवीं सदी के अवधि क्षेत्र के रहने वाले और काव्यशास्त्र के आचार्य भिखारीदास ने ब्रजभाषा के विकास में छः भाषाओं के योगदान की चर्चा की है :

ब्रजभाषा भाषा रुचिर, कहैं सुमति सब कोई।
मिल संस्कृत पारस्यौ, पै अति प्रगट जु होई।।
ब्रज मागधी मिलै अमर, नाग यवन भाखानि।
सहज पारसी हूं मिलै, षट विधि कहत बखानि।।

(1957)

ब्रजभाषा के विकास में भिखारीदास ने संस्कृत, फारसी, मागधी, नाग और यवन भाषाओं का उल्लेख किया है। मिर्जा खां के ब्रजभाषा व्याकरण से पता चलता है कि प्राकृत को पातालबानी और नागबानी भी कहा जाता था। इसलिए नागभाषा से आशय प्राकृत भाषा है। शुक्ल जी के अनुसार मागधी का आशय अवधी समेत पूर्वी हिन्दी की सभी बोलियों से है। इससे पहले भाखा शब्द का प्रयोग भाखा क्षेत्र के किसी भी स्थानीय रूप के लिए किया जा सकता था और किया जाता था। भाखा का मतलब होता था भाखा क्षेत्र में बोली जाने वाली भाखा। कबीर ने इसी अर्थ में भाखा को बहता नीर कहा था। भाखा शब्द कबीर के यहां भाषा क्षेत्र के किसी विशिष्ट स्थानीय रूप का सूचक नहीं। भाखा एक भाववाचक संज्ञा है। मिर्जा खां के 1676 में लिखित ब्रजभाषा व्याकरण से ये समझ में आता है कि सत्रहवीं सदी के उत्तरार्ध तक आते आते भाषा शब्द का प्रयोग ब्रजभाषा और भाखा क्षेत्र के सभी स्थानीय रूपों के लिए किया जाने लगा। मिर्जा खां ने अपने व्याकरण में संस्कृत, प्राकृत के बाद भाखा का उल्लेख किया है। भाखा के बारे में उन्होंने लिखा है कि "इसमें प्रेमी प्रेमिका को लेकर अलंकृत कविता लिखी जाती है। ये उस दुनिया की भाषा है, जिसमें हम रहते हैं। इसका प्रयोग संस्कृत और प्राकृत को छोड़ कर बाकी सभी भाषाओं के लिए किया जाता है।" (पृ. 34 और 7)

मिर्जा खां के इस विवरण से स्पष्ट होता है, जैसा कि पहले कहा गया, भाखा शब्द का प्रयोग अलंकृत या शृंगार रस प्रधान ब्रजभाषा में लिखी गयी कविताओं के लिए किया जाने लगा और इसमें संस्कृत और प्राकृत के अतिरिक्त सभी 'भाषाओं' को अंतर्भुक्त मान लिया गया। इसका निहितार्थ ये है कि सत्रहवीं सदी के उत्तरार्ध तक भाखा शब्द का प्रयोग दोनों अर्थों में होता था; एक, भाखा

क्षेत्र के सभी स्थानीय रूपों के लिए और दो, ब्रजभाषा के लिए। जैसे तुलसीदास ने सोलहवीं सदी में भाखा शब्द का प्रयोग भाखा क्षेत्र के स्थानीय रूप अवधी के लिए किया था, वैसे ही सत्रहवीं सदी में केशव ने भाखा शब्द का प्रयोग भाखा क्षेत्र के स्थानीय रूप ब्रजभाषा के लिए किया। लेकिन अठारहवीं सदी में ब्रजभाषा में लिखी गयी कविताओं को भाषा में लिखी गयी कविता कहने के बजाय ब्रजभाषा में लिखी गयी कविता कहा जाने लगा। यही नहीं, जैसा कि पहले कहा गया, भाखा क्षेत्र के अन्य स्थानीय रूपों को ब्रजभाषा में अंतर्भुक्त मान लिया गया। शैलडन पोलक के शब्दों में, भाखा क्षेत्र में ब्रजभाषा की स्थिति कॉस्मोपोलिटन वर्नाक्युलर जैसी बन गयी। (1998 : 6 37) इसके बावजूद इस दौर के कुछ ऐसे कवि जो सिर्फ ब्रजभाषा में नहीं लिखते हैं, वे अपनी भाषा को नाम देने से हिचकते हैं। जैसे गिरधर कविराय ने उस दौर की भाषा को नरभाषा कहा है। क्योंकि संस्कृत देवभाषा है, इसलिए मनुष्यों द्वारा व्यवहार में लायी जाने वाली भाषा नरभाषा हुई। इसलिए नरभाषा को भाषा/भाखा के पर्याय के रूप में ही लेना चाहिए।

(5)

“पंजाब का विभाजन करने वाली रेखा कहाँ होनी चाहिए, इस विषय पर दोनों में बहुत चर्चा होती, परंतु उनमें भी कोई समझौता सम्भव न होता, मिर्जा पाकिस्तान की सीमा में अम्बाला और फीरोजपुर तक सम्मिलित करने के पक्ष में था। उसका तर्क था पंजाब एक है; उसके टुकड़े नहीं होने चाहिए।

महेन्द्र आपत्ति करता ‘लायलपुर, मिंटगुमरी, सरगोधा और शेखूपुरा की शहरी आबादियों में सत्तर अस्सी प्रतिशत भूमि और आबादी सिक्खों और हिन्दुओं की है। वे पाकिस्तान में क्यों रहें। क्या वे लोग अपनी भूमि उठा कर हिन्दुस्तान ले जायें? हिन्दुस्तान की सीमा वहाँ ही क्यों न हो!’

‘उन्हें पाकिस्तान में रहने से कौन मना करता है!’

‘तो मुस्लिम प्रधान पंजाब को ही हिन्दुस्तान का अंग बना रहने में क्या आपत्ति है?’ प्रकट में झगड़ा न होने पर भी दोनों की बातचीत कम होती जा रही थी।’ यशपाल, (2010 : 232 233)

भारत में पश्चिम के ‘लैंग्वेज नेशन प्रोजेक्ट’ के तहत उन्नीसवीं सदी में भाषा के क्षेत्रीय रूपों की इक्स्क्लूसिव पहचान बनाने का प्रयास पश्चिम और भारत के विद्वानों ने किया। लेकिन सदियों से चली आ रही पारस्परिक सम्बद्धता की वजह से भाषायी क्षेत्रीय पहचान ने स्वतंत्र राष्ट्र निर्माण की मांग का रूप नहीं लिया। पश्चिम के वजन पर देखें तो भारत में उतने राष्ट्र बनेंगे जितनी क्षेत्रीय भाषाएं स्वीकार्य होंगी। क्षेत्रीय भाषायी अस्मिताओं का चाहे जितना विस्तार हुआ हो लेकिन इस प्रक्रिया का कभी भी स्वतंत्र राष्ट्रीय पहचान में रूपांतरण नहीं हुआ। स्वतंत्र राष्ट्र निर्माण का आधार भाषा नहीं बन पायी, इसलिए धार्मिक भिन्नता के आधार पर स्वतंत्र राष्ट्र बनाने का प्रयास किया गया और उसमें सफलता भी हासिल हुई। जैसाकि अमर्त्य सेन (2007) ने अपनी पुस्तक ‘आइडेन्टिटी एंड वायलेन्स’ में दिखाया है कि पहचान के कई आयाम होते हैं। सिर्फ धार्मिक आधार पर गढ़ी गयी पहचान प्रायः एकायामी और हिंसक होती है। सिर्फ धार्मिक भिन्नता के आधार पर बने राष्ट्रों की विडम्बना यह है कि अपना स्वतंत्र वजूद कायम रखने के लिए उन्हें किसी न किसी रूप में, चाहे अनचाहे, धार्मिक भिन्नता की भावना को हवा देनी पड़ती है। प्रसेनजित दुआरा (2012) ने अपने एक लेख में दिखाया है कि आरम्भिक आधुनिक दौर में विभिन्न सभ्यताओं के बीच पारस्परिक आदान प्रदान का सिलसिला बहुत तेजी से आगे बढ़ता है। यही कारण है कि उस दौर के इतिहास को भिन्नता नहीं, बल्कि सम्बद्धता के सहारे बेहतर ढंग से व्याख्यायित किया जा सकता है। लेकिन राष्ट्रवाद के अभ्युदय के साथ सम्बद्धता

के सूत्रों के निषेध का सिलसिला शुरू हो जाता है और इक्स्क्लूसिव भिन्नताओं पर जोर दिया जाने लगता है।

अठारहवीं सदी के दौरान भाखा क्षेत्र में दो भाषायी रूपों, जिन्हें आज ब्रज और हिन्दी उर्दू के रूप में जाना जाता है, का वर्चस्व स्थापित हो गया। हिन्दी उर्दू की कहानी से तो हम वाकिफ हैं, लेकिन ब्रजभाषा के विस्तार के किस्से को हम भूल चुके हैं। विद्वानों ने इस ओर संकेत किया है कि खड़ी बोली के समानांतर दक्खिनी और गुर्जरी का विकास सोलहवीं सदी में दिखायी पड़ता है। लेकिन उल्लेखनीय तथ्य ये भी है कि गुजरात समेत भारत के कई क्षेत्रों में अठारहवीं सदी तक ब्रजभाषा का बड़े पैमाने पर विस्तार हो चुका था। इन क्षेत्रों में ब्रजभाषा में कविता लिखने और ब्रजभाषा सिखाने की परम्परा सुदृढ़ हो गयी थी। महाराष्ट्र के कवियों ने भी भाखा क्षेत्र की बानियों में भक्ति की कविताएं लिखी थीं। इसलिए भाखा क्षेत्र के अतिरिक्त वृहत्तर भाखा क्षेत्र भौगोलिक दृष्टि से भाखा क्षेत्र से अलग पड़ने के बावजूद भाखा क्षेत्र की बोली/बानियों से प्रभावित होता रहा है और उन्हें प्रभावित भी करता रहा है। कुछ प्रसंगों में तो उसकी भूमिका भाषा क्षेत्र में घटित होने वाले भाषायी परिवर्तन में निर्णायक रही है।

ये कहना पूरी तरह सही नहीं है कि राष्ट्रवादी आग्रह के कारण समूचे भाखा क्षेत्र में इस क्षेत्र के स्थानीय रूपों को दरकिनार कर हिन्दी का आरोप कर दिया गया। असल में 19वीं सदी तक आते आते भाखा क्षेत्र में इस क्षेत्र के दो कॉस्मोपोलिटन भाषा रूपों का विकास और वर्चस्व हो चुका था, जिन्हें ब्रजभाषा और हिन्दी/उर्दू के रूप में जाना जाता है।

ये सच है कि 18वीं सदी में ब्रजभाषा का वर्चस्व भाखा क्षेत्र और वृहत्तर भाखा क्षेत्र में कायम हो चुका था। लेकिन शासन प्रशासन से जुड़ी हुई भाषा होने के कारण उर्दू का प्रयोग ब्रजभाषा की तरह सिर्फ साहित्य लेखन के लिए नहीं, बल्कि शहरों में वैचारिक आदान प्रदान तथा प्रशासनिक कार्यों के लिए भी किया जाने लगा था। इसलिए भाखा क्षेत्र की एक भाषा के रूप में उर्दू/हिन्दी का दावा ब्रज के मुकाबले ज्यादा मजबूत साबित हुआ। ये जरूर है कि खड़ी बोली पर आधारित फारसीकृत उर्दू को हिन्दी बनाने की प्रक्रिया में उस समूचे ऐतिहासिक विकासक्रम को लगभग उलट दिया गया, जिसके परिणामस्वरूप पहले रेखा और फिर 1700 के आसपास फारसी बहुल उर्दू का विकास हुआ था। उन्नीसवीं बीसवीं सदी में भाखा क्षेत्र के विभिन्न स्थानीय रूपों और फारसी के प्रचलित शब्दों को हटा कर एक तत्सम प्रधान संस्कृत बहुल हिन्दी गढ़ने की कोशिश की गयी। इस प्रक्रिया में रेखा एवं सधुक्कड़ी की साझी और मिलीजुली विरासत को दरकिनार कर दिया गया।

उन्नीसवीं सदी में भारतेन्दु के द्वारा कविता की भाषा के रूप में ब्रजभाषा को न छोड़ पाने के पीछे ब्रजभाषा की सुदीर्घ साहित्यिक सांस्कृतिक परम्परा की भी भूमिका थी। उल्लेखनीय है कि ब्रजभाषा और उर्दू का अंतर सिर्फ लिपि और शब्द चयन के कारण नहीं है, सांस्कृतिक विरासत के भिन्न स्रोतों से अपना सम्बंध जोड़ने के कारण भी है।

आधुनिक युग की जरूरतों और व्यावहारिक तकाजों की दृष्टि से हिन्दी का एक मानक रूप तय करने के दौरान भाखा के विभिन्न स्थानीय रूपों को पूरी तरह दरकिनार कर हम हिन्दी क्षेत्र के सांस्कृतिक वैविध्य और उसकी पूर्व परम्परा के साथ न्याय नहीं कर पाये। एक शुद्ध हिन्दी गढ़ने के पीछे औपनिवेशिक प्रभुओं के भाषा परिवार विषयक चिन्तन की भी छाप सहज ही पहचानी जा सकती है। यह सही है कि समय समय पर नाना कारणों से इस क्षेत्र में अनेक ऐसे केन्द्र बने, जिनकी पहचान भाखा के स्थानीय रूपों के आधार पर की जा सकती है। किन्तु समस्या यह भी है कि कई क्षेत्रों में भाषा के स्थानीय रूपों का साहित्य संस्कृति की भाषा के रूप में उन्नयन ही नहीं हुआ। ऐसा क्यों हुआ? सम्भवतः हिन्दवी/ब्रजभाषा के कॉस्मोपोलिटन रूप ने इस सम्भावना का निषेध कर दिया।

(6)

भाखा के इन विविध रूपों में जो साहित्य लिखा गया उसका गहरा सम्बंध संगीत और अन्य कला रूपों से रहा है। यह साहित्य एक से अधिक लिपि में लिखा गया है फिर भी अपने प्रदर्शनकारी/वाचिक (Performative/recitative) चरित्र के कारण इसकी पहुंच उन लोगों तक भी होती रही है जो उस लिपि को नहीं जानते, जिसमें इसे लिखा गया। यही नहीं, यह साहित्य अपने प्रदर्शनकारी (Performative character) चरित्र के कारण उन लोगों तक भी पहुंचता है जो आज के मुहावरे में निरक्षर हैं। इसलिए भाषा के लिखित रूप और वाचिकता के बीच गहरे सम्बंध पर भी गम्भीरतापूर्वक विचार करने की जरूरत है।

भाखा के इन विभिन्न रूपों ने अपने विकास के दौरान शास्त्रीय भाषाओं के साहित्य से ही नहीं, लोकसाहित्य से भी बहुत कुछ ग्रहण किया है। यही नहीं, लोकसाहित्य का चरित्र तो प्रदर्शनकारी (Performative) है ही, लिखित साहित्य का चरित्र भी प्रदर्शनकारी/वाचिक (Performative/recitative) है। यह वो बिन्दु है जहां लोकसाहित्य और लिखित साहित्य पुनः एक दूसरे के सम्पर्क में आ जाते हैं।

विभिन्न प्रकार के सांस्कृतिक धार्मिक प्रभावों के परिणामस्वरूप निर्मित अनेक केन्द्र तो हिन्दी क्षेत्र में दिखायी पड़ते हैं, किन्तु भाखा की ही तरह इन केन्द्रों को पूर्णतः आत्मपूर्ण और दूसरे केन्द्रों से निरपेक्ष कोटियों के रूप में व्याख्यायित नहीं किया जा सकता। जैसे अवध के केन्द्र में कृष्ण काव्य की परम्परा दिखायी पड़ती है और ब्रज क्षेत्र में रामकाव्य परम्परा का अभाव नहीं है। एक भाषायी केन्द्र में ही विभिन्न परम्पराओं के बीच संवाद और सह अस्तित्व दिखायी पड़ता है। ये भी सोचने की जरूरत है कि कोई सांस्कृतिक धार्मिक परम्परा पूरी तरह नये सिरे से किसी केन्द्र का निर्माण नहीं करती, बल्कि पहले से चली आ रही परम्पराओं से वाद विवाद संवाद करते हुए, उस केन्द्र पर एक नयी परत चढ़ाती है। इसलिए किसी केन्द्र का अध्ययन क्षेत्रीय और लम्बवत दोनों दृष्टियों से किया जाना चाहिए। इसका निहितार्थ यह है कि चली आ रही परम्पराएं नयी परम्परा को यथावत् स्वीकार नहीं करतीं, बल्कि उसे अपने ढंग से ढालती और बदलती हैं। इसका मतलब यह भी है कि शास्त्रीय परम्पराओं का इन केन्द्रों के इर्दगिर्द जितना गहरा प्रभाव होगा, उतना गहरा प्रभाव केन्द्र से दूर जाने पर नहीं दिखायी पड़ेगा। इसलिए हिन्दी क्षेत्र की सांस्कृतिक बनावट को सिर्फ शास्त्रीय परम्परा के केन्द्रों के आधार पर ठीक से व्याख्यायित नहीं किया जा सकता। लोकजीवन के दैनंदिन व्यवहार के गम्भीर अध्ययन के बिना हिन्दी क्षेत्र की सांस्कृतिक बनावट की समग्रता को नहीं समझा जा सकता।

स्पष्ट है कि पश्चिमी अध्येताओं ने भारत के भाषायी मानचित्र का अध्ययन, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, भाषा और राष्ट्र की परियोजना के तहत किया। यह स्वाभाविक था कि वे भारतीय भाषाओं की पारस्परिक सम्बद्धता के बजाय भिन्नता पर जोर देते। मैं पूरी विनम्रता के साथ यह प्रस्ताव करना चाहता हूं कि भारतीय भाषाओं के चरित्र को भिन्नता के बजाय पारस्परिक सम्बद्धता के पैराडाइम में देखने की जरूरत है। पारस्परिक सम्बद्धता के पैराडाइम में देखने पर भारतीय भाषायी मानचित्र की तस्वीर बहुत कुछ बदल जाती है। और फिर मनमाने ढंग से निर्मित की गयी भिन्नता में एकता देखने की कोशिश का खोखलापन भी उजागर हो जाता है। भाषाएं ही नहीं भारत की क्षेत्रीय संस्कृतियों के सम्बंध भी पारस्परिक सम्बद्धता के पैराडाइम में ज्यादा बेहतर ढंग से समझे जा सकते हैं। वह एक स्वतंत्र अध्ययन का विषय है और उसे अंजाम देने के लिए एक नहीं, अनेक लोगों को मिल कर काम करना होगा। लेकिन यह काम अवश्य ही किया जाना चाहिए। क्योंकि इस तरह के

काम से ही वास्तविक भारत और उसकी नैसर्गिक गति का बोध सम्भव होगा और औपनिवेशिक आधुनिकता द्वारा निर्मित की गयी भारत की छवि की सीमाओं और विडम्बनाओं का एहसास होगा। और तभी सही मायने में भारत के उत्तर औपनिवेशिक सांस्कृतिक पुनर्पाठ की शुरुआत होगी।

(अंग्रेजी विभाग, बीएचयू के प्रो. संजय कुमार और प्रो. अर्चना कुमार के प्रति अपना आभार प्रकट करता हूँ। इस लेख को तैयार करने में मुझे इनके विचारों का लाभ मिला। इस लेख की पांडुलिपि तैयार करने में मेरे प्रिय शोधछात्रों अशोक सिंह यादव और सुकेश लोहार ने योगदान दिया। उन्हें साधुवाद!)

संदर्भ

1. ऑर्सिनी, फ्रेन्चेस्का, 2014, 'आफ्टर तैमूर लेफ्ट', आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली।
2. कविराज, सुदीप्तो, 2012, 'द इमेजिनरी इंस्टीट्यूशन आव इंडिया', पर्मानेंट ब्लेक, रानीखेत।
3. खां, मिर्जा, (अदिनांकित), 'ए ग्रामर आव ब्रज भाषा' (1676 ई.), विश्व भारती बुक शॉप, कलकत्ता।
4. गुप्त, किशोरीलाल (सम्पादक), 1970, 'शिवसिंह सरोज' (1887), हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग।
5. जैन, बनारसीदास, 1943, अर्द्धकथा सं. माता प्रसाद गुप्त, प्रयाग : प्रयाग विष्वविद्यालय, हिन्दी परिषद।
6. टी. विजयेन्द्र, 2011, 'संस्कृत एंड द इंडियन लैंग्वेज फेमिलिस', फ्रंटेयर।
7. टॉलबॉट, सिन्थिया, 2011, 'नोइंग इंडिया', योदा प्रेस, नयी दिल्ली।
8. टॉमस आर. ट्राटमान, 2006, 'लैंग्वेज एंड नेशन : द द्राविडियन प्रूफ्स आव कॉलोनियल मद्रास', योदा प्रेस, नयी दिल्ली।
9. टॉमस आर. ट्राभान, 2008, 'आर्यन एण्ड ब्रिटीश इण्डिया', योदा प्रेस, नयी दिल्ली।
10. डालमिया, वसुधा, 2014, 'रिलिजियस इंटरैक्शन इन मुगल इंडिया', आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली।
11. त्रिपाठी, चिन्तामणि, 1875, कविकल्पतरु (1670), नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ।
12. थापर, रोमिला, 2014, 'द पास्ट बिफोर अस, हिस्टोरिकल ट्रेडिशन आफ अर्ली नार्थ इंडिया', परमानेंट ब्लेक, नयी दिल्ली।
13. थारू, सुसी, 1994, 'अरेंजमेण्ट आव एन एलायंस इंग्लिश एंड द मेकिंग आव इंडियन लिटरेचर', रीथिंकिंग इंग्लिश एसे इन लिटरेचर, लैंग्वेज हिस्ट्री, सम्पा. स्वाति जोशी, ओ.यू.पी., दिल्ली।
14. दया कृष्ण, 2012, 'सिविलाइजेशन', इंडियन इंस्टीट्यूट आव एडवांस स्टडी एंड सेज पब्लिकेशन, नयी दिल्ली।
15. दास, गगनेन्द्र नाथ, 2006, फकीर मोहन सेनापतिज डिस्कवरी फ्रम विलो : डिक्लोनैजेशन एंड सर्व फॉर लिंग्विस्टिक अर्थेंसिटी, इकनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली, नवम्बर, 18, 2006
16. दुआरा, प्रसेनजित, 2012, हिस्टोरिकल टेम्पेरलटीज एंड कम्पटीटिव सोसाइटीज : द प्लेस आव द अर्ली मॉडर्न, अप्रकाशित।
17. द्विवेदी, हरिहर निवास, 1955, मध्यदेशिय भाषा, ग्वालियर विद्यामंदिर प्रकाशन।
18. पोलक, शेल्डन, 1998, 'द कॉस्मोपॉलिटैन्ट वर्नाक्यूलर', द जर्नल आव एशियन स्टडीज, वाल्यूम 57, नं. 1 (फरवरी, 1998) पृष्ठ 6, 37।
19. जोसफ शेल्डल, 2011, 'फॉर्म्स आफ नॉलेज इन अर्ली मॉडर्न इंडिया', मनोहर पब्लिकेशन, नयी दिल्ली।
20. फूकन, शांतनु, 2001, 'थ्रू थ्रोत्स व्हेअर मेनी रीवर्स मीट : द इकोलॉजी आव हिन्दी इन पर्सियन वर्ल्ड', इंडियन इकॉनामि एण्ड सोशल हिस्ट्रि रिव्यू, 38 : 33

21. बंधा, इमरै, 2010, 'रेख्ला : पोएट्री इन मिक्स्ड लैंग्वेज इन 'विफोर द डिवाइड', सम्पा. फ्रेंचेस्का आर्सिनी, ऑरिएंट एंड ब्लेक स्वान, हैदराबाद।
22. बाजपेयी, किशोरीदास, 1998, 'हिन्दी शब्दानुशासन', नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी।
23. बुश, एलिसन, 2012, 'पोएट्री आव किंग्स : द क्लासिकल हिन्दी लिटरेचर आव मुगल इंडिया', आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस।
24. बोरा, राजमल, 'राधामाधवविलासचम्पू : एक बहुभाषी रचना', नागरी प्रचारिणी पत्रिका, अंक : 1 4, वर्ष : 76, 1968 पृ. सं. 212 220।
25. भिखारीदास, 1957, भिखारीदास, द्वितीय खंड (काव्य निर्णय), नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी।
26. यशपाल, 2010, 'झूठा सच', लोकभारती (पैपरबैक्स) पब्लिकेशन, नयी दिल्ली
27. लाल, किशोरी, 1971, रीतिकवियों की मौलिक देन, साहित्य भवन, इलाहाबाद।
28. लिग्विस्टिक एस्पेक्ट ऑव द इंडो यूरोपीयन अरहिमट क्वेश्चन, डॉ. कोएनराड एल्ट, द कोएनराड एल्ट साईट।
29. वर्मा, धीरेन्द्र, 1930, 'हिन्दी राष्ट्र या सूबा हिन्दुस्तान', लीडर प्रेस, प्रयाग।
30. शर्मा, डॉ. रामविलास, 1979, 'आर्य और द्रविड़ भाषा परिवारों का सम्बंध', हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद।
31. शापिरो, एम. सी., 1981, 'लैंग्वेज एंड सोसायटी इन साऊथ एशिया', मोतीलाल बनारसीदास, नयी दिल्ली।
32. शिवप्रसाद सिंह, 1958, 'सूर पूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य', हिन्दी प्रचार पुस्तकालय, वाराणसी।
33. शुक्ल, आचार्य रामचंद्र, 1988, 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी।
34. सक्सेना, बाबूराम, 1972, 'अवधी का विकास', हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद।
35. सेन, अमर्त्य, 2007, 'आइडेन्टिटी एण्ड वायलेन्स', पेंगुइन, नयी दिल्ली।
36. हेनलोन, ओ रोजालिन्ड, 2011, 'रिलिजियस कल्चर्स इन अर्ली मॉडर्न इंडिया', रुटलेज, नयी दिल्ली।

डिप्टी कलक्टरी : उत्तर कथा

(स्व. अमरकांत जी को श्रद्धांजलि स्वरूप)

संतोष दीक्षित

प्रख्यात रचनाकार अमरकांत की कालजयी कहानी है 'डिप्टी कलक्टरी'। उसकी बुनियाद पर एक समकालीन यथार्थ प्रस्तुत कर रहे हैं कथाकार संतोष दीक्षित।

जिस दिन डिप्टी कलक्टरी का नतीजा आया वह सोमवार का दिन था। रविवार के विश्राम बाद पूरा शहर आलस्य को तोड़ते हुए जगने लगा था। चूं... चां... करती साइकिलों के हैंडिल पर तरह तरह के अखबार सहेजे होंकर अलस्सुबह से घंटी टुनटुनाते हुए आवाजाही करने लगे थे। आज ही के अखबार में सफल प्रत्याशियों के रोल नम्बर दिये हुए थे। लेकिन यह किसी को मालूम न था कि नतीजा आज ही निकल रहा है। कम अज कम शकलदीप बाबू को तो नहीं ही मालूम था। उन्हें बस उस खबर की जानकारी थी जो कुछ दिन पहले छपी थी। खबर राज्य के लोकसेवा आयोग के हवाले से दी गयी थी जिसका सारांश यही था कि नतीजा लगभग तैयार है और इसे अंतिम रूप दिया जा रहा है।

उस दिन भी शकलदीप बाबू सुबह चार बजे के आसपास जग गये थे। आजकल नदी के घाट वाले रास्ते की एक चाय दुकान में उनकी बैठकी लगने लगी थी। नहा धोकर वह कुछ देर रामायण पाठ को बैठते। मगर यह केवल दिल बहलाने का शगल होता। ध्यान तो कहीं और लगा रहता। खिड़की के रास्ते उजास की आहट कमरे में पहुंचते ही वह प्रणाम कर रामायण समेट कर रख देते और टहलने निकल पड़ते। लक्ष्य एक ही रहता चाय दुकान तक पहुंचना। वहां सबसे पहले अखबार आ जाता था। नतीजा जल्द आने की खबर जबसे पढ़ी थी उन्होंने, वह शीघ्र से शीघ्र चाय दुकान पहुंच कर सबसे पहले ही अखबार उलट पलट लेने की ख्वाहिश रखने लगे थे। अखबार के पन्ने वह तेजी से

पलटते और इसी बीच अपनी दो उंगलियों से कमीज की पॉकेट एक बार पुनः टटोल कर यह तस्दीक कर लेते कि उनकी पॉकेट डायरी उनकी जेब में ही है। इसी में नारायण बाबू का रोल नं. दर्ज था; यद्यपि कि यह उन्हें मुंहजबानी भी याद था। सपने में भी उस नम्बर को कई बार वह अखबारों में पढ़ चुके थे। जिस रात वह ऐसा कोई सपना देखते, टहल कर घर लौटते वक्त चंदू हलवाई के यहां से पाव भर जलेबी लेना नहीं भूलते।

जब देख लेते कि नतीजा आज भी नहीं आया है, तब इत्मीनान से हेडलाइन देखते हुए चाय सुड़कते और यदि कोई अन्य ग्राहक जिज्ञासु नजर आता, अखबार झट उसकी ओर बढ़ा देते। उनके लिए अभी किसी भी खबर की कोई अहमियत नहीं थी। चिड़िया की आंख की तरह उनकी दृष्टि केवल नतीजे तलाशती। आंख ही नहीं दिखी तो बाकी चिड़िया किस काम की! वह चाय खत्म कर फौरन वापस लौट जाते जबकि नारायण था कि परीक्षा के बाद एक दिन भी चैन से घर नहीं बैठा था। शहर में रहता तो विधायक जी के आवास की ओर जो खा पीकर निकलता, देर रात ही वापस लौट पाता। इस बीच उन्हीं के साथ वह कई बार राजधानी के दौरे भी कर आया था। शकलदीप बाबू को उसकी यह हरकत बेहद नागवार लगती थी। वह अकेले में यमुना पर बड़बड़ाते हुए बेटे को नालायक सिद्ध करने में लगे रहते “बरबादी के रास्ते पर जा रहा है... देख लेना... भविष्य ठीक नहीं लगता।” वह इस तरह से कुछ ज्यादा बोलने लगते तो यमुना भी अंततः उन्हें डपट देती “आप खुद उसको क्यों नहीं बोलते... रोज आपसे कह कर ही तो निकलता है।”

हिम्मत जुटा कर एक दिन जब टोका शकलदीप बाबू ने तो नारायण ने हंसते हुए जवाब दिया “अब केवल मेहनत के भरोसे हाथ पर हाथ रख बैठने का जमाना नहीं रहा बाबूजी! इतनी सारी तिकड़म और पैरवी भिड़ा कर जो लोग कमीशन का चेररमैन या सदस्य बनते हैं... क्या समझते हैं सदाचार का अमृत छकने के वास्ते...?”

इस वाक्य को शकलदीप बाबू ने अपने सीने पर एक धक्के की तरह महसूस किया। वह वहीं तिलमिला कर कुर्सी पर बैठ गये। थोड़ी देर में यमुना उनके लिए चाय ले आयी। इधर सुबह शाम कलेवा के बाद चाय पीने लगे हैं शकलदीप बाबू। यमुना को भी उन्होंने चाय पीना सिखा दिया है। कचहरी की आदत घर तक भी आ गयी थी और नारायण की परीक्षा की तैयारियों के दिनों में यमुना सोने से पहले एक कप चाय बना कर नारायण को जरूर से दे आती। नारायण कभी कभी मां को टोक भी देता “तुम काहे को इतना कष्ट करती हो मां, निर्मला को ही भेज दिया करो न!”

इस पर यमुना विचित्र सा मुंह बना कर कहती “तुम्हारे बाबूजी का आदेश है, जब तक परीक्षा नहीं हो जाती, बहू को उधर मत फटकने देना। बबुआ की पढ़ाई का हरजा हो जावेगा।”

“बाबूजी पूरे घर को अपने हिसाब से चलाना चाहते हैं... जैसे वही सबसे काबिल हों! यही सब बर्दाश्त नहीं होता।”

“वह एक कमजोर आदमी हैं बेटा! धन बल से निर्बल। इधर थोड़ा सठिया भी गये हैं। रात में भी उठ कर तुम्हारे कमरे में झांकते रहते हैं... नहीं तो मैं जरूर भेज देती निर्मला को कभी कभार।” ...यमुना ने अपने हिसाब से बात को संभालते हुए कहा।

लेकिन नारायण उस दिन काफी भड़का हुआ था। छूटते ही जवाब दिया “तुमको नहीं पता, दरअसल वह गुलाम समझते हैं हम सबों को। चंद रुपये क्या खर्च कर दिये... इसी से तो उनका लाया हुआ कुछ भी मुंह में रखने का मन नहीं करता। और भी तो दोस्त हैं। उन सबके भी बाबू हैं। लेकिन कोई इस तरह से गुलामों जैसा बर्ताव नहीं करता अपने बेटों से।”

नारायण का यह सब कहना यमुना को भी बुरा लग गया। उसने धीरे से समझाते हुए कहा “इतना कुछ करते हैं... जान छिड़कते हैं तुम पर... और तुम इस तरह से बोलने लगे हो? अभी तो कुछ बने भी नहीं, फिर इतना रुआब मारना ठीक नहीं, जान लो!”

“रुआब नहीं मार रहा, मैं झींक रहा हूँ अपनी किस्मत पर।” अब नारायण का स्वर भी काफी नरम हो गया था “तुम क्या समझती हो... यह जो दूध, मेवे, फल आ रहे हैं... हलवा का नाश्ता मिल रहा है... मैं खुद को घुड़दौड़ का घोड़ा समझने लगा हूँ। बाबूजी दांव लगा रहे हैं... और देख लेना, नौकरी में आने के बाद एक के चार वसूल करेंगे वह।”

“धी गिरेगा भी तो थाली में ही न!” यमुना ने संयत स्वर में कहा “वसूलेंगे भी तो घर में ही लगेगा न... सबके जीवन का भला होगा। उनमें कोई ऐसा ऐब तो नहीं जो गुलछर्रे उड़ाने लगे तुम्हारी कमाई पर?”

नारायण को लगा कि कुछ अति होता जा रहा है, सो वह चुप लगा गया। इधर तेज आवाज सुन शकलदीप बाबू भी नारायण के कमरे की चौखट पर आ खड़े हुए और लगे यमुना पर बिगड़ने कि वह ऐसे नाजुक समय में क्यों बबुआ का वक्त जाया कर रही है।

उस सोमवार की सुबह भी वह अपनी दिनचर्या के मुताबिक चाय दुकान पर उपस्थित थे। आज सम्भवतः कुछ और सवेरे ही आ गये थे शकलदीप बाबू क्योंकि अखबार अभी तक नहीं आया था। वैसे ग्राहक तो कई जुट चुके थे। शकलदीप बाबू चाय का ऑर्डर देकर बेंच पर जम गये। गर्दन घुमा कर वह घड़ी घड़ी उस दिशा की ओर निहार लेते जिधर से हॉकर रोज आता था।

अभी सर झुकाए, चिन्तामग्न बैठे शकलदीप बाबू ने चाय की दो घूंट ही भरी थी कि चाय वाले ने हुलस कर सूचना दी “अखबार आ गया मोख्तार साहेब और आपका रिजल्ट भी।”

“अच्छा... ओ...” कह कर वह अचानक चौंक कर उठ बैठे। खड़े खड़े एक हाथ में गिलास थामे जल्दी जल्दी चाय सुड़कने लगे तो दूसरा हाथ अखबार थामने के वास्ते बढ़ा दिया। रिजल्ट का नाम ही सुन कर उनका दिल बैठने लगा था और दोनों हाथ तेजी से कांपने लगे थे। खड़े खड़े अखबार खोलते हुए उनके पैर भी थरथराने लगे। इस अजीब दृश्य को देख कर चायवाले ने आगे बढ़ उनके कंधे पर दबाव बनाते हुए उन्हें बेंच पर बिठा कर कहा “इत्मीनान से देखिये मोख्तार साहेब... इत्मीनान से... आज बिना जलेबी मंगवाए आपको छोड़ने वाला नहीं!”

थिर होते हुए उन्होंने नम्बर मिलाना शुरू किया। नहीं मिला कहीं। रोल नम्बर के आखिरी तीन अंक के बीच केवल एक ही क्रमांक था जो कि उनके बेटे का नहीं था। यानी सौ लड़कों के बीच केवल एक का चयन। यह तो सरासर धांधली है। पॉकेट से डायरी निकाल कर एक बार पुनः उन्होंने नम्बर की तस्दीक की। नहीं... कोई गलती नहीं... वही नम्बर था जो उन्हें जुबानी याद था। इसका मतलब कि इस बार भी चूक गये बबुआ। अब नया जो नियम था उसके अनुसार जब तक उम्र बाकी है तब तक कोई परीक्षार्थी कितनी भी बार बैठ सकता था। उनके बबुआ का यह चौथा प्रयास था। पिछली बार जरा सा चूके थे, सो इस दफा हौसला बुलंद था उनका भी।

लेकिन अब उनके हाथ पांव अचानक से शिथिल हो चुके थे। जाने कहां की कमजोरी समा गयी थी उनके भीतर। लग रहा था पैदल चल कर घर भी नहीं जा सकेंगे आज। यमुना का सूखा, पिचका चेहरा याद आते ही उनका मन कैसा तो कसैला हो उठा। और बहू... निर्मला... जिसे डिप्टाइन्ड कह कह कर उन्होंने आसमान पर बिठा दिया था, वह तो जरूर कमरे की कुंडी लगा बुक्का फाड़ फाड़ कर रोने लगी होगी। और बबुआ... नारायण... वह तो सिगरेट की डिब्बी लेकर जो कमरे में बंद हो गया होगा...! ...कहीं इस बार सचमुच आत्महत्या न कर बैठें बबुआ...?

शकलदीप बाबू हिम्मत बांध उठ खड़े हुए और लड़खड़ाते हुए आगे बढ़ने लगे। “बेचारा बाप..” चायवाले ने सिसकारी सी छोड़ी। शकलदीप बाबू आगे तो बढ़ गये पर घर जाने की हिम्मत तत्काल न जुटा पाये। अभी इतनी जल्दी वहां अखबार आने वाला नहीं है। जाकर वही क्यों यह मनहूस खबर सुनायें? काफी कुछ मन ही मन विचारते हुए वह मंदिर तक पहुंचे और सीढ़ी पर धप्प... से बैठ गये। क्या कहेंगे पूरी कचहरी के लोग... यह पूरा शहर...! मैजिस्ट्रेट साहेब तक को इस दफा नारायण से पूरी उम्मीद थी। वह उन्हें सम्मान की नजर से देखने लगे। इधर कुछ मुवक्किल भी जुटने लगे थे उनके पास। कोर्ट कचहरी में जो सब काम पिछले दरवाजे से होता था, उसमें भी जगह मिलने लगी थी मोख्तार साहेब को। इसे वह चिराग बुझने से पहले की फड़फड़ाहट कहते और अपनी इस मजेदार स्थिति का जमकर फायदा भी उठाते। उन्होंने अपने इस पेशे को जल्द ही छोड़ने की घोषणा भी कर रखी थी जबकि उनके परम मित्र कैलाश बिहारी मोख्तार उन्हें यह समझाते रहते कि डॉक्टरों का बेटा ऐश करता है तो हम जैसों का पोता। अभी तो ठीकठाक कमाने वाले दिन आ रहे हैं। जिन्दगी भर की त्याग तपस्या और अनुभव का फल अब ही मिलने का समय धीरे धीरे आ रहा है। सो अभी छोड़ना नहीं, इसे कस कर थामे रहना है।

“अब सुबह से शाम तक कौए की तरह टकटकी लगाये मुवक्किल की बात जोहना अच्छा नहीं लगता!” ... शकलदीप बाबू जीवन भर के दर्द का निचोड़ बयां करते।

“अब टकटकी लगाने की क्या जरूरत है?” ...कैलाश बिहारी कहते “दिलजमई के लिए आइये जाइये और जो भी मिल जाये, भगवान का शुक्रिया अदा कीजिए! मगर एकाएक घर बैठ जाइयेगा तो बीमार पड़ जाइयेगा, सो जान लीजिए। यह मैं नहीं, पिछले तीस वर्षों का मेरा तर्जुबा बोल रहा है।”

आज सीढ़ियां चढ़ कर दर्शन की इच्छा नहीं हो रही थी शकलदीप बाबू की। सब बकवास है... पूजा पाठ... श्रद्धा... आस्था... सब बकवास! इतना हाथ जोड़ा, फूल चढ़ाये, माथा रगड़ा... क्या मिला?

शकलदीप बाबू बदहवास की तरह मंदिर की सीढ़ियों पर बैठे यह सब विचार ही रहे थे और यह कि अब किधर चला जाये... कि तभी जंगबहादुर सिंह मास्टर नजर आये और शकलदीप बाबू को इस प्रकार मुंह लटकाये बैठा पाकर ठिठक पड़े। हाथ जोड़ कर उनका अभिवादन करते हुए वह बोले “जो सुख में सुमिरन करे तो दुख काहे का होय!”

शकलदीप बाबू कुछ न बोले। यूंही मुंह लटकाये बैठे रहे। उन्हें लगा मास्टर जी उन पर व्यंग्य कर रहे हैं! अब तो सारा शहर उन्हें तानें मार सकता है। उन्हें यह सब झेलने को खुद को तैयार करना चाहिए। यही सब सोच कर उन्होंने हिम्मत बांध सर ऊपर उठाया तो पाया कि मास्टर साहेब उनका मुंह बड़े आश्चर्य से तके जा रहे हैं। नजर मिलते ही जंगबहादुर जी बोल पड़े “मोख्तार साहेब! घर नहीं गये क्या अब तक? डिप्टी कलक्टरी का नतीजा तो आज आ गया।”

“पता है भाई, इसीलिए तो हिम्मत नहीं पड़ रही।”

“काहे? ...इसमें हिम्मत की क्या बात है! ...घर में तो आपके जश्न मन रहा होगा...।”

“क्यों गरीब का मजाक उड़ाते हो भाई!” ऐसी तकदीर कहां लेकर आया हूं जो...? ...इस बार भी नहीं आ पाये बबुआ।”

“यह आप क्या कह रहे हैं?” ...मारे आश्चर्य के जल्दी जल्दी कहने लगे मास्टर साहेब “अभी अभी तो रास्ते में गौरी मिला था। वही... नारायण का दोस्त। कह रहा था कि नारायण का रोल नम्बर काफी ऊपर है। नारायण के दिये रुपयों से वह लड्डू लाने को तेजी से स्कूटर भगाये जा

रहा था। मैं भी भोलेनाथ का दर्शन कर आप ही के यहां पहुंचने वाला था। मुंह मीठा तो करायेंगे न...?”

“मुंह मीठा क्या भाई... भरपेट मीठा खिलाऊंगा। लेकिन मैंने जो नम्बर मिलाया, अखबार में दिखा ही नहीं।”

“आप अब नया चश्मा बनवाइये मोख्तार साहेब...” कहते हुए जंगबहादुर मास्टरजी उनका हाथ थामे मंदिर में स्थापित शिवलिंग के सामने जा खड़े हुए। दोनों ने हाथ जोड़ और आंखें मूंद कर श्रद्धापूर्वक प्रणाम किया और फुर्ती से लौट पड़े।

दूर से ही देख लिया शकलदीप बाबू ने कि नारायण बरामदे में दोस्तों से घिरे चाय का लुत्फ उठा रहे हैं। थोड़ा पास आने पर उनके कान को यह अहसास हुआ कि बबुआ के स्वर से काफी रोआब झांक रहा है। चेहरे पर भी परम संतुष्टि और शान के भाव हैं।

उन दोनों पर नजर पड़ते ही नारायण झट उठ खड़े हुए और आगे बढ़ कर दोनों के पैर छुए।

“रिजल्ट हो गया?” शकलदीप बाबू के होंठ कंपकंपा रहे थे और आंखें डबडबा आयी थीं।

“हां बाबू, हो गया! खुद ही मिला लीजिये। यह रहा एडमिट कार्ड और यह रहा अखबार।”

शकलदीप बाबू ने देखा, मिलाया, कई कई बार चेहरे को ऊपर नीचे किया फिर अचानक ही आगे बढ़ नारायण को अपनी बांहों में लेकर वे हिचकियां लेने लगे।

नारायण को यह अच्छा नहीं लगा “जाइये अंदर... मुंह मीठा कीजिए और मास्साब को भी कराइये।” नारायण ने उन्हें जबरन भेज दिया। मास्साब वहीं कुछ दूर हट कर कुर्सी पर बैठ गये।

घर के आंगन तक पहुंचने से पहले शकलदीप बाबू यही सोच रहे थे कि नारायण ने जंगबहादुर मास्टर को मास्साब क्यों कहा? पहले तो वह उन्हें बहादुर चा कह कर सम्बोधित करता था।

आंगन में पहुंचते ही शकलदीप बाबू ने पाया कि रसोईघर में सास और बहू, दोनों उत्साहपूर्वक जुटी हुई हैं। उन पर नजर पड़ते ही यमुना ने मजाक किया “डिप्टाइन कब से दूँद रही हैं आपको मुंह मीठा कराने के वास्ते!”

“अरे मुंह तो क्या मेरी आत्मा तक तृप्त हो चुकी है मिठास से... बबुआ ने कुछ काम ही ऐसा जो कर दिखाया है। अब आज क्या, मैं रोज मिठाई खाऊंगा... नित दिन खाऊंगा... देखता हूँ मुझे कौन रोकता है? हां लेकिन पहले टुनटुन के हाथों एक छिपली में कुछ बाहर भेजवा दो। जंगबहादुर जी बैठे हुए हैं।” यह कहते हुए शकलदीप बाबू कपड़े बदलने को अपने कमरे में चले गये।

यमुना पीछे पीछे दो लड्डू लेकर हाजिर हुई “लीजिए पानी पी लीजिए।”

“मेरी कुछ समझ में नहीं आ रहा है...” शकलदीप बाबू ने लड्डू की ओर हाथ बढ़ाते हुए पूछा “भुझको जो नम्बर दिया था बबुआ ने क्या वह गलत था?”

“जान कर ऐसा किये थे बबुआ!” यमुना ने मुस्कराते हुए बताया “कह रहे थे कि अपनों की नजर जल्दी लग जाती है...। ...और फिर बाबूजी तो भड़भड़िया आदमी ठहरे। उन्होंने तो सारे शहर को नम्बर दे दिया होगा कि भड़िया खुद ही देख लेना कि हमारे बबुआ पास हुए कि नहीं!”

“अच्छा ...! ...तो यह बात है। मतलब कि हमारे बबुआ अब काफी समझदार हो गये हैं।”

“समझदार नहीं रहते तो इतना बड़ा इम्तहान पास करते?” ...यमुना कुछ और कहना चाह रही थी पर तभी कैलाश बिहारी मोख्तार के आने की सूचना मिली। शकलदीप बाबू ने बिटिया से कहलवा दिया कि उनको और जंगबहादुर मास्टर साहब को मेरी कोठरी में ही भेज दें। हम यहीं बैठ कर चाय पियेंगे और गप्पें मारेंगे।

बाहर पास पड़ोस से लेकर शहर के परिचितों, रिश्तेदारों की आमद शुरू हो चुकी थी।

शकलदीप बाबू अब बाहर वाले कमरे में ही आकर जम चुके थे। हंसी ठहाके और रसभरी बातों का सिलसिला थम नहीं रहा था। तभी दरवाजे पर खूब घरघराहट करती हुई एक जीप आकर रुकी। नारायण के ससुराल के लोग थे। सास, ससुर, साले, सरहज और साली भी। पूरा परिवार। मिठाई और फल की टोकरियों के साथ साथ कपड़ों के कई कई पैकेट जीप से धड़ाधड़ उतर कर घर के भीतर समाने लगे। सभी अपने दामाद की सफलता पर फूले नहीं समा रहे थे। नारायण की सास देर तक उसे अपने कलेजे से सटाये रहीं और फिर उसका माथा चूम कर अलग किया। नारायण के ओवरसियर ससुर, जो उससे कभी ठीक से बात भी नहीं करते थे, आज मुंह में मिठाई भर कर कह रहे थे “हमारे ही ब्लॉक में पोस्टिंग करवाइयेगा मेहमान... हमरा भी तनिक मान बढ़ जायेगा पूरे इलाके में।”

“अब अभी से क्या कहें कि आगे क्या लिखा है पापाजी... !” नारायण ने सर झुकाते हुए कहा और अपने दोस्तों को विदा करने बाहर तक चला गया। शकलदीप बाबू समझ गये सिगरेट के वास्ते निकले होंगे सब।

थोड़ा निश्चिंत होने पर शकलदीप बाबू ने यमुना को बुला कर पूछा “खाने में क्या सब बन रहा है?”

“आपके लिए रोटी सब्जी तैयार है। बबुआ शिकार लाने गये हैं। आज उनके दोस्त और उनके ससुराल वाले, सब यहीं खायेंगे। निर्मला, उसकी मां और बहन सब पुलाव पूड़ी बनाने में लगे हैं। मिठाई, फल तो यह लोग लेकर ही आये हैं।”

“और तुम क्या खाओगी?”

“मैं भी सब लोगों के साथ ही खाऊंगी! मेरी गुरुआइन ने सधवा स्त्रियों के लिए खानपान पर कोई प्रतिबंध थोड़े न लगा रखा है। आप तो कंठीधारी हैं, सो आपकी बात अलग है।”

“सोचता हूं मैं भी कंठी तोड़ ही दूं! शिकार के नाम से ही जीभ पनियाने लगी है।”

यमुना भौचक होकर कुछ क्षणों तक उनका चेहरा ही तकती रही। बच्चों की जिद पर जब भी वह शिकार लाने को कहती, यही मोख्तार साहब बित्ते बित्ते भर उछलते हुए शाकाहारी भोजन के सम्बंध में प्रवचन देने लगते थे। और आज यह खुद ही... हे राम...!”

“सचमुच कंठी तोड़ देंगे? कहीं अनिष्ट तो नहीं हो जावेगा कुछ!” यमुना ने शंका प्रकट की तो शकलदीप बाबू तेजी से हकलाने लगे “नहीं भाई... नहीं तो... मैं तो बस ऐसे ही... अब क्या दिल्ली की भी उम्र निकल गयी?”

शकलदीप बाबू की अंदरूनी हालत यमुना बखूबी समझ रही थी। जिन्दगी भर सब्र की चादर ओढ़े यह आदमी गृहस्थी की गाड़ी खींचता आया है। जब आयी थी इस घर में वह नयी नयी, मांस, मछली के प्रति अद्भुत अनुराग पाया था उसने अपने पति में। लेकिन जैसे जैसे बच्चे बड़े होते गये और आमदनी सिकुड़ती गयी, शकलदीप बाबू ने अपनी जरूरत और शौक पर सबसे अधिक लगाम लगाना शुरू कर दिया था। बहुत जरूरी होने पर अपने लिए कोई साधारण वस्त्र बनवाते या जूते आदि लेते। जाड़े में तो इधर हर साल सोचते कि नया कोट बनवायेंगे, लेकिन फिर सारा संकल्प किसी नये आगत खर्च के सामने धरा का धरा रह जाता।

यमुना कमरे से बाहर निकलने लगी तो शकलदीप बाबू ने पीछे से आवाज लगायी “जरा सुनो तो! यह इतना खर्च वर्च सब कौन कर रहा है?”

“बबुआ की सास, और कौन? पर्स में बंडल भर नोट लेकर आयी हैं और बेटी को आगे कर सारा सामान मंगवा रही हैं। बासमती चावल, चने की दाल, शुद्ध घी, सरसों तेल, मसाला, दही.. क्या क्या नहीं मंगवाया है शिकार के अलावे।”

“वाह... वाह... क्या बात है!” शकलदीप बाबू ने दोनों हाथों से ताली बजाते हुए कहा। उनके स्वर में व्यंग्य था या खुशी, यमुना ताड़ नहीं पायी।

“कह रही थीं समधन...” यमुना ने आगे बताया “हम लोग तो पहले से जानते थे कि लड़का होनहार और आले खानदान का है, तभी तो घर द्वार न देख कर केवल लड़के पर शादी कर ली। पूरा परिवार दूषता था कि कहां भंसा दिया बेटी को...! लेकिन आज मेहमान ने अपनी करनी से सबका मुंह बंद कर दिया।”

“सावधान रहो यमुना... सावधान...! यह बड़ाई नहीं घर तोड़ने को दीवार में लगायी गयी पहली खंती है। तुम नारायण पर खूब लाड़ प्यार लुटाती रहना।”

“मुझसे यह सब ढोंग न होगा!” यमुना ने बगैर उत्तेजित हुए सहज स्वर में कहा “जैसे पहले वह पहलींठ संतान की तरह हमारे कलेजे का टुकड़ा था, वैसे आगे भी रहेगा। और मां होने के नाते जानती हूं, मेरे बेटे का जी भी वैसा नहीं। अभी सबके सामने ही तो कह रहा था कि पहला दरमाहा मिलते ही अम्मा के लिये रेशमी साड़ी लाऊंगा, बाबूजी के लिए सूट का कपड़ा और बाटा का एक कौन सा तो जूता भी... क्या तो नाम भी बताया था उसने अभी याद नहीं आ रहा।”

“लड़के ने कहा और मेरी आत्मा जुड़ा गयी।” शकलदीप बाबू ने आदतन फिर से दो बार ताली बजायी।

नारायण तो और भी बहुत कुछ कह रहा था, मगर वह सब रात में बताऊंगी।” कहते हुए यमुना थोड़ा शरमा भी गयी। शकलदीप बाबू की आंखों में एक चमक कौंध उठी। उनके दाम्पत्य जीवन में ऐसे दुर्लभ क्षण अब विरले ही आ पाते थे।

“लेकिन मेरी मानें तो आप समधी के साथ जाकर बाहर वाले कमरे में ही बैठें। उन सबों को नारायण के साथ अकेले ज्यादा देर छोड़ना भी ठीक नहीं! जाने क्या खिचड़ी पकने लग जाये वहां...!”

यमुना की बात शकलदीप बाबू को गहरे तक जंच गयी। मन ही मन उसकी सोच को सराहते हुए शकलदीप बाबू ने अपने कपड़े दुरुस्त किये और बाहर बैठके में आ जमे। लेकिन फौरन ही उन्हें यह अहसास हो गया कि उनका यहां आना किसी को भी जंचा नहीं है। निर्मला भी उस वक्त उसी कमरे में थी जो उनके वहां पहुंचते ही छोटा सा घूंघट काढ़ झट भीतर चली गयी। नारायण ने दो मिनट बीतते न बीतते टोक ही दिया “क्या तबीयत ठीक नहीं है बाबूजी? आपका खाना तैयार है, खाकर आराम कीजिए।”

और तभी शकलदीप बाबू को लगा कि एक वही बेकार बैठे हैं घर में, बाकी सारे लोग किसी न किसी चीज में मगन हैं। उन्होंने अचानक ही ऊंचे स्वर में, जैसे अभी तुरंत कुछ याद आ गया हो, कहा “अरे, आज तुम्हारे रिजल्ट के चक्कर में यह भूल ही गया कि कचहरी तो आज खुली होगी। कई मुक्किल दांत चियारे बात जोह रहे होंगे मेरी।”

“अरे, तो फिर हो आइये न, यह लोग शाम को आपके लौटने के बाद ही निकलेंगे।” नारायण ने यह कहा ही था कि ओवरसीयर साहब झट बोल उठे “न हो तो जीप से चले जाइये! झाइवर पहुंचा कर चला आयेगा।”

“दस मिनट का तो रास्ता है, काहे को आदत खराब करवा रहे हैं इंजीनियर साहेब!”

“मेरी मानें तो अब आप कुछ खराब आदत डाल ही लें!” शकलदीप बाबू के व्यंग्य के एवज में उनके समधी ने अपने हिसाब से एक गहरा मीठा मजाक किया और खूब ठठा कर हंसने लगे। नारायण भी हंस पड़ा था। लेकिन शकलदीप बाबू बिना कोई प्रतिक्रिया जताये चुपचाप बाहर निकल गये।

कचहरी में आकर सचमुच बहुत अच्छा लगा उन्हें। लग रहा था, कई कई लोगों तक खबर पहुंच चुकी थी। लोग उनका झुक झुक कर अभिवादन कर रहे थे। आज आते ही पचास रुपये की बोहनी भी हो गयी। दो शपथपत्र का केस था। बधाई देने वाले लोग अब उनकी ओर एक एक कर आने लगे थे। इतना दबाव पड़ा उन पर कि फौरन एक लड़के को भेज कर दो किलो लड्डू उन्हें मंगाने ही पड़े। अब जो भी आता एक लड्डू का अपना हिस्सा जरूर पाता। खुद एक पैकेट हाथ में लेकर वह वरिष्ठ वकीलों और अपने सहकर्मियों का मुंह मीठा करा आये। पूरी कचहरी में आज यही चर्चा थी कि घूरे के भी दिन जरूर फिरते हैं। किसी को भी यकीन नहीं था कि हमेशा साधारण नम्बरों से पास होने वाला मोख्तार साहेब का यह लड़का कभी डिप्टी कलक्टर भी बन सकता है।

“ऐसी कोई बड़ी बात नहीं है अब डिप्टी कलक्टर बनना!” ...एक वरिष्ठ वकील ने सिगरेट का धुंआ उड़ाते हुए कहा “आजकल के तेज लड़के सब तो मेडिकल, इंजीनियरिंग में चले जाते हैं। बचे खुचे आइएएस ड्राई करते हैं... और तब उनमें से भी छंटे हुआओं में से कोई डिप्टी कलक्टर बनता है।”

“फिर भी टफ तो है ही भाई!” एक दूसरे वकील ने अपनी राय देते हुए कहा कि जितनी अधिक ऊपरी कमाई के चांस इस पेशे में हैं उस हिसाब से यहां भी जबरदस्त कॉम्पटीशन है। मेरी तो राय है कि शकलदीप मोख्तार की किस्मत सचमुच ही बदल गयी है!

“इसी को कहते हैं छप्पर फाड़ कर देना!”

तो जितने मुंह उतनी बातें। और इन सब बातों पर जरा भी कान न देते हुए शकलदीप बाबू का खिला चेहरा और गहरी चुप्पी एक अलग रहस्य पैदा करती हुई सी... “अरे भाई... गूंगा अभी गुड़ का मजा ले रहा है भीतर ही भीतर...!”

कहते हैं सुख के दिनों को सारस के पंख लग जाते हैं। देखते ही देखते एक लम्बी दूरी पार...। शकलदीप बाबू के जीवन में भी कुछ ऐसा ही घटित हो रहा था। नारायण बाबू ने ट्रेनिंग पूरी की। फिर उनकी पहली पोस्टिंग हुई। शहर के विधायक ने अपनी ससुराल के प्रखंड में पैरवी कर उन्हें प्रखंड विकास अधिकारी बनवाया। अंचलाधिकारी का पद वहां जानबूझ कर खाली रखा गया था, सो उसका प्रभार भी नारायण बाबू को ही मिला। विधायकजी ने स्वयं जिले के कलक्टर से नारायण को अकेले में मिलवा दिया था। फिर क्या था, उस प्रखंड में विकास मद का पैसा बहने लगा। सारे ठीके वगैरह विधायकजी के ससुराल के परिवार और उनके लड़ जड़ को ही मिलने लगे। लेकिन थे वह लोग सभ्य और संस्कारी। काम भी बढ़िया करते और पूरी ईमानदारी से सबका हिस्सा भी पहुंचा देते। नारायण बाबू उस प्रखंड में ऐसे रम गये कि कुछ ही महीने में अपनी पत्नी और बच्ची को क्वार्टर में ही ले आये। अब तक उनकी बच्ची साल भर की होने को आयी थी। नौकरी के साथ साथ लक्ष्मी के आने की खुशी किसी को अखरी भी नहीं। अलबत्ता शकलदीप बाबू ने यह जरूर कहा था कि यदि पोता हो जाता तो सोने पे सुहागा होता।

पहली ही पोस्टिंग में इतनी बदनामी मिली कि टर्म पूरा होने से पहले ही नारायण का तबादला एक नए प्रखंड में हो गया। ‘ट्रांसफर इज नॉट ए पनिशमेण्ट रॉदर ए न्यू ऑपारच्यूनिटी...!’ नारायण ने नये तबादले को इसी रूप में लिया। नयी जगह का पहला सकारात्मक पक्ष नारायण को यह दिखा कि यह जगह घर से मात्र सौ किलोमीटर की दूरी पर थी। सो वह सप्ताहांत में घर अवश्य चले आते। आकर सब कुछ अपनी आंखों से देख लेते। सबसे छोटे भाई टुनटुन का दाखिला अब तक एक अंग्रेजी माध्यम के स्कूल में हो चुका था और वह वहां अच्छा कर रहा था। टुनटुन से बड़ी एक बहन थी चुन्नी। उसका मन पढ़ने में नहीं लगता था। मेट्रिक पास कर वह घर के कामों में ही लगी रहती।

उससे बड़ा एक और भाई था सुरेश। वह भी मेट्रिक पास कर बाबूजी के साथ कोर्ट कचहरी जाने लगा था। इन दोनों का नामांकन अपने प्रखंड स्थित एक कॉलेज में करवा दिया था नारायण ने। परीक्षा के समय थानेदार से कह कर सारी व्यवस्था करवा दी। दोनों भाई बहन अच्छे नम्बरों से इंटर पास कर गये। इसके बाद सुरेश को अपने पास ही रख कर उन्होंने उसका नामांकन बीए में करवा दिया। लेकिन, साइंस के विद्यार्थी होने के कारण उसका मन कला के विषयों में नहीं लग पाया। तभी नारायण के जान पहचान के एक अधिकारी की कृपा से सुरेश का नामांकन पॉलिटेक्निक स्कूल में हो गया। यह खबर जब शकलदीप बाबू को लगी तो उन्होंने ताली बजाते हुए कहा “नारायण ने तो इस कुल को ही तार दिया।”

परिवार के प्रति नारायण की ऐसी भक्ति अड़ोस पड़ोस में आज के जमाने के हिसाब से एक विपरीत आचरण माना जा रहा था और लोग शकलदीप बाबू के भाग्य से ईर्ष्या करने लगे थे। यह ईर्ष्या तब और भी उफन पड़ी जब नारायण ने अपने पुराने घर का जीर्णोद्धार कार्य शुरू करवाया। अपने प्रखंड के ही एक ठीकेदार को उन्होंने यह भार दिया। सारे मजदूर मिस्त्री भी उसी इलाके से आये और बाहर के कमरे और बरामदे में टिक कर दिन रात काम में जुट गये।

मकान जब बनना शुरू हुआ तब कहीं जाकर घरवालों को अपने बबुआ के रोबदाब की एक झलक मिली। नींव पड़ने के समय बबुआ के प्रखंड के जूनियर इंजीनियर स्वयं आये थे। बबुआ के श्वसुर भी इस खास मौके पर दो घंटे के लिए उपस्थित हुए। जूनियर इंजीनियर बात बात पर बबुआ को सर... सर... कहते और बबुआ इस पर जरा भी ध्यान न देते हुए उसे बीच बीच में डपटते भी रहते। ठीकेदार ने काम शुरू किया। अगले सप्ताह बबुआ मुआयने के लिए आये। एक दीवार उन्हें थोड़ी टेढ़ी लगी। ठीकेदार अड़ गया कि सीधी ही है। शकलदीप बाबू को भी यही लग रहा था कि सब ठीक है। लेकिन बबुआ ने खुद टेप मांग कर नापा और ठीकेदार को दिखला दिया कि दीवार पौन इंच के करीब भागी हुई है। पंद्रह फीट लम्बी यह दीवार एक दिन पहले ही बनी थी। फिर क्या था, बबुआ ने झट पादप्रहार से पूरी दीवार गिरा दी और ठीकेदार को पुनः निर्माण का आदेश दिया। बेचारा ठीकेदार...! शाम को बबुआ के जाने के बाद वह कलप रहा था और शकलदीप बाबू पता नहीं क्यों थोड़े सहमे से थे। उन्हें अचानक यह महसूस होने लगा जैसे नारायण उनका जाया है ही नहीं।

“अवतार है... साक्षात् नारायण का अवतार है मेरा बेटा!” शकलदीप बाबू का अब यही एक शगल था... अपने बेटे की हर जगह और हर बात पर तारीफ करना। इस तारीफ का अंत वह इस बात से करते कि भगवान ऐसा लायक बेटा सबको दे। यह अंत बड़ा ही भावुक होता। इस अंतिम वाक्य से सुनने वाला या तो उत्साहित होकर अपने बेटे का गुणगान शुरू कर देता अथवा दुखी होकर उसकी निन्दा करने लगता। दोनों ही हालात में बतकही का एक लम्बा दौर खिंच जाता और शकलदीप बाबू का खाली समय बड़े मजे से कट जाता।

लोगों के देखते देखते पुराने की जगह नया भवन खड़ा हो गया। इसके अगले साल यह दो मंजिले में परिवर्तित हो गया। फिर इसके अगले साल इसमें रंगरोगन करा कर इसकी खूबसूरती में चार चांद लगाया गया। अब जो भी इस घर को देखता नारायण बाबू के शौक और उनकी रुचि को सराहता।

जिस साल मकान पूरी तरह तैयार हुआ उसी वर्ष नारायण ने दौड़धूप कर एक सरकारी स्कूल के मास्टर से अपनी छोटी बहन चुन्नी का विवाह तय करवा दिया। भावी वर अपने घर से काफी दूर पदस्थापित था। नारायण ने पैरवी कर उसका तबादला उसके घर के पास ही करवा दिया। इस कारण लड़के के परिवार वाले काफी एहसानमंद हो गये और मामूली लेनदेन पर ही यह रिश्ता स्वीकार

कर लिया गया। अब तो शकलदीप बाबू के सर का रहासहा बोझ भी उतर गया। शादी इतनी धूमधाम से हुई कि नाते रिश्तेदारों की आंखें चौड़ी हो गयीं। अब यमुना पड़ोसियों के घर और नाते रिश्तेदारों के बीच पूरे ठस्से से घूमती रहती। मोख्तार साहेब को कहीं संग न ले जाती कारण कि वह हर जगह बेटे के गुणगान में ही लगे रहते। जबकि यमुना अब मुंह से एक भी वाक्य सोच समझ कर पूरी जिम्मेदारी के साथ निकालती। मोख्तार साहेब जिन स्थितियों में चंचल हो जाते, वैसी स्थिति में वह गम्भीर ही बनी रहती। इधर नारायण ने अपनी मां के लिये सोने की एक सिकड़ी लाकर दी थी। इस ताकीद के साथ कि बहूरानी को इसका भेद पता न चले। यमुना किसी झंझट में नहीं पड़ना चाहती थी, सो बहूरानी के घर आते ही वह सिकड़ी गले से उतार पेटी में रख देती।

निर्मला को अब सास, श्वसुर नाम लेकर नहीं बुलाते। उसका हुलिया, हावभाव तो क्या स्वभाव भी काफी बदल गया था। नारायण का अपने घर के प्रति इतना लगाव उसे कभी नहीं भाता। अब वह पहले वाली बहू नहीं रही थी जो सास की झिड़की खाकर भी सर पर पल्ला रख दाल या चावल से चुपचाप कंकड़ बीनती रहती। अब तो श्वसुर उल्टे उसके आगे खीसें निपोरते नजर आते। अलबत्ता यमुना ने उसकी सत्ता को अभी तक स्वीकार नहीं किया था। वह अभी भी बहू के मिर्ची से सवालियों का तीखा जवाब ही देती। निर्मला जब कभी घर आती, यह जतलाना कभी नहीं भूलती कि उसने अपनी खुद की जिन्दगी का एक बड़ा हिस्सा इस घर के चलते बरवाद किया है। उसका यही कहना रहता कि उसी के इशारे पर नारायण इतना कुछ करते रहते हैं इस घर के लिए। यदि वह आंख मोड़ ले तो यह घर बिलट जाये।

“तू तो लक्ष्मी है बहूरानी... साक्षात लक्ष्मी...! तेरे चंद्रमा समान चेहरे के आगे तो बाभन, रजपूत के घर की औरतें भी पानी भरें। तभी तो तुझे एक नजर में पसंद कर में अपनी इस कुटिया में ले आया। जानता था, लक्ष्मी के चरण पड़ते ही अपने आप महल बन जायेगा। और यही हुआ भी देखते देखते।”

शकलदीप बाबू निर्मला की शान में जब भी एक शानदार कसीदा काढ़ते तो प्रतिउत्तर में वह मुंह बिचका कर कहती “इतनी जंच गयी थी मैं तो फिर पंद्रह हजार कैश का डिमांड क्यों किया था आपने मेरे पिताजी से?”

“दस हजार का तो गहना जेवर ही चढ़ा दिया था बेटा... तब मेरी औकात ही क्या थी!” शकलदीप बाबू हकलाने लगते।

“आज भी आपकी क्या औकात है?”

“आज है औकात इनकी... पूरे शहर में है...” ...तभी यमुना तमतमाते हुए हस्तक्षेप करती “आज इन्होंने पालपोस कर, पढ़ा लिखा कर अपने बेटे को डिप्टी कलक्टर बना दिया है... इसीलिए आज औकात है इनकी। इन्होंने ही उसके स्कूल, कॉलेजों की फीस भरी। परीक्षा की तैयारी का पूरा खर्च उठाया जैसे तैसे... करजा पाती काढ़ कर भी। कोई ससुराल वाला हाथ भी धरने नहीं आया था तब नारायण की पीठ पर। आज लड़का कुछ बन गया है तो गैर भी उस पर अपना हक जताने लगे हैं। मगर इससे क्या होता है? क्या खून के रिश्ते बदल जाते हैं! जिसका हाथी होता है, नाम भी उसी का होता है, सो जान लो।”

“तब मेरी क्या औकात है...? ...कुछ भी नहीं न!”

“तुम तो डिप्टाइन हो बहू... तुम्हारे बिना बबुआ का अस्तित्व ही क्या है? तुम्हारी किस्मत का सितारा बुलंद था... राजयोग लेकर आयी थी तुम... तभी तो बबुआ आज इस ओहदे तक पहुंच सके...! हमारे लिए तो बबुआ से ज्यादा तुम्हारा महत्व है डिप्टाइन।”

अपने श्वसुर के मुंह से इतने सारे मीठे वचन सुन निर्मला के चेहरे का तनाव थोड़ा कम होता लेकिन उसका गुस्सा तब भी बरकरार रहता। नाक की फुनगी और कान की लौ की लाली बढ़ जाती। गुस्से से भरे होंठ फड़कते रहते। ऐसे ही पलों में वह अपनी सास को इंगित कर अपने श्वसुर से कहती “थोड़ा समझाते बुझाते काहे नहीं हैं इनको? ...जब देखो तब नीच घर की औरतों की तरह बतकुच्चन करती रहती हैं। तमीज और तहजीब से लगता है कभी वास्ता ही नहीं पड़ा है इनका। समझती नहीं हैं कि जिस दिन भी अपनी नजरें टेंढ़ी कर दूंगी जरा सी, इनका बेटा इनका मुंह भी देखना पसंद नहीं करेगा।”

“मेरा बेटा ऐसा नहीं है...!” यमुना ने तड़ से जवाब दिया “मैंने उसे नौ महीने पेट में रखा है, उसे मैं जितना जानती हूँ चार दिन पहले घर में आने वाली कितना जानेगी भला...?”

उस दिन बड़ी मुश्किल से यह वाक्युद्ध थमा। वह भी शकलदीप बाबू के कौशलपूर्ण हस्तक्षेप के कारण। उन्होंने बहुरानी के मुंह पर अपनी पत्नी को अनपढ़ और जाहिल करार देते हुए खरी खोटी सुनायी और फिर अकेले में यमुना के आगे आत्मसमर्पण करते हुए कहा “तुम इस साजिश को काहे नहीं समझती हो? बहुरानी तो कब से चाह रही हैं कि बबुआ अपना दिल इस घर में लगाने की बजाये अपने ससुराल में लगायें और फिर कमासुत लड़के के साथ यह महारानी और इसका पूरा परिवार चकल्लस करे! मैं इसी साजिश को कामयाब नहीं होने देने के लिए इतना कुछ बर्दाश्त करते हुए नाटक करता रहता हूँ, मगर तुम अपनी मूर्खता से सारा मटियामेट कर देती हो। थोड़ी समझदार बनो भागवान! अभी हमारे दोनों लड़के पार लगने बाकी हैं। यह काम हो जाये तो तुम्हारे साथ इलाहाबाद चल कर संगम में डुबकी लगा आऊं!”

“आप आज तक कहीं ले गये हैं घुमाने फिराने जो...! ...आपका इन चीजों से क्या वास्ता?” यमुना तुनक कर बोली “यह निर्मला रानी, आपकी रानी बहू पता नहीं कहां कहां से घूम कर आ रही हैं अपने भाई के परिवार के साथ! सारा खर्चा भी इसी ने उठाया है। लड़का मेरा बैल की तरह खटता रहे और यह भवानी खूब गुलछरें उड़ाती फिरें, यह मुझसे बर्दाश्त नहीं होता। कलेजा फटता रहता है मेरा।”

“बेटा भी तुम्हारा खूब गुलछरें उड़ा रहा है, चिन्ता न करो!” ...बात को वहीं समाप्त करने की गरज से इतना कह कर शकलदीप बाबू घर से बाहर टहलने चले गये।

नारायण में यूँ तो बहुत सारे गुण थे जिनमें एक खास गुण यह था कि वह परम मातृभक्त थे। पिता से भी वह श्रद्धा रखते थे, लेकिन एक तटस्थ किस्म की। पिता के पूरे जीवन को लेकर उनके भीतर एक गहरी सहानुभूति थी। उनके तमाम भोलेपन और प्रेम प्रकट करने के अटपटेपन के बावजूद वह उनका मूल्यांकन एक ऐसे माली के रूप में ही करते थे जो उस वृक्ष पर ज्यादा ध्यान देता है, जिससे मीठे, सरस फल मिलने की सम्भावना सबसे ज्यादा बलवती होती है। लेकिन नारायण अपने सभी भाइयों एवं पूरे परिवार को पूरी शिद्दत से चाहते थे।

नारायण इधर दूरदराज में पदस्थापित थे। फिर भी अवसर निकाल कर बीच बीच में घर आते रहते। जब भी घर आते, पूरे घर में उत्सव का माहौल रहता। वह गर्दिश के दिनों की यादों को सबके साथ मिल बैठ कर साझा करते और फिर भविष्य की योजना बनाते। सुरेश पॉलिटैक्निक में अच्छा नहीं कर पा रहा था। पहले वर्ष में ही वह फेल कर गया था। अगले वर्ष नारायण की पैरवी से पास हुआ। जबकि टुनटुन इंटर अच्छे नम्बरों से पास कर इंजीनियरिंग की प्रवेश परीक्षा की तैयारी में जुटा था।

शाम को फुर्सत पाते ही नारायण टुनटुन को दिलायी बाइक उठा कर शहर के पुराने दोस्तों और परिचितों से मिलने निकल जाते। इसके पीछे उनका एक और मकसद होता। वह शहर के बाहरी

इलाके में सस्ते प्लॉट का पता भी लगाते रहते। अब तक वह तीन प्लॉट खरीद चुके थे। अब पहला बेच कर कोई चौथा लेना चाहते थे क्योंकि पहले में लगायी पूंजी के लगभग पांच गुणा रिटर्न का ऑफर उन्हें मिल रहा था। यह सारे खरीद फरोख्त वह अपनी पत्नी निर्मला के नाम से करते और उसके नाम पर बाकायदा इन्कम टैक्स भरते और रिटर्न भी दाखिल करवाते। यह सब काले धन को सफेद करने का ऐसा नुस्खा था जिसे तमाम बड़े प्रशासनिक अधिकारी अपनाते हैं। इन सबके बावजूद नारायण में घमंड नाम की चीज नहीं थी या वह सायास ऐसा आचरण अपनाते ताकि लोगों को महसूस हो कि वह पूर्ववत् हंसमुख और मिलनसार ही हैं। इसके अलावे वह सबकी पैरवी सुनते और इस संदर्भ में जो भी कर सकते थे, उसे भरसक कर या करवा देते। उन्होंने अपना एक छोटा मोटा जोगाड़ तंत्र अब तक विकसित कर लिया था। इस कारण प्रत्येक सरकारी महकमे में उनका कोई न कोई परिचित ओहदेदार मिल ही जाता। जब वह एस.डी.ओ. बन कर एक छोटे मोटे कस्बेनुमा शहर में गये, वहां के एक मारवाड़ी परिवार को काफी मदद पहुंचायी। उस परिवार का एक प्लॉट राजधानी में भी था जो वहां दबंगों के कब्जे में था। संयोग से उन दिनों राजधानी में उनके साथ कभी काम किये हुए एक पुलिस पदाधिकारी ही डी.एस.पी. थे। एक बैचमेट ही मैजिस्ट्रेट था वहीं कलक्ट्री में। उन्होंने उन दोनों की मदद से उस प्लॉट को खाली करवा दिया। उस जमीन पर झोपड़ी बना कर अपने मवेशियों के साथ रहने वाले पांच परिवार थे। केवल उन लोगों को थोड़ा बहुत मुआवजा देना पड़ा अपने माल मवेशी समेत उनके कहीं और शिफ्ट होने के एवज में।

दो साल बाद जब उस प्लॉट पर एक चार मंजिला अपार्टमेण्ट बना, एक एक फ्लैट सस्ते दरों पर नारायण बाबू, डी.एस.पी. साहेब एवं उन मैजिस्ट्रेट साहेब को भी दिया गया। नारायण को तो लगभग पानी के भाव में मिल गया वह फ्लैट।

नारायण को बेटी के बाद लगातार दो पुत्र हुए। दो दो वर्ष के अंतराल पर। इन पुत्रों का जन्मोत्सव खूब धूमधाम से मनाया जाता है। पहला जन्मोत्सव तो उनके दादाजी के घर पर ही मना। बड़े ही पारम्परिक तरीके से। बच्चे की दादी ने तिल मिश्रित दूध बच्चे को पिलाया और दादाजी ने माथे पर टीका लगा कर बच्चे को आशीर्वाद दिया। शाम में बंधु बांधवों के साथ पूड़ी, बुंदिया, मिठाई के भोज का लुफ्त भी उठाया गया। लेकिन निर्मला को इतना सब खर्च करना जरा भी नहीं सुहाया “इन जाहिल और भकोसू लोगों को खिलाने पिलाने से फायदा? ...एक भी ढंग का गिफ्ट नहीं आया। पूरे परिवार ने टूस कर खाया और इक्कीस या इक्यावन का न्योता थमा कर चलते बने। यही फंक्शन हम अपने सरकारी क्वार्टर में करते तो...!”

“ठीक है, आगे से वहीं होगा! टेंसन मत लो।” नारायण ने पूरी मुस्तैदी से बात टाल दी।

निर्मला अपने तीनों बच्चों के भविष्य को लेकर काफी सतर्क थी। वह खुद तो मैट्रिक पास थी, लेकिन बच्चों की शिक्षा दीक्षा का पूरा खयाल रखती थी। जब तक बच्चे छोटे थे, नारायण के पदस्थापन स्थल के आसपास ही किसी स्कूल में उन्हें पढ़ाना पड़ता। इसकी भरपायी वह घर में योग्य शिक्षक रख कर पूरे कर लेती। लेकिन जब बच्चे छठी, सातवीं तक आ पहुंचे, वह उनकी पढ़ाई को लेकर विशेष चिन्तित रहने लगी। उसका भरपूर दबाव था अपने पति पर कि किसी तरह राजधानी में एक स्थायी निवास की व्यवस्था हो ताकि वह वहां बच्चों के साथ स्थायी रूप से रह कर उनकी पढ़ाई लिखाई की विशेष व्यवस्था कर सके। वह नारायण को देहाती अफसर कहती और अक्सर यह घोषणा करती कि उसके बच्चों को आइ.ए.एस., आइ.पी.एस. आदि बनना है। वह उन्हें अपने पिता की तरह का देहाती अफसर तो किसी भी कीमत पर बनाना नहीं चाहती थी। संयोग से उन्हीं दिनों नारायण को राजधानी में फ्लैट मिल गया। फ्लैट का स्वामित्व हाथ में आते ही निर्मला ने तनिक भी

देर न लगाया। वह फौरन से पेशतर उस फ्लैट में व्यवस्थित हो गयी। नारायण से उसने यही कहा कि वह अब राजधानी या उसके पास ही अपनी पोस्टिंग कराये और नौकरी के साथ साथ घर का भी पूरा ध्यान रखे। वैसे भी अब इन बच्चों के भविष्य से बढ़ कर हमारे लिए कुछ भी नहीं।

निर्मला के राजधानी में आ बसने के पीछे एक और भी कारण था। दरअसल नारायण और उसके दाम्पत्य जीवन में दोतरफा भूचाल आ चुके थे, लेकिन बच्चों के चलते और सब कुछ परदे की ओट में होने के कारण यह दरार पूरी तरह चौड़ी न हो सकी थी। सम्बंध दरके जरूर थे, लेकिन टूटे नहीं थे और दोनों ही इसे तोड़ना भी नहीं चाहते थे।

किस्सा संक्षेप में यह कि नौकरी में आने के बाद नारायण को एक बुरी लत लग चुकी थी। वह थोड़े चटोर हो गये थे। औरतों के मामले में। ऊपरी आमदनी के लिए भी बेहिचक प्रयत्नशील रहते। जम कर कमाते और उसी तरह अनापशनाप खर्च भी करते। इसमें निर्मला की भी सहमति प्राप्त रहती। यही कारण था कि अपनी पहली पोस्टिंग के दौरान प्रखंड में ही अनुकम्पा के आधार पर नियुक्त हुई एक सहायक के साथ जब नारायण के सम्बंध होने की खबर लगी निर्मला को, उसने नारायण के समझाने पर इसे अफवाह ही माना। दरअसल, उन दिनों वह एक दूसरी तरह की दुनिया में प्रवेश करने के आश्चर्य और आह्लाद में डूबी हुई थी। सो इस तरह की बातों पर ध्यान देने की उसे फुर्सत भी न थी। वह तो सरकारी फोन के द्वारा अपने मायके वालों से अपने वैभव और सुख सुविधा सम्पन्न जिन्दगी के बारे में बतियाती रहती और उन लोगों से मिले निर्देशों पर अमल करती रहती। नारायण को वह जो कहती सो वह झट मान लेते। अतः उधर से भी कोई शिकायत नहीं थी। दूसरी जगह तबादला होते ही बात आयी गयी हवा हो गयी।

दूसरी जगह नारायण की सरकारी गाड़ी में अक्सर एक महिला चिकित्सा पदाधिकारी नजर आती लोगों को। उन दिनों नारायण के यहां तीसरा मेहमान आने वाला था और इस कारण उस लेडी डॉक्टर का उनके आवास पर भी आना जाना बढ़ गया था। इसके अलावा उन्हीं दिनों नारायण कुछ अफसरों के साथ ऐय्याशी के वास्ते कुछ खास अड्डों पर भी आने जाने लगे थे। लेकिन नारायण निर्मला के सामने इतने भोलेपन और समर्पण के साथ बिछे रहते कि निर्मला के आगे सच हमेशा भ्रम के रूप में ही आता रहा। इस भ्रम और अफवाह को निर्मला ने कभी भी यथार्थ नहीं माना।

लेकिन एक बार सच सामने आ ही गया। तब बुरी तरह फंसने की नौबत आ गयी थी नारायण की। मामले की जांच जिले के कलक्टर को मिली थी। वह पचपन छप्पन वर्ष के एक प्रमोटी आई. ए.एस. थे। जब वह जांच के वास्ते नारायण के प्रखंड में आये, नारायण ने उनके खाने पीने का भव्य प्रबंध अपने आवास पर ही किया। वहीं उनकी नजर में निर्मला गड़ गयी। निर्मला ने भी उस नजर को ताड़ लिया था। उसने उसी समय फैसला ले लिया था नारायण यदि फंस गये इस मामले में तो उसकी खुद की जीवननैया भी मझधार में डूब जायेगी। उसे इस सुख सुविधापूर्ण एवं गरिमा से भरी जिन्दगी को छोड़ना गंवारा नहीं था। नारायण भी उसके निर्णय से सहमत थे। सो वह अक्सर सरकारी गाड़ी से शॉपिंग के लिए जिला मुख्यालय जाने लगी। कभी कभी देर हो जाने पर वहीं डाकबंगले में रुक जाती। अंततः नारायण जब जांच में बरी हुए, तब से निर्मला पूरी तरह उस पर हावी हो गयी। इसका परिणाम यह निकला कि अब नारायण अपने घर से भी कटने लगे। अवकाश भी मिलता तो बच्चों संग ससुराल में समय बिताते। अपनी सबसे छोटी साली की शादी में उन्होंने मोटी रकम भी खर्च की। निर्मला को अब नारायण से कोई गिला शिकवा नहीं था।

सुरेश किसी तरह पास भले हो गया पर उसे कोई ढंग की सरकारी नौकरी नहीं मिल पायी। काफी भटका वह। एक दो प्रायवेट कारखाने में मामूली वेतन पर खटता रहा। अंततः इस मुकाम पर

भी नारायण ही काम आये। अपने परिचित मारवाड़ी परिवार के एक करोड़पति रिश्तेदार के बड़े प्रतिष्ठान में सुरेश अच्छे वेतन पर नियुक्त हो गया। इस मारवाड़ी परिवार के लिए नारायण अभी भी काफी कुछ करते रहते थे और उनका वहां आने जाने का सिलसिला भी बरकरार था। एक जबरदस्त अफवाह यह थी कि उस परिवार की एक विधवा स्त्री से नारायण की काफी नजदीकियां रही हैं और यह इसी मधुर सम्बंध का परिणाम था कि नारायण उस परिवार के लिए हमेशा कुछ भी करने को तैयार रहते।

सुरेश का विवाह भी नारायण ने अपने रसूख से एक अच्छे परिवार में करवा दिया। शुरू में सुरेश उसी इलाके में किराये के मकान में रहता था जिस इलाके में नारायण का फ्लैट था। नारायण अब राजधानी में थे और एक बेहद चर्चित मंत्री के आप्त सचिव थे। वह अक्सर अपने छोटे भाई के यहां भी घंटों जमे रहते। खासकर उसकी अनुपस्थिति में। एक दिन अचानक क्या हुआ कि बीच सड़क पर हाथ में चाकू लिए सुरेश नारायण को मारने दौड़ा। नारायण किसी तरह बच कर भाग निकले। यह सारी बातें शकलदीप बाबू को भी किसी न किसी के मुंह से सुनने को मिल जातीं। खुद सुरेश ने ही उन्हें काफी कुछ बतलाया था। टुनटुन भी इंजीनियर बनने के बाद कुछ दिन अपने बड़े भैया के सरकारी आवास में रहा था। वहां से लौट कर उसने भी शकलदीप बाबू को काफी कुछ बताया था। सुन कर शकलदीप बाबू ने गहरी सांस लेते हुए यही कहा था “चांद में भी दाग होता है और बबुआ तो फिर भी एक मनुष्य है!”

शकलदीप बाबू अब झुरझुरा चुके हैं। आये दिन चौकी पर बैठ अखबार या कुछ धार्मिक पुस्तकें पढ़ते या फिर आराम करते। सुबह शाम थोड़ा बहुत हाथ में छड़ी लेकर अगल बगल से घूम आते। टुनटुन की शादी में नारायण आये थे, साल भर हो गये फिर आ नहीं पाये। उस समय भी मात्र दो ही दिन रह पाये थे। शकलदीप बाबू को अब इन चीजों की परवाह न थी। अब वह केवल और केवल परलोक की चिन्ता करते। घर का ऊपरी मंजिल किराया पर चढ़ा था। बाहर में तीन तीन दुकानें किराये पर लगी थीं। घर में खाने वाले केवल बूढ़ा बूढ़ी और एक नौकरानी। यमुना अब हर वक्त उनके साथ ही रहती। दोनों लड़के समय निकाल कर आते जाते। गर्मियों की छुट्टी में बेटी दामाद नाती नतनियों के साथ अवश्य आते और हफ्ते दस दिन से कम न रहते। नारायण अक्सर फोन करते और मां बाबू को कुछ दिन साथ रहने को बुलाते। बीच में यह नौबत आन ही पड़ी थी। शकलदीप बाबू की पेशाब रुक गयी थी अचानक और डॉक्टरों ने प्रारम्भिक उपचार के बाद उन्हें राजधानी के एक अस्पताल में रेफर कर दिया था। तब भाड़े का एम्बुलेंस लेकर टुनटुन उन दोनों को साथ लेकर गया था नारायण के यहां। लेकिन इलाज के फौरन बाद ही दोनों लौट आये। निर्मला का व्यवहार इतना तटस्थ और कृत्रिम था कि यमुना से बर्दाश्त ही न हुआ। शकलदीप बाबू तो अस्पताल में ही रहे और वहीं से सीधे अपने घर लौट आये।

नारायण अब एक जिले में कोशिश पैरवी कर परिवहन पदाधिकारी बन गये थे। एक दिन वह आये थे घर। माता पिता को देखने। एक लज्जरी गाड़ी से। अब वह अपने वैभव का खुल कर प्रदर्शन कर रहे थे। बता रहे थे कि दिल्ली में एक फ्लैट ले लिया है। और भी कहां कहां तो सम्पत्ति लेने की बातें करते रहे थे। शकलदीप बाबू को यह सब सुनते हुए कब झपकी आ गयी, पता ही न चला। यमुना भी एक कुर्सी पर बैठी ऊंघने लगी थी।

नारायण की बकबक जब खत्म हुई तो यमुना ने चैतन्य होकर एक सवाल पूछा “क्या तुम और निर्मला संतुष्ट हो अपने जीवन से?”

नारायण को चुप लगाये देख उसने अपने पोपले स्वर में कहा “लेकिन मैं तो बेटा आज इतनी उमर निकल जाने पर भी यही कहूंगी कि बहुत संतुष्ट रही तुम्हारे बाबूजी के संग!”

नारायण उसी शाम चले गये। फिर एक दिन सुबह सुबह टुनटुन का फोन आया। फिर उनके दामाद का। और फिर शकलदीप बाबू ने नाक पर चश्मा चढ़ा थरथराते हाथों से अखबार थामते हुए उस खबर को पढ़ा... परिवहन पदाधिकारी के यहां आयकर का छापा। आय से अधिक सम्पत्ति का मामला दर्ज।

इसके बाद के दो दिनों तक अखबार लगातार यही छापते रहे कि नारायण के यहां से कितना कैश निकला, कितना सोना चांदी, कितने शेयर, बॉण्ड्स, कितने अचल सम्पत्ति के कागजात आदि आदि। आयकर की एक टीम उसी दिन शकलदीप बाबू के यहां भी पहुंच गयी थी। शकलदीप बाबू ने साफ साफ कह दिया कि घर उनका पुश्तैनी है और अपने बल पर ही उन्होंने धीरे धीरे वर्षों में इसे बनाया है। टीम ने वहां खोजबीन की लेकिन कुछ भी उल्लेखनीय मिला नहीं। पता नहीं क्या सब नोट कर टीम वापस लौट गयी।

नारायण अब जेल में थे। उनके जेल जाने की खबर शहर में उतनी ही तेजी से फैली, जितनी तेजी से उनके डिप्टी कलक्टर में चुने जाने के समय फैली थी। बल्कि उससे भी ज्यादा तेजी से। आयकर की छापेमारी के बाद तो लोग झुंड बांध कर सहानुभूति प्रकट करने के बहाने मजे लेने को आने लगे। शकलदीप बाबू सभी से हाथ जोड़ कर मिलते, मगर मुंह से कुछ न कहते। लोग यह कहते चले जाते कि करे कोई और भरे कोई। इधर नारायण के दोनों भाई, बहनोई सब जेल जाकर उनसे मिल आये। उनके ससुराल वाले उनकी जमानत को लेकर दौड़धूप कर रहे थे। कोशिश पैरवी कर मामले को दबाया भी जा रहा था ताकि केस कमजोर हो सके। लेकिन शहर से लेकर नाते रिश्तेदारों में बदनामी तो हो ही चुकी थी। शकलदीप बाबू अब घर से बाहर भी न निकलते। फोन भी नहीं उठाते। यह सारी जिम्मेवारी यमुना पर थी। वह पड़े पड़े जाने क्या सोचते रहते। यमुना से भी केवल जरूरत भर की बातें करते। फिर एक दिन खबर मिली नारायण की जमानत हो गयी। और फिर यह भी खबर मिली कि वह जेल से छूट कर सपरिवार यहीं आ रहे हैं... माता पिता से आशीर्वाद लेने।

नारायण के आने से पहले ही सभी आ जुटे थे। दोनों भाई और उनके परिवार, बेटी दामाद आदि। पूरे घर में बच्चों की दौड़धूप और चहलपहल। रसोई घर में एक बार फिर से बड़े बड़े भगौनों और कुकरों की आमद। लोहे की पुरानी भारी कड़ाही में सब्जी की छौंक। जिस दिन नारायण पहुंचे, उसके घंटे भर बाद उनके ससुराल वाले भी आ पहुंचे। पूरे घर को नीले रंग के बल्बों से सजाया गया। हलवाई बैठा घर में। एक बड़े जश्न की सारी तैयारी। नारायण के डिप्टी कलक्टर बनने की खबर आने पर जो भी कसर रह गयी थी उस दिन के जश्न में, सारी आज निकाली जा रही थी। शाम ढलते ही आधे घंटे तक जोरदार आतिशबाजी हुई। पूरे शहर को यह जता दिया गया कि खुशियां रूठ कर वापस नहीं लौटी हैं इस घर से, बल्कि और भी अधिक मात्रा में जमा हो गयी हैं...।

शकलदीप बाबू इन सारे तामझाम और ऐश्वर्य प्रदर्शन से दूर तबीयत खराब होने का बहाना कर चुपचाप अपने कमरे में पड़े थे। उन्होंने यमुना को सख्त ताकीद कर रखी थी कि रिश्तेदारों, मिलने आने वालों को उनके कमरे में न भेजा जाये।

रात में खाने के वक्त यमुना गयी उनके कमरे में। उन्हें लिवा लाने को। वरना उनकी फिक्र ही किसे थी! नारायण ने आकर रस्मअदायगी के तौर पर पैर छूने के बाद उनकी कोठरी की ओर मुड़ कर देखा भी न था। सभी जश्न में डूबे थे। चुहुल और हास्य की नयी परिसीमाएं गढ़ी जा रही थीं।

शाम को चाय नमकीन लेकर यमुना ही गयी थी उनकी कोठरी में। शकलदीप बाबू वैसे ही गुमसुम पड़े थे। न हूं न हां! बड़ी मुश्किल से आधी मठरी खायी और दो घूंट चाय पी। यमुना ने कहा भी... जरा बाहर निकल कर तो देखिये, कितनी चहल पहल है.... कितने सारे लोग आये हैं।

शकलदीप बाबू ने धीरे से कहा “ये लोग मेरी इज्जत के जनाजे में कंधा देने आये हैं।”
“आप भी न... यही सब अंटसंट सोचते रहते हैं पड़े पड़े...” ...कहती हुई यमुना दरवाजा भिड़का कर बाहर निकल गयी।

रात में नारायण गया था उनके कमरे में, लेकिन फौरन ही लौट आया। वह जल्दी जल्दी सबों को खिलाने पिलाने में लगा था। इसी के बाद मौका निकाल यमुना उन्हें खाने के वास्ते लिविंग लाने को गयी थी। वह निश्चेष्ट से पड़े थे। उसने शकलदीप बाबू का मुआयना ठीक उसी तरह किया, जैसा उसने उनको कभी सोते हुए नारायण का मुआयना करते हुए देखा था वर्षों पहले। लेकिन नहीं! यमुना जैसे सुधबुध खो बैठी हो। उसके भीतर से एक चीत्कार सी निकलने से पहले ही घुट गयी। यमुना ने जबरन स्वयं पर काबू पाते हुए खुद को संयत किया। शकलदीप बाबू का सर छूते ही एक ओर लुढ़क गया था। सांस जाने कब से बंद पड़ी थी। देह भी ठंडी हो चली थी।

यमुना फुर्ती से बाहर आयी। नल पर जाकर चेहरे और आंख पर पानी के छींटे मारे। फिर भी रुलाई थी कि उमड़ पड़ने को किसी बांध से टकराती उफनती नदी की तरह व्याकुल थी। अपने मन के बांध पर निरंतर यह चोट महसूस करते हुए भी यमुना खामोश थी। वह अपने देवता राधास्वामी को मन ही मन याद कर रही थी। छत पर पहुंच कर उसने देखा खाना पीना अब समाप्ति की ओर है। नारायण एक कोने में सबसे अलग खड़े होकर हबरहबर मुंह में कौर भरे जा रहे हैं। जैसे कहां की जल्दी हो उन्हें!

“मां पर नजर पड़ते ही वह झट बोले “कहां थी... क्या हुआ! बाबू को नहीं लायी?”

“कहां जा सकी मैं! औरतानें में ही उलझी रह गयी। भेजती हूं टुनटुन को। खा लिया है न सभी ने?”

“तुमने कहां खाया?”

“खाऊंगी उनके साथ ही... वरना बिगड़ उठेंगे कि आज के दिन भी इतना सब्र न हो सका...! ...आजकल गुस्सा बहुत आने लगा है उन्हें।”

कहती हुई यमुना वहीं जमीन पर ही बैठ गयी।

टुनटुन लौटा तो बदहवास था। आंखें लाल और होठों पर थरथराहट। घरघराती सी आवाज में जब खबर सुनायी टुनटुन ने, यमुना न चीखी न चिल्लायी। बस वहीं जमीन पर ही पसर गयी हौले से।

“गये बाबू... हंसा उड़ गया री माई!”

“सब पता है मुझे...” यमुना ने जमीन पर पड़े हुए ही शांत स्वर में कहा “बस अब बंद करो यह तामझाम और सारा तमाशा। सुबह जल्द ही उन्हें ले जाने की तैयारी करो...। ध्यान रहे, मिट्टी खराब न होने पाये उनकी...!”

सिर्फ एक दिन

कबीर संजय

युवा कहानीकार कबीर संजय की कई कहानियों ने लोगों का ध्यान आकृष्ट किया है। तद्भव में पहली बार प्रकाशित।

दरवाजा खोलते ही नेहा का ध्यान जिस पहली चीज पर गया उसने उसे परेशान कर दिया। रात के दस बज चुके थे। नीचे बाइक की बुड़ बुड़ थमी। उसे स्टैण्ड पर खड़ी करने की आवाज आयी। और फिर सीढ़ियों पर थके हुए कदमों की पदचार्पें। इन आवाजों को वह अपनी सांसों की तरह ही पहचानती थी। सच तो यह है कि घर के अंदर रजाई में दुबकी हुई वह कबसे बाहर की आवाजों पर कान गड़ाये बैठी थी। बुड़ बुड़ करती हुई बाइक की कोई आवाज पहले तो दूर से पास आती हुई लगती। ऐसा लगता कि वह करीब आकर रुकने वाली है, लेकिन नहीं, फिर वो दूर हो जाती। बाइक पर चलते चलते किसी आदमी का एक्सीलेटर कम, तो किसी का ज्यादा घूम जाता। वो गौरव की बाइक की आवाज और उसके एक्सीलेटर की लय तक को पहचानती थी। इसलिए जब एक खास किस्म की लय पर बुड़ बुड़ करती हुई बाइक पहुंची और बुड़ बुड़ बंद हो गयी तो रात की अन्य आवाजों में उसने उस आवाज पर ज्यादा गौर करना शुरू कर दिया। बाइक स्टैण्ड पर लगने की एक हल्की सी आवाज भी उसे सुनायी पड़ गयी। बाइक खड़ा करते समय गौरव जब अपने पंजे स्टैण्ड पर लगा कर गाड़ी को पीछे से खींचता था तो एक हल्की सी सींइइ की आवाज आती थी। रात के इस खामोश अंधेरे में वो इस हल्की सी आवाज को भी सुन सकती थी।

शाम से ही कभी भौंक कर और कभी आसमान की तरफ मुंह उठा कर रोने वाले कुत्ते भी थक चुके थे। उल्लुओं की कई प्रजातियां रात में शिकार पर निकल चुकी थीं। ये रात सर्दियों की थी। दस बजे तक चारों तरफ सन्नाटा छा चुका था। उल्लू की खी खी की आवाज रात के सन्नाटे

को भंग कर देती थी। इस मनहूस आवाज को सुन कर नेहा को हल्की कंपकंपी छूटने लगती। रजाई में सात्विक को दुबकाये वह गौरव की बाइक पर ही कान लगाये हुए थी। और जब बाइक रुकी और सीढ़ियों पर गौरव के थके कदमों की आवाज आने लगी तो वह खुद ब खुद उठ कर दरवाजे पर जाकर खड़ी हो गयी। उसे इंतजार गौरव की मिसकॉल का था।

अपनी कल्पना की आंखों से वह देख रही थी। बाइक को स्टैण्ड पर लगाने के बाद गौरव ने अपना मोबाइल फोन निकाला होगा। मोबाइल में कॉल लॉग खोल कर उसने 'जान' का नम्बर ढूँढा होगा। फिर उसने कॉल का बटन दबा दिया होगा। 'साथिया, मध्यम मध्यम तेरी गीली हंसी' रिंग टोन इतनी ही बजेगी कि नेहा फोन काट देगी।

रात में दरवाजा खुलवाने के लिए दोनों की तरफ तय यह कोड काफी पुराना था। गौरव ने पहली सीढ़ी चढ़ी और उसने जान के नम्बर पर कॉल का बटन दबा दिया। नेहा का मोबाइल बोल पड़ा 'साथिया, मध्यम मध्यम तेरी गीली हंसी'। कहीं सात्विक की नौद न खुल जाये, नेहा ने अपने मोबाइल को कस कर हथेलियों के बीच दबा लिया। दरवाजे पर हल्की दस्तक हुई और उसने दरवाजा खोल दिया।

दरवाजा खोलते ही जिस पहली चीज पर उसकी नजर गयी उस पर उसे हल्की सी हंसी आयी और उसने उसे परेशान भी कर दिया। दाहिने हाथ में हेलमेट पकड़े और बाएं हाथ की एक उंगली में बाइक की चाभी फंसाए गौरव दरवाजे के अंदर घुसते ही अपना मफलर उतारने लगा। उसे एकटक देखते हुए नेहा रास्ते से हटना भी भूल गयी। गौरव एक पल तक उसके हटने का इंतजार करता रहा। फिर उसके बगल से निकल गया। अंदर लगी कुर्सी पर बैठ कर पहले उसने अपने दस्ताने उतारे। सर्दी के चलते दस्ताने के अंदर भी हाथ सुन्न से हुए जा रहे थे। बाइक चलाते समय हवा भी एकदम हाथों पर सीधे लगती है। कई बार तो क्लच पकड़ना और एक्सीलेटर लेना भी मुश्किल हो जाता है। दस्ताने उतारने के बाद अपनी हथेलियों को मुंह के पास लाते हुए वह उन्हें रगड़ने और मुंह से फूंकने लगा। उसके मुंह से भाप जैसी गरम गरम दिखने वाली हवा निकल रही थी। उसके नथुनों से भाप निकलती हुई दिख रही थी। अपने पैरों को ऊपर उठा उठा कर उसने जूते उतारे और हाथ धोने बाथरूम में चला गया। और नेहा उसे एकटक देखती रही।

शाम को सूरज ढलते ही ओस पड़ने लगी थी। सूखने के लिए डाले गये कपड़ों को उतारने में अगर जरा भी देरी कर दी तो फिर वे ओस से गीले हो जाते। अगर कहीं रात भर ओस में पड़े रह गये तो उन्हें सूखने के लिए डालना न डालना बराबर हो जाता।

ओस ने गौरव की जैकेट के कंधों को भी हल्का सा गीला कर दिया था। उसके दस्ताने भी नम हो गये थे। गौरव की मूँछें भी ओस से गीली हो चुकी थीं। इन्हीं में वो एक छोटी सी बात भी छिपी थी जिस पर नेहा का ध्यान टिक गया था। गौरव की भीगी हुई मूँछों में एक बाल उसे सफेद दिखायी पड़ा। शैव करने के बाद गौरव हमेशा अपनी मूँछों पर वक्त खर्च करता। उन्हें काटता, तराशता और संवारता। उस समय वह शीशे में अजब अजब तरीके से अपने मुंह को टेढ़ा करता। कभी होंठों को गोल करता। कभी दोनों होंठों को भींच कर मूँछों की लम्बाई को एकसार करने की कोशिश करता। नेहा गौरव को मूँछें संवारते एकटक देखा करती थी। तरह तरह से उसके मुंह बनाने को देखते देखते उसे गौरव पर प्यार आ जाता। लेकिन, आज पहली बार उसने गौरव की मूँछों में एक सफेद बाल देख लिया। पका हुआ बाल। सफेद। कतरे हुए काले बालों में अलग से दिखने वाला। मूँछों के भीगा हुआ होने के चलते ही वह नेहा को इतना अलग से नजर आया। पहले तो वह मन ही मन हंसी "अरे ये तो इतना बड़ा हो गया। फिर वो परेशान हो गयी। अभी से मूँछों के भी बाल पकने लगे।"

इतने में गौरव हाथ और मुंह धोकर बाथरूम से आ गया। नेहा को इतनी देर तक अपलक वहीं पर खड़े देख कर वह कुछ चिढ़ सा गया। कुछ रूखी सी आवाज में गौरव बोला “तुम सो जाओ, मैं खाना निकाल लूंगा।”

नेहा को बुरा लगा “नहीं, अभी गरम करती हूँ, मैं जाग क्यों रही हूँ।”

किचन का दरवाजा खोल कर वह फट से पहुंची। गैस लाइटर की खट हुई और बर्नर से नीली नीली लौ निकलने लगी। उसने सब्जी गरम करने के लिए रख दी। रात में कितनी देर हो जाती है। नेहा ने गौरव को गरम गरम रोटियां खिलाने की सोची थी। सर्दियां इतनी थीं कि गूंधे हुए आटे को फ्रिज में रखने की जरूरत नहीं थी। उसने तुरंत ही आटे की लोई बनायी, उस पर हल्के से पलैथन लगाया और रोटी बेलनी शुरू कर दी। इतने में गौरव जाकर सात्विक के पास बैठ गया। उसने धीरे से रजाई हटा कर सात्विक को देखा। उसकी उंगलियों को छूते हुए उसने उसके हाथों को अपने हाथ में ले लिया। सात्विक की गुलाबी उंगलियों की मुट्ठियां भिंची हुई थीं। जैसे उसने किसी बहुत जरूरी चीज को अपने हाथों में कस कर पकड़ रखा हो।

ऐसे ही वह गौरव की उंगलियों को भी पकड़ लेता था। गौरव ने उसकी मुट्ठियों की जकड़ थोड़ी ढीली करके उसमें अपनी एक उंगली पकड़ने की कोशिश की। इतने में ही सात्विक अपनी मां की गरमाहट के दूर होने का अंदाजा कर कुनमुनाने लगा। धीरे धीरे कुनमुनाते हुए अचानक ही उसने जोर पकड़ लिया। गौरव उसे थपकियां देने लगा। लेकिन, सात्विक कुछ सुनने के मूड में नहीं था। उसके रोने की आवाज तेज हो गयी। थपकी देकर उसे चुप कराने में नाकाम हुए गौरव ने थोड़ा चिढ़ते हुए, जैसे कि सात्विक के उठने और रोने में भी नेहा का दोष हो, रसोई में आकर कहा “मैंने कहा था न कि तुम सो जाओ, मैं खाना खा लूंगा।”

नेहा ने प्रतिवाद किया “अरे मैं तो चाहती थी कि तुम्हें गरमागरम रोटियां खिलाऊं।”

“नहीं, गरम गरम रोटियां तुम्हीं खा लिया करो।” गौरव की चिढ़ में और इजाफा हो गया।

“कोई बात नहीं, अभी सो जायेगा, मैं रोटी बना देती हूँ।” नेहा को भी बात बुरी लगी।

“नहीं तुम जाकर उसे संभाल लो। मैं देख लूंगा।”

इतने में सात्विक का रोना और तेज हो गया। गौरव के अंदाज से दुखी होने और बुरा मानने के बाद भी नेहा को सात्विक के रोने पर कोई न कोई कार्रवाई तो करनी ही थी। उसने झगड़ा मुलतवी कर दिया। चुपचाप हाथ धोया और गैस की ही नीली लौ में अपने हाथों को सुखाने लगी। अब गीले और ठंडे हाथों से तो बच्चे को पकड़ने नहीं जा रही है वो। हाथों के थोड़ा गरमाते ही वह सात्विक के पास आ गयी। भुनभुनाहट उसकी भी बिना ब्रेक वाली शुरू हो गयी पहले तो सोता हुआ बच्चा जगा देंगे, जरा भी देर देख नहीं सकते।

रजाई को एक किनारे से सरका कर वह अंदर घुस गयी। सबसे पहले तो उसने सात्विक के पोतड़ों की जांच की। पोतड़े सूखे थे। अक्सर ही रात में गीला करने के बाद सात्विक ऐसे ही रोने लगता था। नेहा की तो आदत ऐसी हो गयी थी कि रात में नींद खुली नहीं कि सबसे पहले उसके हाथ पोतड़ों पर जाते थे। सूखे हैं, हां, सूखे हैं। गीले हैं तो पोतड़ों को बदलने में ही काफी वक्त लग जाता।

रजाई में घुसते ही नेहा ने सात्विक को अपने सीने से चिपका लिया। बच्चा उसे अपने से ज्यादा गरम लग रहा था। कहीं बच्चे को ठंड न लग जाये। लेकिन, धीरे धीरे उसकी गरमी में बच्चे को आराम मिलने लगा। बच्चा बेचैनी से अपने मुंह से मां के सीने को टटोलने लगा। मां ने अपनी टॉप के ऊपर के तीन बटन खोल दिये। बच्चा मुंह से टटोलता हुआ अपने रुदन में भी अपनी बेचैनी

प्रगट करने लगा। बायीं करवट लेटी नेहा ने अपनी दाहिनी छाती सात्विक के मुंह में डाल दी। रोने की इच्छा से वशीभूत पहले तो वह मुंह में उन्हें लेने से इनकार करता रहा, फिर वह उसे चूसने लगा। कुछ ही देर में उसका रोना रुक गया और मां के शरीर से रिसने वाले जीवनरस को पीकर उसके अंदर जीवन, संतोष और सुकून का संचार होने लगा।

सात्विक तीन महीने का था। मां के शरीर के इसी हिस्से को छूकर, उसका सामीप्य महसूस कर और उससे निकलने वाले जीवनरस का पान करके उसे अपने सभी भयों से छुटकारा मिल जाता था। अपनी मां के इसी दूध से उसके जीवन की डोर बंधी हुई थी। इन्हीं की सांत्वना से उसका दिल शांत हो जाता। नहीं कोई है, मैं अकेले नहीं हूँ। घबराहट कम हो जाती। मां की गरमी ही उसे जिलाए हुए थी।

नेहा ने मन ही मन हिसाब लगाया “नहीं तीन महीने नहीं, दो महीने पच्चीस दिन हुए हैं। इस महीने की 24 तारीख को तीन महीने हो जायेंगे।” इसी तरह एक एक दिन गिन कर वह सात्विक को बड़ा कर रही थी। सात्विक सीजेरियन ऑपरेशन से पैदा हुआ था। वो अर्ध बेहोशी की हालत में थी, फिर भी उसे सात्विक के पैदा होने का दिन काफी कुछ छोटी बड़ी बारीकियों के साथ याद है। उसकी आंखें पूरी खुल नहीं पा रही थीं जब डॉक्टर ने बच्चे को पेट से बाहर निकालने के बाद उसे अपने हाथों में लेते हुए उसके सामने करते हुए पूछा था “तो तुम्हें क्या चाहिए, लड़का या लड़की?”

“अपने सोचने से क्या होता है।”

“हां, लेकिन मां को तो लड़के से ही ज्यादा प्यार होता है।”

“हां, पर लड़की मां की सहेली बन जाती है। सबका ख्याल रखती है।”

“चलो, बहस छोड़ो।” डॉक्टर हंस पड़ी। बच्चे को हल्के से उसके मुंह के पास लाकर बोली, “चलो अब इस लड़के को प्यार करो।”

अपनी अधखुली आंखों से बच्चे को देखते हुए नेहा ने उसके माथे को चूम लिया।

तो यही है वो, जिसने उसे कई रातों से जगाये रखा है। कभी एक करवट लेटती तो कभी दूसरी करवट। कहीं वो दब न जाये। बीच बीच में वो अपने हाथ पैर भी चलाने लगता। पेट में एक अजब सा तूफान उठ जाता। तो कभी एकदम शांत हो जाता। जैसे कोई चुपचाप जाकर कहीं छुप गया है। तब वो गौरव का हाथ पकड़ कर अपने पेट पर रखती।

“देखो, यहीं पर है, लेकिन चुप बैठा है।”

और कभी कुछ ही देर में उसके पैर फिर चलने लगते, वो गौरव को फिर जगाती “देखो यहां पर पैर चल रहे हैं उसके।” गौरव अधनींद में अपने हाथ पेट पर वहीं रख देता। कभी कुछ समझता तो कभी बिना कुछ समझे ही बोल देता।

“हां हां, चल तो रहे हैं पैर।”

लेकिन, नेहा उसकी आवाज के निरुत्साह को भांप जाती। नहीं, इसे कुछ समझ नहीं आया है। ये तो ऐसे ही बोल रहा था। पता नहीं ये कुछ महसूस कर भी पाता है कि नहीं। जिस चीज से नेहा इतनी उत्साहित होती है, छूकर भी उसकी संवेदना को वो पकड़ नहीं पाता। नेहा रूठ जाती। करवट बदल कर वह सोने की कोशिश करती। गौरव पीछे से उसके कंधे को पकड़ कर सहलाता रहता। काफी देर के मान के बाद वह उसकी तरफ अपना मुंह करती। फिर गौरव उसका पेट पकड़ कर तो कभी पेट पर हल्के से हाथ रखे हुए सो जाता। इस सांत्वना से उसे भी हल्की झपकी आ जाती। तो यही है वो जो इतने दिनों से अपनी उपस्थिति से हैरान किये हुए था।

बच्चे का नाम उन्होंने पहले ही सोच रखा था। रेवा। हां, रेवा ही होगा उनकी बेटी का नाम। रेवा क्या है। यह नर्मदा नदी का ही एक नाम है। रेवा को वे कई अलग अलग तरह से उच्चारित करके देखते। हां, रेवा नाम ही ठीक रहेगा। लेकिन, रेवा को कहीं पीछे छोड़ते हुए जो पैदा हुआ वह बेटा था। यह एकदम आगंतुक था। इसके आने की कोई उम्मीद नहीं थी। कोई इंतजार नहीं था। इसलिए नये सिर से उसके नाम की खोज शुरू हुई। कोई सटीक नाम नहीं मिलने की शर्त पर फिलहाल उसका नाम सात्विक चल रहा था। अभी। आगे बदल भी सकता है। अपने मन में यही सब हिसाब लगाते हुए नेहा को नींद आ गयी।

यूँ तो नींद रात भर सात्विक की तरह ही कुनमुनाती रही। रात में अचानक ही सात्विक की कभी नींद टूट जाती। अपने हाथों की मुट्ठियां बंद करते हुए वह तेज रोने की तैयारी करने लगता। नेहा नींद में ही पहले तो उसके पोतड़े जांचती। सूखे पोतड़े का स्पर्श पाते ही नींद में ही नेहा अपनी जैकेट की जिप खोलती और अपने वक्षों के बीच सात्विक को छुपा कर उसके मुंह में दूध डाल देती। अपने मुंह में दूध को चुभलाते चूसते सात्विक को फिर से नींद आ जाती। और अगर पोतड़े सूखे न हों तो नींद में ही नेहा के हाथ यंत्रवत चलते। उसके पोतड़े बदल दिये जाते। बिस्तर के ऊपर पॉलीथीन की शीट लगी हुई थी। शीट के ऊपर बिछी चादर बदलनी पड़ती। इसी तरह कुनमुनाते हुए नेहा की नींद पूरी होती। बस, तीन महीने पूरे हो जायें तो डाइपर पहनाना शुरू कर दूंगी। यही सोच कर वह संतोष करती।

सुबह किचन में हुई खड़खड़ से नेहा की नींद टूट गयी। लेकिन वह आंख बंद करके पड़ी रही। कुछ ही देर में बिस्तर के सामने मेज पर चाय के दो कप रखे हुए थे। गौरव उसके बालों पर हाथ फेरने लगा “उठो चाय पी लो।”

उसने अपनी उर्नीदी आंखें खोलीं। चाय के दो बड़े मग। सुबह की चाय उन दोनों को ही बड़े से मग में पीना पसंद था। मग से उड़ती हुई भाप हवा में कई तरह की लहरें बनाती हुई ऊपर की तरफ उठ रही थी। कुछ दूर तक तो इन पर नजर पड़ती लेकिन फिर वो हवा में विलीन हो जातीं। बिस्तर से निकल कर नेहा ने शॉल ओढ़ ली। मुंह धोकर वह देर तक गरम गरम चाय के मग को अपने हाथ में पकड़े रही। चाय के मग से वह कभी कभी अपने गालों और माथे को भी सेंकने लगती। तो कभी अपनी हथेलियों के पीछे के तरफ के हिस्से को भी मग से लगा कर सेंकती।

खूब सर्दियों के दिन थे। ऐसी सर्दियां नेहा ने कभी देखी नहीं थीं। ठंड से कांपता अंधेरा रोज रात भर अपने आंसू टपकाता रहता। सुबह तक ओस जम जाती। सुबह जब सूरज भगवान अपनी पीली पीली आंखें खोलते तो पता चलता जैसे कि हरी हरी घास पर कोई सफेद भूरी राख छिड़क गया है। सूरज की गर्मी से धीरे धीरे राख पिघलने लगती। धूप खिल जाती। लेकिन, हवा में इतनी ठंड होती कि धूप में बैठना भी कई बार मुश्किल हो जाता। हवा जैसे सारे कपड़ों को छेदती हुई शरीर में घुसने को होती। दिन भर खिली धूप का दम दो बजे के बाद टूटने लगता। शाम को चार बजते बजते तो ऐसा लगने लगता जैसे कि शरीर धीरे धीरे ठंडा होने लगा है। किसी भी चीज से उसे गर्मी नहीं मिल पा रही है। किसी तरह से खुद को गरम रखते वो चाय तैयार करती। शाम होते ही बिस्तर में पनाह लेने के अलावा कोई चारा नहीं बचता।

यह देहरादून की सर्दियां थीं। इसकी वो आदी नहीं थी। सर्दियों के मौसम में वो दस कदम आगे की चीज न दिखायी देने वाले कोहरे को झेलती रही थी। दिन दिन भर सूरज के दर्शन नहीं होते। सूरज की उम्मीद में कई कई दिन निकल जाते। लेकिन, यहां तो सूरज बिला नागा हाजिर है। हालांकि, इसके बाद भी सर्दियों से राहत नहीं।

हां, कभी कभी जब वो इस धूप में छत के ऊपर चली जाती तो सामने मसूरी चमकती हुई दिखायी पड़ती। मसूरी के सिर के तुरंत ऊपर बैंगनी रंग की छटा बिखरी होती। जबकि, ऊपर नीले रंग का आसमान अपने अनंत विस्तार से झूमता रहता। इस दृश्य से वह मुग्ध हो जाती। सामने देवदार के घने पेड़ों के बीच छुपे हुए घर के कॉटेज दिखायी पड़ते। मसूरी की पहाड़ियों की रीढ़ पर ही थोड़ा दाहिनी तरफ उसे धनोल्टी के पहाड़ दिखायी पड़ते। यहां पर कुछ दूर तक सपाट मैदान जैसा था। उसके एक तरफ सुरकंडा देवी की पहाड़ियां थीं। चारों तरफ अलग अलग रंग बिखरे पड़े थे। मसूरी से ज्यादा ऊंचाई पर होने के चलते पहले सुरकंडा और धनोल्टी में बरफ गिरती। एक बार सुरकंडा की पहाड़ियों पर वे आगे की तरफ चम्बा और पीछे की तरफ देहरादून की घाटियों का नजारा कर चुके थे। सुरकंडा देवी की चोटी से आगे की तरफ हिमाच्छादित पहाड़ों की एक झलक दिखती है। ऐसा लगता है कि जैसे कहीं आसमान में अचानक से ही बरफ के पहाड़ अपने नुकिले कोन बनाते हुए खड़े हो गये हों। धुंधली धुंधली सी उनकी ऊंचाइयां कहीं गुम हो जातीं। तो कहीं वे चमकीले बादलों के रंग से होड़ करते। उनके बीच से उड़ते बादल उन्हें भी अपने आगोश में लेते। धीरे धीरे उन्हीं में उठने वाले बादल उन्हीं को अपने में समेट लेते। बरफ के पहाड़ों का अस्तित्व छिप सा जाता। फिर चमकीले सफेद बादलों का गाढ़ापन बढ़ जाता। धीरे धीरे करियाते बादलों का वजन अचानक ज्यादा हो जाता। और वे धरती पर अपना प्यार लुटाने लगते। यहां पर बरसते बादलों को देख कर ऐसा लगता कि जैसे उन्हीं कहीं जाने की जल्दी नहीं है। बेहद इत्मीनान से। बरसते। कभी लय तेज हो जाती तो कभी धीरे। किसी कुशल संगीतकार की तरह उनकी धुनें अपने आरोह अवरोह में गूंजती रहतीं। लेकिन, संगीत का क्रम नहीं टूटता। मन भर बरस कर बादल भी अपना अस्तित्व खो चुके होते और फिर से वही चमकदार सूरज सब के ऊपर हंसता हुआ आसमान में दिखायी पड़ने लगता।

उसकी किरणों से अभी अभी तुरंत जमीन पर गिरी बूंदें हीरे की तरह चमक उठतीं। इसी बारिश के बीच कभी आसमान अपनी चांदी मसूरी और धनोल्टी की पहाड़ियों पर बिखेरने लगता। देहरादून में जम कर बारिश होती और जब थोड़ी देर बाद आसमान खुलता तो सामने की पहाड़ियां ऐसी चांदी की तरह चमकने लगतीं जिस पर सुनहरी रोशनी छोड़ी जा रही हो। धुले हुए आसमान में एक एक चीज बेहद साफ दिखायी पड़ती। कभी हवा में अटकी बूंदों पर इंद्रधनुष टंग जाते। नेहा के लिए यह इतना वास्तविक था कि कई बार तो शाम की धूप से चमकती मसूरी के होटलों की खिड़कियों के शीशे भी उसे दिख जाते। सूरज की किरणों की चमक से खिड़कियों के शीशे कौंध से जाते।

पहले पहल जब वे देहरादून आये थे, तो हरदम उन्हीं घूमने की धुन लगी रहती। किसी भी छुट्टी पर घर बैठने वाले वे थे नहीं। सुबह से ही बाइक पर निकल जाते। शहर के बाहर किसी चलते हुए पानी में पैर डाल कर बैठे रहने, किसी झरने में अपनी हथेलियों को भिगोने के शौक से भरेपूरे वे हर समय उल्लास से खिलखिलाते रहते।

चाय पीते हुए गौरव ने अखबार का पन्ना पूरा खोल लिया। एक एक हेडिंग पर निगाह टिकाते हुए वह अखबार की खबरों में उलझा हुआ था। इतने में ही नेहा की निगाहें फिर वहीं पर जा टिकीं जहां पर कल रात में वे उलझ गयी थीं। अखबार में तल्लीन गौरव की मूंछों के सफेद बाल को उसने एक बार फिर गौर से देखा। इस समय मूंछें एकदम सूखी हुई थीं। रात की तरह भीगी नहीं। इसलिए सफेद बाल काले बालों में काफी कुछ छुप सा गया था। लेकिन, अब नेहा को उसका पता मालूम था। उसने गौर से देखा, हां, उसका एक बाल सफेद हो गया है। फिर उसने और गौर किया तो कनपटियों पर भी एकाध सफेद बालों की झलक उसे दिखायी पड़ी। वह एकटक उन बालों को देखती रही।

नेहा गौरव को तब से जानती है जब गौरव की मूंछों की केवल एक बारीक सी रेख निकली हुई थी। उन काले बालों के छोर सुनहरे से लगते थे। सुनहरे बाल कभी जाहिर हो जाते तो कभी छिपे रहते। वो एकदम लड़का सा ही था। वो खुद भी अपने बालों में दो चोटी करके और स्कर्ट पहन कर स्कूल जाने वाली लड़की थी। एक ही मोहल्ले के होने के चलते दोनों एक दूसरे को जानने तो लगे लेकिन जान पहचान तभी हुई जब दोनों का एडमिशन यूनीवर्सिटी में हो गया। पढ़ाई अभी बीच में ही थी कि दोनों ने आगे के जीवन की योजनाएं बनानी शुरू कर दीं। एक ही इंस्टीट्यूट से दोनों ने एमबीए किया। देहरादून में गौरव को एक कम्पनी से ऑफर मिला तो उसने यहीं पर नौकरी ज्वाइन कर ली। देहरादून में नौकरी का ऑफर है, यही बहाना करके नेहा भी देहरादून चली आयी। 'बिन फेरे हम तेरे' की धुन पर दोनों साथ रहने लगे। शादी करनी थी, लेकिन उसके लिए पहले पैसा जुटाना था। उन्होंने अपने आप से ही अपनी शादी की घोषणा कर दी। खूब हंगामा हुआ। मरा हुआ मुंह तक भी न देखने की कसमें परिवार वालों की तरफ से खायी गयीं। लेकिन, दोनों ने परवाह नहीं की। एक दूसरे के साथ से उनकी दुनिया पूरी हो गयी थी।

बाद में नेहा को भी एक कम्पनी में नौकरी मिल गयी। सुबह उठ कर दोनों नाश्ता करते, टिफिन तैयार करते और बाइक पर पहले तो गौरव नेहा को उसके दफ्तर में छोड़ने जाता, इसके बाद वह अपने दफ्तर जाता। शाम को नेहा बस पकड़ कर घर आ जाती। गौरव रात में देर से आता। तब नेहा उसे इंतजार करते हुए मिलती। उनकी इस दुनिया में अब एक तीसरा व्यक्ति भी आ चुका था। इस तीसरे आदमी के चक्कर में नेहा को अपनी नौकरी गंवानी पड़ी। उन्होंने पूरे महीने भर की बजटिंग फिर से की। हां, थोड़ी मुश्किल तो जरूर होगी, लेकिन खींचतान करके घर का खर्च चल ही जायेगा। उस समय उन्होंने इसकी ज्यादा चिन्ता भी नहीं की। लेकिन अब नेहा को लगने लगा कि गौरव कुछ बदल गया है। कुछ बदलने सा लगा है। हर समय वह उन छोटे छोटे परिवर्तनों को ढूंढती रहती जो उसके बदलने का संकेत देते थे। कहीं ये बदलाव मूंछों के इस पके हुए बाल की वजह से तो नहीं। कनपटियों पर दिखने वाले चांदी जैसे एकाध बाल तो इसका कारण नहीं।

नेहा न जाने कब तक ऐसे ही एकटक गौरव को देखती और अपने खयालों में गुम रहती। कि तभी सात्विक ने कुनमुनाना शुरू कर दिया। सुबह उठ कर कई बार वह बिना आवाज किये बस चुपचाप टुकुर टुकुर ताकता रहता था। कई बार अपने हाथों पैरों को ऊपर उठाने की कोशिश करता। कुनमुनाने की आवाज सुन कर पहुंची नेहा ने बड़ा सा मुस्कराते हुए सात्विक को गुड मॉर्निंग किया। उसे उठाया और उसके पोतड़े बदलने लगी। इस बीच गौरव भी वहीं आ गया। मुग्ध भाव से नेहा और सात्विक को देखता हुआ वह अपने कपड़े निकालने लगा। सात्विक को दूध पिलाने के बाद नेहा नाश्ता बनाने में जुट गयी। गौरव नहाने चला गया।

खाना बनाते हुए नेहा को फिर उन्हीं खयालों ने जकड़ लिया। गौरव बदल गया है। बाथरूम में चुपचाप पानी गिरने की आवाज आती रही। यही गौरव बाथरूम में घुसते ही गाना शुरू कर देता। किशोर कुमार की पूरी एक कैसेट बजाने के बाद ही उसका नहाना पूरा होता। बाथरूम में कभी किशोर कुमार इन ब्लू मूड्स बजने लगता तो कभी सेंटीमेंटल सांग्स ऑफ किशोर कुमार। लेकिन, अब चुपचाप पानी गिरता रहा और नहाने की आवाज आती रही। अब ये गाना क्यों नहीं गाता। क्यों चुपचाप रहता है।

नेहा को उन दिनों की याद बहुत ही अच्छी तरह थी, जब वे किसी पार्क या रेस्टोरेण्ट में जाकर बैठते थे। सिनेमा हॉल के सामने बने एक रेस्टोरेण्ट में तो एक बार उन्होंने दस बारह कप चाय के पिये होंगे। हर आधे घंटे के बाद रेस्टोरेण्ट का लड़का वहां आकर उनसे पूछने लगता साब बिल ले आऊं। और गौरव उसे दो कप चाय लाने का आर्डर दे देता। बिल काउंटर पर बैठा दुकानदार

उन्हें चिढ़ भरी निगाह से देखता रहा। उसके पीछे लगे स्टीकर 'उधार प्रेम की कैंची है' और 'कृपया बेकार बैठ कर वक्त जाया नहीं करें', उसे ही चिढ़ाते रहे। तब ये, हां यही गौरव था। एक मिनट के लिए भी उसका हाथ नहीं छोड़ता था। अपने दोनों हाथों में उसकी एक हथेली को पकड़े हुए वह दुनिया जहान की बातें करता रहता। नेहा की हथेलियां पसीने से भीगने लगतीं और वह मन ही मन सोचती कि हे भगवान अब छोड़ भी दो। कभी खींच कर वह अपनी हथेली को छुड़ाती भी तो वह फिर उन्हें अपने हाथों के बीच ले लेता।

अपने हाथों में पकड़ कर वह नेहा की एक एक उंगली का मुआयना सा करता रहता। किस उंगली में चक्र बना है, किसमें भंवर और कहां निशान पूरा एक चक्र नहीं बना सके और चक्र बनते बनते रह गया। एक अंगूठे पर लगी चोट के कारण वहां पर फिंगर प्रिण्ट के निशान भी कट गये थे। फिर वह उसकी हथेलियों के पीछे देखने लगता। हथेलियों के पीछे की फूली नसों को वह छू छूकर देखता। जहां भी नसें उभरी हुई थीं, वहां वह हल्के से दबा देता। फिर कहता "तुम्हारी नसें नीले रंग की हैं।" फिर वह अपने कमीज की बाजुओं को ऊपर करके दिखाता "मेरी नसों का रंग हरा है।"

नसों के इस उलझाव और हथेलियों पर पड़ी रेखाओं के इस जाल से वह निकलने का कोई मौका ही नहीं देता। नेहा के हाथ पसीने से भीगने लगते। किसी तरह से वह पल भर को अपना हाथ छुड़ाती तो वह फिर से उन्हें अपनी हथेलियों के बीच भर लेता।

उन पलों को याद करने के साथ ही नेहा ने एक बार फिर सोचा, अब ये बदल गया है। रसोई में साथ काम करते हुए भी कई बार तो ऐसा लगता कि जैसे कोई अजनबी बगल में खड़ा है और काम करते हुए इस कोशिश में लगा हुआ है कि कहीं छू न जाये। सिर दर्द से फटा जाता और वह एक बार सिर पर हाथ भी न रखता। क्या गोली नहीं खायी, रुको मैं दवा लाता हूं। अरे एक बार सिर पर हाथ रख दोगे तो कम नहीं हो जाओगे। नेहा के खयालों में इन बातों ने अपनी स्थाई जगह बना ली थी।

टिफिन बना कर उसने तैयार कर दिया। नाश्ता करते हुए भी गौरव एक शब्द नहीं बोला। बस कामकाजी बातें। शाम को आने में देर होगी। काम बहुत ज्यादा है। आज मीटिंग भी है। पेपर वाला आजकल पेपर देर से फेंक रहा है। कुछ ऐसी ही बातें।

नेहा उसे बहुत कुछ बताना चाहती थी। सात्विक हर दिन बड़ा हो रहा है। अब तो वह जवाब भी देने लगा है। कल तुम उसे नहाते समय देखते। कैसा खिलखिलाने लगता है। बाथटब में हल्के गुनगुने पानी में उसे डाल कर नेहा ने नहलाया था। बेबी शैम्पू से उसके बाल धोने के बाद कैसे सुनहरे रंग की आभा से चमकने लगे थे। लेकिन, गौरव के पास वक्त नहीं था। दस बजने वाले थे। उसे मीटिंग के लिए देर हो रही थी। बैग में टिफिन और लैपटॉप रखने के साथ ही उसने सात्विक की उंगलियों को हल्के से छुआ और कुछ सोचते हुए सीढ़ियां उतरने लगा। नेहा बालकनी में आकर खड़ी हो गयी। गौरव ने बाइक घुमायी और किक मार कर उस पर बैठ गया। धीमी बुड़ बुड़ करती हुई बाइक चल पड़ी। गली के नुक्कड़ तक गौरव दिखायी पड़ता रहा। नेहा चुपचाप उसे देखती रही। हां, अब वो पहले जैसा नहीं रहा। पहले गौरव गली के नुक्कड़ पर एक पल को रुकता जरूर था। उसे पता रहता था कि वहां बालकनी में नेहा खड़ी होगी। वह उसी की तरफ देख रही है। एक मिनट रुक कर वह पलट कर देखता और फिर बाइक को आगे बढ़ाता हुआ चला जाता। लेकिन, आज गौरव यहां भी नहीं रुका। न ही उसने पलट कर देखा। क्या वो नेहा की मौजूदगी से भी गैरवाकफिफ होने लगा है।

सात्विक के रोने की आवाज आने पर नेहा की तंद्रा टूटी। वह चुपचाप सात्विक के पास चली आयी।

दिन बीता। सर्दी और सख्त हो चली। उस रात भी गौरव का इंतजार करते करते उसकी आंख लग गयी। जब मोबाइल पर 'साथिया, मध्यम मध्यम तेरी गीली हंसी' की धुन सुनायी पड़ी तो उसने सबसे पहले घड़ी की तरफ देखा। रात के साढ़े ग्यारह बज रहे थे। गौरव का इंतजार करते करते उसकी आंख झपक गयी। झगड़ने के पूरे मूड से वह दरवाजे पर पहुंची। दरवाजा खोल कर वह एकटक खड़ी होकर गौरव को देखती रही। गौरव कन्नी काटते हुए अंदर घुस आया। गौरव के दस्ताने उतारते और मफलर हटाने तक उसका अंदाजा पक्का हो गया था। गौरव के मुंह से शराब के तेज भभके आ रहे थे। गौरव ने बैठी हुई थरथराती हुई आवाज में कहा "तुम सो जाओ, मैं खाना खाकर आया हूँ।"

चिट्ठी हुई नेहा की चाल में तेजी आ गयी। तो अब ये पीकर भी आने लगा है। इसने बताना भी जरूरी नहीं समझा कि खाना खाकर घर आयेगा। चुपचाप आकर वह बिस्तर में लेट गयी। उसने सात्विक की तरफ मुंह कर लिया और उसे अपने सीने से चिपटा लिया। बच्चा पहले तो कुनमुनाया, फिर मां की गरमी का अहसास पाकर और भी ज्यादा संतोष के साथ सो गया।

दो

बाइक स्टैंड पर लगाते हुए गौरव का ध्यान सबसे पहले हल्के से भीग चुके अपने दस्तानों पर गया। एक हाथ का दस्ताना उतार कर उसने तुरंत ही मोबाइल निकाला और नेहा को मिस कॉल दी। सीट्टियों चढ़ते हुए दरवाजे तक पहुंचा। एक ही दस्तक में दरवाजा खुल गया। सामने नेहा खड़ी थी। दरवाजा खोल कर वह एकटक उसे देखने लगी। उसे इस तरह देखते देख कर गौरव चिढ़ गया यह क्या कि दरवाजा खोल कर ऐसे खड़े हो गये कि हां क्या काम है। दरवाजा खोलने के बाद अगर कोई बगल नहीं होगा तो कोई अंदर घुसेगा कैसे। एक पल तक गौरव इंतजार करता रहा। फिर बगल से होकर अंदर आ गया। उसके पीछे पीछे नेहा ने भी दरवाजे पर कुंडी लगायी और अंदर चली आयी।

कुर्सी पर बैठ कर गौरव ने दस्ताना, मफलर, जूते उतारे। लांग कोट उतार कर कुर्सी पर ही टांग दिया और अंदर जाकर हाथ धोने लगा। हाथ मुंह धोकर वह जब बाहर निकला तब भी नेहा वहीं कुछ असमंजस की स्थिति में खड़ी हुई थी। गौरव के मुंह से निकला "तुम जाकर सो जाओ, मैं खाना खा लूंगा।"

"नहीं, मैं खाना गरम कर देती हूँ।" नेहा ने कहा।

गौरव कमरे के अंदर चला गया। सात्विक सो रहा था। सोते हुए उसकी मुट्ठियां भिंची हुई थीं। दोनों मुट्ठियों को उसने अपने गालों के नीचे यूं लगाया हुआ था, जैसे किसी बात पर विचार की मुद्रा में विद्वत्तजन अपनी मुट्ठियों पर अपनी टुड्डी रखते हैं। उन भिंची हुई मुट्ठियों को खुलवा कर उसमें अपनी उंगली फंसाने का प्रयास गौरव करने लगा। इसी से कुनमुना कर सात्विक जाग गया।

गौरव ने पहले तो सात्विक को थपकियां देकर सुलाने की कोशिश की। लेकिन, उसकी नींद टूट चुकी थी। अपनी मां को पास न देख कर उसने रोना शुरू कर दिया। उसे चुप कराने में नाकाम गौरव उठ कर रसोई में चला आया। इसके बाद अपने खाने के लिए रोटियां भी उसे ही बेलनी पड़ीं। रसोई में ही किसी तरह रात का डिनर निपटा कर जब तक वह कमरे में पहुंचा सात्विक को सुलाते सुलाते नेहा भी सो चुकी थी। कुछ देर तक वह चुपचाप नेहा और सात्विक को देखता रहा। सात्विक के चेहरे पर फिर से पहले जैसा संतोष था और उसने अपनी मुट्ठियों को कस कर भींचते अपनी टुड्डी के पास लगा ली थी।

इन्हीं मुट्ठियों को भींचते हुए कभी कभी वह अपने चेहरे को भी नोंचने लगता। सात्विक के नाखून काटना कम मुसीबत का काम नहीं था। एक तो वह उंगली पकड़ने नहीं रहने देता था।

अगर थोड़ी देर पकड़ो भी तो उसके उंगली हिलाने से कटने का खतरा बना रहता था। नेहा अपने दांतों से ही एक एक नाखून का अंदाजा करके काटती थी। लेकिन, उसके नाखून बढ़ते भी बड़ी तेजी से थे। पतली लम्बी लम्बी उंगलियां थीं। जब वह पैदा हुआ था, उसी दिन उसकी लम्बी उंगलियों की पहचान किसी ने कर ली थी। वह बोला था “कलाकार की उंगलियां हैं, लम्बी लम्बी।”

अब पता नहीं क्या बनेगा। गौरव इस पर ज्यादा नहीं सोचता। बस पढ़ लिख कर अपने पैरों पर खड़ा हो जाये। तैरना सीख ले, गिटार बजाये और फुटबाल खेले। हां, बड़ा हो जायेगा तो हम दोनों एक बार लद्दाख भी जायेंगे। जरूर। और हो सका तो पहाड़ों पर ट्रेकिंग करने। फूलों की घाटी, पवाली कंठा, सुंदरबन और नेपाल में पुन हिल। गौरव ने कई ट्रेकिंग रूटों के नक्शे अपने मन में खींच रखे थे। यही सब सोचता हुआ वह चुपचाप अपने बिस्तर में आ गया। सुबह से थका हुआ था। उसे तुरंत ही नींद आ गयी।

लेकिन रात नींद और होश के बीच झूलती रही। सब को सोते देख सात्विक ने अचानक अपनी आंखें खोल लीं। जैसे सबके सो जाने का इंतजार कर रहा हो। ऊपर पंखे से बंधे लाल, हरे और नीले गुब्बारे पर उसकी निगाहें टंगी रहीं। अक्सर ही वो अपनी गोल गोल आंखों से पंखे पर बंधी इन बड़ी बड़ी चीजों को ध्यान से देखने लगता था। गुब्बारों को देख कर कुछ खुशी से वह किलकने भी लगा। अपने हाथों पैरों को तेजी से फेंकने लगा। उसके पैर से कम्बल हटने लगा। अपने पैरों को साइकिल पर पैडल की तरह चलाते हुए उसने ऊपर से कम्बल हटा दिया। उसके किलकने की आवाज सुन कर गौरव की नींद खुल गयी। उसने धीरे से सात्विक के गालों को छुआ। सात्विक उसकी तरफ कुछ अनिश्चित सा होकर देखने लगा। वो उसे ऐसे ही देखता था। थोड़ा थोड़ा सा। कभी पहचानते हुए तो कभी बेपहचान के।

गौरव ने उसे अपनी गोद में उठा लिया। उसके पोतड़ों की जांच की। वे गीले नहीं थे। अपनी गोद में लेकर सात्विक को गौरव झुलाने लगा। इससे खुश होकर सात्विक किसी तरंग की तरह अपने पैरों को झटका दे देता। नेहा गहरी नींद में सो रही थी। सात्विक की किलकारियों से भी उसकी नींद नहीं टूटी। गौरव उसके चेहरे को ध्यान से देखने लगा। आंखों के पास हल्के काले गड्ढे दिख रहे थे। माथे पर झुर्रियां तो नहीं लेकिन हल्की झाई जैसा कुछ दिखने लगा था। बहुत ही कम सो पाने के चलते हर समय एक चिड़चिड़ापन उसके स्वभाव में बैठ गया था। नींद में भी वही दुश्चिंता उसके चेहरे पर बहुत मुखर होकर सामने आ रही थी।

नेहा के चेहरे को देखते हुए गौरव की चिन्ता और बढ़ने लगी। क्या होगा। आगे क्या होगा। जीवन कैसे आगे चलेगा। गौरव की आंखों में भविष्य की चिन्ताएं तिरने लगीं। अपने हाथों में लेकर पहले तो वह सात्विक को थपकियां देता रहा। फिर उसे हल्का सा निंदाता देख कर उसने सात्विक को अपने हाथों में लेकर हल्का हल्का झुलाना शुरू कर दिया। नींद और चिन्ताएं गौरव पर भी भारी होने लगीं। एक एक दिन मुश्किल से बीत रहे थे। हर दिन की शुरुआत गौरव इसी एक चिन्ता से करता कि आगे क्या होगा। अब क्या होने वाला है। नींद गहरी होने लगी। सात्विक की किलकारियां खामोश होने लगीं। गौरव उसे झुलाता रहा। नींद और होश के बीच अचानक उसे लगा कि वह सात्विक को लेकर बालकनी के पास खड़ा है। अपनी दोनों हथेलियों का झूला बना कर वह सात्विक को झुलाए जा रहा है। सात्विक उसकी तरफ देख कर किलकारियां भर रहा है। लेकिन, उसके हाथों की पकड़ ढीली हो रही है। सात्विक उसके हाथों से छूट रहा है। वह बालकनी से नीचे बस गिरने को है।

नहीं, अचानक ही गौरव के होश जाग जाते। सात्विक को झुलाते झुलाते वह खुद भी झपकी में झूलने लगा था। उसके हाथों से बस सात्विक छूटने को ही था। हथेलियों की नरमाई और हल्के

झूले में वह कब का सो चुका था। गौरव ने उसे हल्के से बिस्तर पर लिटा दिया कि उसकी नींद न टूटने पाये।

लेकिन, इतने में गौरव की नींद टूट गयी। अब उसने अपनी आंखें बंद कीं तो उनमें नींद नहीं थीं। आंखों को बंद करके वह बैठे बैठे ही न जाने कहां कहां की बातें सोचने लगा। कभी तो नींद आंखों पर आकर कब्जा जमाती तो कभी बस यूं ही दिखावा करके भाग जाती। उस दिन, पूरी रात कुछ ऐसे ही नींद और होश के बीच झूलती रही।

अगले दिन जब गौरव उठा तो रात भर की कशमकश उसके पीछे पड़ी हुई थी। दिन की शुरुआत भी कुछ अच्छी नहीं हुई। गौरव सुबह जल्दी उठता है। सुबह उठ कर उसने चाय बनानी शुरू की। चाय का पानी चढ़ाया, चायपत्ती डाली, अदरक डाला। जब पानी खौलने लगा, उसने दूध डाला। लेकिन, कुछ ही देर में दूध के थक्के जम गये। चाय फट गयी। पूरा मूड खराब हो गया। खैर, अपनी कोफ्त पर काबू पाते हुए उसने किसी तरह चायदाना अच्छी तरह से धोयी इसके बाद दोबारा चाय चढ़ा दी। इस बार बड़ी सावधानी से दूध डाला। चाय छानने के बाद वह नेहा को जगाने चला गया।

नेहा और गौरव दोनों चाय पीते रहे। गौरव ने पूरा अखबार खोल डाला। एसएसपी के घर के नजदीक ही डकैती पड़ गयी थी। सुबह सैर पर निकली महिला के गले से चेन खींच ली गयी थी। बल्लीवाला चौक पर कोई फ्लाईओवर बनने वाला था जो लोगों को जाम से निजात देने वाला था। दोस्तों पर ऐतबार कर उनके साथ पार्टी करने गयी छात्रा बलात्कार का शिकार हो गयी थी। इस तरह की खबरों पर चलते चलते वह दो ट्रकों की टक्कर में एक मरा जैसी हेडिंगों तक भी पहुंचने लगा।

पहले पेज की खबरों में प्रधानमंत्री ने देश के उद्योगपतियों से नहीं घबराने की अपील की थी। औद्योगिक क्षेत्रों की तरफ से मंदी से निपटने के लिए बेल आउट पैकेज की मांग की जा रही थी। दरअसल, ये बेल आउट शब्द अमेरिका में पैदा हुआ था और वहीं से चल कर भारत आ पहुंचा था। अखबार के सम्पादकीय पेज पर इस आर्थिक मंदी के कारण और निवारण पर भी प्रकाश डाला गया था।

अमेरिका में लोगों को घर चाहिए थे। घर बनाये गये। हजारों लाखों आवासीय योजनाएं। लोगों को लुभाने वाली। वन बीएचके, टू बीएचके, थ्री बीएचके, डुप्लेक्स, पेंटा हाउस। हर तरह के घर। जिन लोगों के पास पैसा था उनके पास पहले से ही घर था। फिर कहा गया कि रियल इस्टेट में इनवेस्टमेंट सबसे अच्छा है। आज प्रापर्टी खरीदी है तो कुछ ही सालों में वही प्रापर्टी आपको दुगुनी रकम देकर जायेगी। खरीद लो, खरीद लो। अब जिनके पास पहले से ही घर थे उन्होंने और घर खरीदे। रहने के लिए नहीं। निवेश के लिए। बेचने के लिए। जब मौका आयेगा, तब बेच देंगे। पैसा अच्छा मिलेगा। लोगों ने लोन ले लेकर घर खरीदे। लेहमन ब्रदर्स ने जिनके पास भी पैसा कम पड़ा, उन्हें पैसा दिया। कोई बात नहीं, आपके पास घर की कीमत का दस प्रतिशत है। बाकी 90 प्रतिशत हम फाइनेंस कर देंगे। खरीद लो घर, बस महीने के महीने किश्तें चुकाते रहो। गम्भीर आशावाद के पीड़ितों ने घर खरीदना जारी रखा। खूब घर खरीदे गये। बिल्डरों की मौज आयी। खूब लोहा सरिया बिका। खूब सीमेण्ट बिका। पेण्ट, शीशा, पत्थर, लकड़ी सब कुछ की इंडस्ट्री ने खूब रफ्तार पकड़ी।

पर अफसोस कि सब कुछ ऐसे ही नहीं चलता रहा। बेचने वाले बढ़ गये। खरीदने वाले कम पड़ गये। लोगों ने जिन मकानों को अच्छे इनवेस्टमेंट के हिसाब से खरीदा था। उन्हें बेचना चाहा। कि अब तो पैसा मिल जाये। लेकिन खरीददार ढूंढना मुश्किल होने लगा। जिन्दगी की परेशानियां बढ़ने लगीं। बैंक की किश्त जिन्दगी की जरूरतों को मुंह चिढ़ाने लगी। किश्तें भरना दुश्वार हो गया। लोग

डिफाल्टर होने लगे। कहां से किश्त चुकायें। जब पैसा ही नहीं। लोग अपने इनवेस्टमेंट का बोझ ढोने लायक नहीं बचे। लेहमन ब्रदर्स ने लोन न चुका पाने वाले कुछ लोगों का तो घर जब्त कर लिया। लेकिन, ऐसे तो कारोबार नहीं चलेगा।

तो उन्होंने एक नायाब तरीका निकाला। उन्होंने कर्ज चुकाने के लिए भी कर्ज देना शुरू कर दिया। अच्छे दिन फिर से आयेंगे, इस उम्मीद में लोगों ने कर्ज चुकाने के लिए कर्ज लिए। लेकिन अब किश्तें भी दोगुनी हो गयीं। पहले कर्ज की। फिर उस कर्ज को चुकाने के लिए लिए गये कर्ज की। अच्छे दिनों की यह उम्मीद भी ज्यादा दिनों नहीं टिकी। लोगों के लोन सरेंडर होने लगे। किश्तों की उगाही मुश्किल हो गयी। हालात यहां तक बिगड़े कि लेहमन ब्रदर्स को सांप सूंघने लगा। और अमेरिका के सबसे बड़े बैंकों में शामिल रहे लेहमन ब्रदर्स ने सितम्बर 2008 में खुद को दिवालिया घोषित कर दिया।

छह अरब डालर से ज्यादा पूंजी वाला, दुनिया के कई देशों में शाखाओं वाला, कई हजार लोगों को नौकरी देने वाला बैंक जब धराशायी हुआ तो दुनिया में जैसे भूचाल आ गया। शेयर बाजार रसातल में चले गये। अमेरिका में सितम्बर 2001 में हुए हमलों के समय बाजार जितने नीचे गये थे, लगभग उसी स्तर पर सेंसेक्स गिर गया। अब सेंसेक्स तो इस अर्थव्यवस्था की जीवनरेखा थी। जब धड़कन गायब होने लगी तो बाजार मरणासन्न हो गये। आर्थिक भूचाल आ गया। कम्पनियों ने इस भूचाल से निपटने का एक ही तरीका निकाला। अपने खर्च कम करो। करोड़ों अरबों की तनखाह लेने वाले मैनेजरों ने बताया कि कम्पनी में बहुत सारे ऐसे लोग हैं जिनका श्रम उत्पादक नहीं। उनकी नौकरी बोझ है। ये नौकरियां कम कर दी जायें तो कम्पनी के बहुत सारे पैसे बच सकते हैं। घाटा कम किया जा सकता है। लोगों की नौकरियां छिनी जाने लगीं। लोग बेरोजगार होने लगे। बेरोजगार लोगों ने अपनी जिन्दगी की जरूरतें और सीमित कर दीं। एक किलो दूध की बजाय एक पाव से काम चलाया जाने लगा। पिक्चर देखनी बंद हो गयी। शापिंग बंद, रेस्तरां में खाना बंद। नतीजा हुआ कि सिनेमा में मंदी, शापिंग में मंदी, रेस्तरां में मंदी। कारों की खरीद बंद। टीवी की खरीद बंद। फ्रिज बिकने बंद हो गये। दुकानों पर रखे एसी पर धूल जमने लगी। और इन सभी उद्योगों में हजारों लाखों लोगों की नौकरियां चली गयीं।

इतनी ढेर सारी सूचनाओं से घबरा कर गौरव ने अखबार बंद कर दिया और चुपचाप बाथरूम में चला गया। पानी ज्यादा गरम हो गया था। बाल्टी से इमरसन राड हटाने के बाद उसने पहले तो पानी को मग से ऊपर नीचे किया। कई बार पानी ऊपर से तो गरम हो जाता है, लेकिन नीचे ठंडा रहता है। नहाना शुरू करो तो पहले तो गरम पानी मिलता है, पर बाद में ठंडे पानी से नहाना पड़ता है। गरम पानी से गरम हुए शरीर को ठंडे पानी की मार ज्यादा भारी पड़ती है। इस तरह के धोखे का शिकार कई बार हो चुके गौरव ने पानी के ऊपर नीचे का तापमान बराबर करने की कोशिश की। इसके बाद भी जब पानी गरम लगा तो उसने दो मग पानी बाल्टी से निकाल कर बहा दिया। इसके बाद बाल्टी में नल चला दिया। छत पर रखी टंकी में रात भर ठंडाया हुआ पानी नल में से निकलने लगा। उसने अपने बालों में शैम्पू लगाया और हल्के से पानी डाला तो हल्की ठंड की फुरियां सी दौड़ीं, फिर पानी की गरमाई अच्छी लगने लगी। गुनगुने पानी को वह अपने शरीर पर रगड़ने लगा। गरम पानी को त्वचा पर ज्यादा से ज्यादा फैलाने में उसके हाथ लगे रहे। लेकिन, दिमाग में कहीं कोई एक बात अटकी हुई थी।

फालतू। हां, फालतू स्टाफ कम किया जाना है। जिनकी जरूरत नहीं है। क्या होता है ये फालतू। क्या उसके परिवार को उसकी जरूरत खतम हो गयी। अपने घर की पूरी गाड़ी खींचने वाला

कोई आदमी अपने आफिस में फालतू कैसे हो सकता है। कम्पनी को उसकी जरूरत नहीं है। ये कोई महीने भर पहले की बात होगी, जब फालतू साबित कर दिये जाने का डर हर किसी के चेहरे पर दिखायी पड़ने लगा था। सावधान रही, लिस्ट तैयार हो रही है। इस समय काम में जरा भी लापरवाही ठीक नहीं। ये चेतावनी भरी एक आवाज थी, जो आफिस में चुपके चुपके हर कान तक पहुंच रही थी। तो क्या यहां भी छंटनी होगी। लोग निकाले जायेंगे। ये चेतावनी हर समय उसके दिमाग में अटकी रहती। हालांकि, बाद में कोई समझाने भी लगा कि नहीं तुम्हारा नम्बर थोड़े ही है। काम करने वालों की जरूरत तो हमेशा रहेगी। जो काम नहीं करने वाले हैं, उन्हें ही निकाला जायेगा। कम्पनी को घाटा हो रहा है। मोटी मोटी तनखाहें लेकर भी जिन्होंने काम नहीं करने की कसम खा रखी है, उन्हें बाहर कर दिया जायेगा। इससे कम्पनी का घाटा भी पूरा हो जायेगा और फालतू स्टाफ भी हट जायेगा।

इन्हीं खयालों में डूबा हुआ गौरव बाहर आया। हर बात के जवाब में हूं हां करते हुए उसने नाश्ता किया और मीटिंग के लिए देर न हो जाये, यह सोचता हुआ जल्दी से तैयार होकर चल दिया।

मन की उलझन इस तरह हावी हो गयी थी कि गली के नुक्कड़ पर एक क्षण रुकने का गौरव को ख्याल ही नहीं रहा। बाइक एक खास गति में बुड़ बुड़ करती हुई सीधे आफिस में ही जाकर रुकी।

अभी दस बजने में पांच सात मिनट बाकी ही थे कि गौरव आफिस पहुंच गया। कहने को उसकी फील्ड जाब थी। सुबह की मीटिंग में सबके साथ दिन भर के कामकाज के बारे में विचार विमर्श होता था। इसके बाद वे फील्ड में निकल जाते। शाम को पांच छह बजे तक सभी लोग फिर से आफिस पहुंच जाते। दिन भर के कामकाज की समीक्षा यहां पर होती थी। अक्सर ही इसमें देर हो जाती।

देहरादून की शादियों की ये खास बात थी। पार्टी में जहां महिलाओं के लिए महिला संगीत का इंतजाम रहता तो पुरुषों के लिए कहीं एक कोने में काकटेल पार्टी का। यूं तो नवीन की बहन की शादी की दावत आफिस में सभी लोगों को दी गयी थी। लेकिन बॉस लोगों के वहां पर पहुंचने की उम्मीद नहीं के बराबर थी। रात के लगभग साढ़े नौ बजे गौरव वहां पहुंचा तो सभी का जमघट लगा हुआ था। बीयर, व्हिस्की, रम और ब्रांडी की बोतलें रखी हुई थीं। यहां पर स्वतंत्रता पूरी थी। चाहे जैसा भी पैग बनाओ। बस इतना होश रहे कि घर पहुंचाने की जिम्मेदारी किसी की नहीं है। यानी घर जाने लायक बचे रहो।

रायल स्टेज की बोतल और एक बोतल सोडा और चार पांच गिलास अमित थपलियाल ने अलग कर लिए। मेहमानों की भरमार हो चुकी थी। बाहर के सर्द मौसम की तुलना में यहां काफी गहमागहमी थी। सेना के अधिकारियों के लिए इस्तेमाल होने वाले एक क्लब की यह बिल्डिंग थी। सेना से रिटायर हुए नवीन के किसी रिश्तेदार की बदौलत पार्टी के लिए यह बिल्डिंग नसीब हुई थी। एक तरफ तंदूर लगा हुआ था। अमित ने तंदूर के पास ही अपनी टेबल लगवा ली।

दोस्तों का जमघट लग गया। मेज पर गिलास सजा कर अमित शराब ढालने लगा।

कुछ लोगों को बोतल का ढक्कन खोलने के साथ ही चढ़ने लगती है। शराब की महक का ऐसा ही असर अनुपम पर होता था। इसके साथ ही शराब और नशे को दर्शन के स्तर पर पहुंचाने का उसका प्रयास भी शुरू हो जाता। “पहली छलांग तो लम्बी ही होती है। तभी तो आगे के लिए उत्साह बना रहेगा। इसलिए पहला पैग तो बड़ा ही होगा। कभी भी अपना टारगेट छोटा मत रखो दोस्तो।”

राजेश की आवाज में नखरा बहुत था। उसके गिलास में जैसे ही अमित ने शराब की बोतल का मुंह ढेड़ा किया, उसने यही कहना शुरू किया। “बस बस, इससे ज्यादा नहीं भाई, घर भी तो जाना है।” लेकिन, इस ना नुकुर के बाद भी मजाल है कि कोई उससे ज्यादा गटक जाये। गौरव

चुपचाप अपने गिलास में शराब ढाली जाते हुए देखता रहा। गौरव और विकास का गिलास भी भरने के बाद सभी ने गिलास ऊपर उठाये, ऊंचा किया और चीयर्स के साथ ही शराब की चुस्कियां भरने लगे। दो पैग लगने के बाद ही सभी के गाल तमतमाने लगे थे। शराब के पैग के साथ ही अनुपम के दार्शनिक स्तर में भी इजाफा हुआ। अपनी सिगरेट सुलगाने और सिगरेट की डिब्बी सबके आगे करते हुए उसने कहना शुरू किया “भाई शराब की सबसे अच्छी सहेली सिगरेट ही होती है। दोनों मेड फार ईच अदर हैं। एक दूजे के लिए बने हैं। पैग पे पैग चढ़ाते जाओ लेकिन जब तब तक सिगरेट का धुआं अंदर नहीं जाता, बस मजा नहीं आता। दोनों एक दूसरे की बांहें पकड़ कर चलते हैं।”

एक ही दफ्तर के लोगों का जमावड़ा धीरे धीरे उनकी टेबल के आसपास लगने लगा। दिन में कई कई जोड़ी आंखें एचआर डिपार्टमेंट की हर हरकत पर लगी रहती थीं। वहां से आने वाले बुलावे को लेकर हर कोई आशंकित था। दिन में राजेश्वर सिंह का बुलावा था। एचआर के केबिन से निकलने के बाद वे सीधे अपनी टेबल पर पहुंचे थे। वहां से अपना बैग उठाने और कम्प्यूटर बंद करने के बाद वे आफिस से चले गये। बाद में किसी ने फोन करके उनसे पूछा था। कम्पनी की ओर से उन्हें महीने भर का नोटिस मिल गया था।

“कम्पनी में सोलह साल से काम कर रहे थे राजेश्वर सिंह।” किसी ने बताया।

“हां, कभी किसी से ज्यादा बात भी नहीं करते थे। बस अपने काम से काम।”

फिर कुछ देर तक राजेश्वर सिंह के बारे में इसी तरह की बात होने लगी। उनके बच्चे कितने हैं। घर कहां है। अब कैसे करेंगे। अपने बगल की सीट पर बैठे आदमी की नौकरी जाने का तनाव बाकियों के चेहरे पर भी साफ था। गौरव के सेक्शन में कुल 24 लोग थे। इस पूरी टीम से अभी तक छह लोग कम किए जा चुके थे। कितने और लोग वहां से हटाये जायेंगे, इसका कोई अंदाजा किसी को नहीं था।

मेज पर रखे शराब के गिलास को घूरते हुए अनुपम ने कहा “ये तो साला सरासर मनमानी है। जब चाहो आदमी को काम पर रखो, जब चाहो निकाल दो।”

“कम्पनी को कोई घाटा वाटा नहीं है। सरकार से सब्सिडी के लिए मंदा का नाटक किया जा रहा है।” राजेश बोल पड़ा।

गौरव अभी तक चुपचाप पीता रहा था। अब वो भी चुप नहीं रह सका। उसका क्षोभ भी खुल कर सामने आने लगा “क्या हो रहा है। साला ऐसा लगता है कि जैसे हम आदमी ही नहीं हैं। मुर्गों के दड़बे में हाथ डाल कर कसाई एक एक को बाहर निकालता है और जिबह से बचने के लिए हम अपने ही दड़बे में तड़फड़ते हैं। उसकी छूट से भागने की कोशिश करते हैं। बस हम उसके हाथों में न फंस जायें। लेकिन, आज मान लो बच भी गये तो कल फिर तो हमारी बारी आ सकती है।”

कई दिनों की जमी हुई भड़ास में गौरव की आवाज तेज हो गयी। उसकी तेज आवाज से आसपास के और भी लोग टेबल के पास इकट्ठा होने लगे। राजेश ने धीरे से गौरव को उठाया और एक किनारे ले गया “दादा, आप थोड़ा ध्यान रखो। आपको पता नहीं है कि कहां की बात कहां पहुंच जाती है। बस चुप रहो। ज्यादा मत बोलो।”

“क्या यहां की बातें भी पहुंच जायेंगी?”

“दादा, बस आप समझा करो। कौन क्या है। क्या पता।”

अपने कान में कही गयी बातों को सुन कर गौरव चुपचाप टेबल पर चला आया। उसने अपना गिलास उठाया और एक ही घूंट में उसे खाली करते हुए टेबल पर रख दिया। इसके बाद सबसे विदा

लेकर वह चुपचाप बाहर निकल आया। बाइक उठायी और किसी तरह से झूमते झामते बाइक स्टार्ट करके वहां से घर की तरफ चल पड़ा।

घर पहुंचते हुए रात के साढ़े ग्यारह बज गये। नेहा ने दरवाजा खोला और गौर से उसका चेहरा देखने लगी। उसके मुंह से आती शराब के भभके से नेहा की आंखें जलने लगीं। गौरव ने आंखें नीची कर लीं। उससे निगाह मिलाने से बचता हुआ वह धीरे से जाकर कुर्सी पर बैठ गया। मफलर और दस्ताना उतारा। गुस्से में तिलमिलाते हुए नेहा इतने में अंदर जाकर लेट गयी। गौरव ने लांग कोट उतारा। बाथरूम में जाकर हाथ धोया। मुंह पर पानी के छींटे मारे। ठंडे पानी से गालों की तमतमाहट थोड़ा कम हो गयी।

सामने बिस्तर पर नेहा और सात्विक सोये हुए थे। सोते हुए सात्विक ने अपने निचले होंठों को जरा सा भींच लिया था। उसमें से लार की एक हल्की सी रेखा निकल कर उसके गाल पर सूख गयी थी। उसके चेहरे पर अपार संतोष के भाव थे। उसके आसपास जो कुछ भी हो रहा था, वह उससे निर्लिप्त था। उसके पास बस अपना अवलम्बन था। जबकि, उसके बगल में लेटी हुई नेहा को जरूर अभी नींद नहीं आयी होगी। उसने बस चुपचाप अपनी आंखें बंद कर रखी होगी और अंदर ही अंदर गुस्से से भुनभुनाते हुए तड़प रही होगी। गौरव ने बत्तियां बुझा दीं और बिस्तर के एक किनारे जिधर वह सोता था, जाकर लेट गया। कम्बल को अपने ऊपर खींच कर उसने अपनी आंखें बंद कर ली हैं। नींद कहीं नहीं थी। लेकिन, आंखों के बंद होते ही अंधेरा छा गया।

एक ही बिस्तर पर दोनों अपने अपने खयालों के टापुओं पर अकेले रह गये थे। चारों तरफ उनकी चिन्ताओं का समुंदर लहरा रहा था। चिन्ताओं का अलग अलग रंग इन समुंदरों के रंगों में भी उतरा हुआ था। अपने टापू पर पड़े, जीवन के लिए अलग राह निकालने की चिन्ताओं में डूबे वे दोनों पहली बार अकेले हो चुके थे।

(शीर्षक प्रिय कथाकार **रवीन्द्र कालिया** की चर्चित कहानी **सिर्फ एक दिन** से)

कविता का नगर

राजेश जोशी

कविता के नगर का आत्मकथ्य

मैं कविता का नगर हूँ। मैं ही वह अयोध्या हूँ जिसने राम के परलोकगमन के बाद अपने उजाड़ हो जाने की गाथा कुश को जाकर सुनायी थी और अपना वैभव फिर से पाने के लिए कुश से अनुरोध किया था। मैं ही वह लंका नगरी की आत्मा हूँ जिसने स्वयं आकर अपना परिचय दिया। मैं जितना शब्द में हूँ उतना ही स्वप्न में हूँ। मैं जितना वास्तविक हूँ उतना ही अवास्तविक हूँ। मैं जानता हूँ कि मनुष्य को अपना नगर बनाने बसाने के लिए लोहा लकड़, ईंट, गारा, पत्थर, गिट्टी, कोलतार और न जाने कितनी चीजें जुटानी पड़ती हैं। कितने विशाल नगर मनुष्य ने बनाये हैं, इतिहास इसका साक्षी है। उन अद्भुत नगरों ने मनुष्य के रहन सहन को, उसके सोचने समझने को, उसकी संवेदना को कितना बदल दिया है, इसे कौन नहीं जानता। मनुष्यों ने न जाने कितने असम्भवों को सम्भव कर डाला है। ओह! लेकिन मैं ...मैं कविता का नगर हूँ। मुझे बसाना या बनाना भी कोई बहुत आसान काम नहीं है। मेरे भवनों, सड़कों, गलियों, नदियों और सरोवरों को बनाने के लिए एक कवि को भी न जाने कितने शब्द, कितने वाक्य, छंद, लय, मिथक कथाओं और कल्पनाओं की जरूरत होती है। एक कवि का श्रम किसी वास्तुशिल्पी या नगरशिल्पी से किसी बात में कम नहीं होता। कविता का नगर बनाने के लिए भी बहुत हुनरमंदी की जरूरत होती है। और यह भी हर किसी के बस का काम नहीं। मनुष्यों के नगर की ही तरह मेरे नगर की रचना के लिए भी वास्तुशिल्पियों और नगरशिल्पियों की जरूरत होती है। मनुष्यों के इतिहास में तो नगर बसाये जाने के लिए कई तरह की योजनाओं का खाका मिल जाता है लेकिन कविता का नगर तो हर कवि को अपने ही ढंग से बनाना होता है।

समय बहुत दुष्ट चीज है आसानी से पकड़ में नहीं आता। उसे पटाने के लिए उसकी कितनी चिरौरी करनी पड़ती है यह एक कवि ही जानता है। उसके साथ घंटों भटकना पड़ता है। सड़कों और गलियों की खाक छानना पड़ती हैं। किसी गुमटी या चायघर में बैठ कर चाय पीते हुए बतियाना पड़ता है। उसकी ऊटपटांग बातें सुननी पड़ती हैं। मुझे बनाने वाले कवि को कई बार समय की कई बातों से समझौता करना पड़ता है। कभी कभी वह कवि की बात मान लेता है लेकिन कभी कभी नहीं भी मानता। कवि आखिर कवि है। अपनी मनमानी तो करता ही है। उसकी स्वतंत्रता में कोई कितना दखल दे सकता है। आखिर वह भी प्रजापति है।

नगर के बारे में हजारों किस्से हर वक्त हर भाषा में प्रचलित रहते हैं, किस्सों का स्वयं भी अपना नगर होता है। किस्सों का नगर और कविता का नगर, होने को तो जुड़वा संतानें हैं लेकिन इनके चेहरे मोहरे एकदम एक जैसे नहीं होते। दोनों कई बार पंजा लड़ाते दिख जाते हैं। कविता के नगर में पानी बहुत है, पेड़ बहुत हैं, परिन्दे बहुत हैं इसलिए बहाव बहुत है और उड़ान भी बहुत है। उसमें दृश्य और अदृश्य का खेल बहुत है। किसी सुलगते क्षण में *वह अलग अलग दिखता है हर दर्पण में*। एक कोण से वह वास्तविक नगर की तरह दिखता है तो दूसरे से एकदम काल्पनिक नगर की तरह। उसमें वो सारी गंदगियां और बुराइयां और अपराध और क्रूरताएं और अमानवीयताएं और सुंदरताएं मौजूद हैं जो धरती के किसी भी शहर में होती हैं, हो सकती हैं। जैसे कोई भी वास्तविक शहर मनुष्य की ही रचना है (चाहे मिथक कथाएं कुछ भी कहें आखिरकार मिथक कथाएं भी तो मनुष्य की ही सृष्टि हैं) वैसे ही मैं भी एक कवि की रचना हूँ। मुझमें और वास्तविक शहर में कम से कम एक समानता तो है ही कि हम दोनों ही हमेशा अधूरे होते हैं। एक शहर में जैसे हमेशा ही कुछ न कुछ बदलता रहता है। कुछ जुड़ता रहता है, कुछ टूटता रहता है। इसी तरह मुझमें भी हमेशा कुछ न कुछ बदलता रहता है। मैं कवि की इच्छा या स्वप्न और वास्तविक नगर की वास्तविकता के कहीं बीच से जन्म लेता हूँ।

अब मुझे तो बकर बकर करने की आदत है। मैं हमेशा ही बदलता रहा हूँ। प्राचीन कविता का नगर और आज की कविता का नगर एक सा तो नहीं है। आधुनिक शहरों की तरह मुझमें भी भीड़ है, शोर है और तेज गतियां हैं। परिचित और अपरिचित चेहरे हैं। आखिरकार मैं भी एक नगर हूँ और भीड़ और शोर से मैं कैसे बच सकता हूँ। तो मैं आपको वास्तविक नगर की भीड़ और शोर से निकाल कर कविता के नगर की भीड़ और शोर के बीच ले चलता हूँ। दुर्घटनाएं तो दोनों ही जगह घट सकती हैं लेकिन दुर्घटना और दुर्घटना में अंतर है। एक अगर आपको भौतिक रूप से आघात देगी तो दूसरी मानसिक या संवेदनात्मक आघात दे सकती है। दोनों के सुख अपने हैं और दुख भी अपने।

मैं कविता का नगर हूँ। वास्तविक नगर में एक जगह से दूसरी जगह जाते हुए आप चाहे सतर्क और चौकन्ने बने रहें लेकिन यहां कविता के नगर में आते हुए अपने पैरों को स्वतंत्र छोड़ दें और उन्हें भटकने दें जहां जहां वे भटकना चाहें। कविता के नगर को जानने का इससे बेहतर कोई दूसरा तरीका नहीं हो सकता। यहां घूमंतु होने... आवारा होने से आप बच नहीं सकते।

देखी तुमरी काशी :

एक प्राचीन नगर का आधुनिक पाठ

अलबरूनी ने लिखा था कि काशी 11वीं सदी में उत्तर भारत का एक मुख्य नगर था। काशी के बारे में ठीक ठीक यह कहना सम्भव नहीं है कि वह कितना प्राचीन है। नगर कथाओं को मिथकीय आख्यानो

से जोड़ने के प्रचलन उसे अक्सर समयातीत बना देते हैं। इसलिए नगर का वास्तविक इतिहास तलाश करना मुश्किल हो जाता है। *काशी का इतिहास* के लेखक डॉ. मोतीचंद्र ने लिखा है कि जैसे जैसे उन्होंने काशी के इतिहास की तलाश की *वैसे वैसे पता चलने लगा कि नगरी का इतिहास एक ऐसे रूढ़िगत ढांचे में ढल गया था जिसमें तीर्थ से सम्बंधित धार्मिक कृत्यों और पठन पाठन का ही मुख्य स्थान था, इतिहास तो नगरों के लिए गौण था, पर छानबीन करने से यह भी पता चला कि वाराणसी का तीर्थ रूप तो नगरी के अनेक रूपों में एक था। अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण वाराणसी का बहुत प्राचीन काल से व्यापारिक महत्व था। उसके तीर्थ तथा धार्मिक क्षेत्र बनने के प्रधान कारण निःसंदेह वहां के व्यापारी रहे होंगे।* (कल्पना : सम्पादक प्रयाग शुक्ल 2005) *जातकों के अनुसार वाराणसी काष्ठ का प्रमुख केन्द्र था। कासिक चंदन भी यहां का प्रमुख उद्योग था। मिथकीय आख्यान इतिहास के लिए अड़चन पैदा करता है लेकिन कविता के लिए एक नयी कल्पनाशीलता और अपनी परम्परा के साथ नये रिश्ते बनाने के लिए नयी सम्भावनाएं भी पैदा करता है। काशी के बारे में कई मिथकीय आख्यान प्रचलित हैं। एक कथा के अनुसार काशी की उत्पत्ति के पूर्व भगवान शंकर उसे अपने त्रिशूल पर लादे घूमते रहते थे। जब सृष्टि हो गयी तो शिव ने उसे त्रिशूल से उतार कर पृथ्वी के मध्य में रख दिया। इस कथा में काशी सृष्टि से भी पूर्व का नगर बना दिया गया है। दूसरी कथा काशी के नामकरण को लेकर है कि विष्णु ने पार्वती के मुक्तामय कुंडल गिर जाने से इस क्षेत्र को मुक्त क्षेत्र की संज्ञा दी और इसका नाम काशी किया गया। कहा जाता है कि काशी में मरने के बाद फिर से जन्म लेना होता है, इसलिए इसे अपुनर्भवभूमि कहा गया है। शिव काशी का त्याग कभी नहीं करते इसलिए यहां की भूमि को अविमुक्त क्षेत्र की मान्यता मिली।* (बना रहे बनारस : विश्वनाथ मुखर्जी) पुराणों में भी काशी के विशद वर्णन हैं। आनंदकृष्ण के अनुसार नगर का नाम वाराणसी था। काशी जनपद का नाम था। वाराणसी शब्द की अनेक व्युत्पत्तियां हैं। वरणावती नदी का उल्लेख अथर्ववेद में आता है।

अग्निपुराण में वर्तमान असी नदी को नासी कहा गया है। पतंजलि (दूसरी सदी ईसवी पूर्व) के अनुसार वाराणसी गंगा तट पर थी। जातकों में भी इसके अनेक नाम मिलते हैं। जातकों में काशी का सुंदर वर्णन है। इसके चारों ओर प्रकार द्वार, अट्टालक, गोपुर आदि थे। काशी जनपद की राजधानी वाराणसी थी। इसकी सीमा एक ओर मगध से, दूसरी ओर पांचाल से छूती थी। इस प्रकार पश्चिम की ओर इसकी सीमा आधुनिक कानपुर तक मानते थे।

स्कंदपुराण के काशी खंड के अनुसार दिवोदास ने सभी ब्राह्मणधर्मीय देवताओं को काशी से बाहर कर दिया। और फिर वहां सत्य की स्थापना की। केवल शिव काशी में बने रहे। अंततः छद्मवेशी विष्णु ने किसी तरकीब से यहां देवताओं को पुनः स्थापित किया। शिव ने इसे अविमुक्त क्षेत्र माना। इसीलिए आर्यों के प्रधान देवता अविमुक्तेश्वर शिव कहे जाते हैं। इसी उथलपुथल के बीच बुद्ध यहां आये होंगे और उन्होंने नयी धार्मिक चेतना प्रदान की होगी। जैन तीर्थंकर पार्श्वनाथ की तो काशी जन्मभूमि थी। बनारस यक्षपूजा का बहुत बड़ा केन्द्र था। बौद्ध और जैन साहित्य में इसके बहुत सारे उल्लेख मिलते हैं। (नित्योत्सवा काशी : राय (डॉ.) आनंदकृष्ण, कल्पना का काशी अंक : सम्पादक प्रयाग शुक्ल, 2005)

काशी आधुनिक हिन्दी साहित्य का एक बड़ा केन्द्र रहा है। भारतेन्दु, जयशंकर प्रसाद और प्रेमचंद का सम्बंध काशी से रहा है। तीनों ही रचनाकारों की कविता और गद्य में काशी को देखा जा सकता है। तीनों रचनाकारों के अपने अलग अलग पाठ और व्याख्याएं हैं। भारतेन्दु हरिश्चंद्र की 1874

ई. में लिखी कविता 'देखी तुमरी कासी', काशी का एक जबरदस्त क्रिटीक प्रस्तुत करती है। वाल्टर बेन्जामिन ने लिखा था कि शहर का पूरा मंजर फ्लीटिंग रियलिटीज, एक छोड़ती भागती वास्तविकताओं से भरा है। विजय कुमार ने अनूप सेठी द्वारा लिए गये साक्षात्कार में कहा है कि शहर में जो कुछ आपका सार्वजनिक है, उसी के बगल में आपका नितांत निजी जीवन भी बैठा है। इस बाह्य और आंतरिक की परम्परागत छवियां और उसके अंतराल हमारे नये अनुभवों में गड्डमड्ड हो जाते हैं। (वसुधा : सम्पादक : स्वयं प्रकाश, राजेन्द्र शर्मा, 2005)

भारतेन्दु की कविता देखी तुमरी कासी भी एक छोड़ती भागती वास्तविकताओं से भरी कविता है

देखी तुमरी कासी, लोगों देखी तुमरी कासी ।
जहां बिराजें विश्वनाथ विश्वेश्वरजी अविनासी ।।
आधी कासी भाट भंडेरिया बाम्हन औ संन्यासी ।
आधी कासी रंडी मुंडी रांड खानगी खासी ।।

यहां काशी के बारे में कही जाने वाली प्रसिद्ध उक्ति को याद किया जा सकता है

रांड, सांड सीढ़ी संन्यासी ।
इनसे बचे तो सेवें काशी ।।

भारतेन्दु की कविता में यह कहावत अधिक विस्तार के साथ काशी का एक नया पाठ बन जाता है

लोग निकम्मे भंगी गंजड़ लुच्चे बे बिसवासी ।
महा आलसी झूठे शुहदे बेफिकरे बदमासी ।।
आप काम कुछ कभी करें नहिं कोरे रहें उपासी ।
और करे तो हंसैं बनावें उसको सत्यानासी ।।

भारतेन्दु सामान्य लोगों के चरित्र का ही बखान नहीं करते, इसमें उच्चवर्ग भी शामिल है, उसमें अमीर, व्यापारी, पुलिस, प्रशासक भी शामिल हैं। शहर की संरचना, उसकी गंदगी और उसमें जानवरों की आवाजाही आदि सब कुछ शामिल कर लिया गया है। लोगों के डींग हांकने पर भी यहां टिप्पणी है और उनके डरपुकनेपन और सिफारशी होने पर भी

अमीर सब झूठे और निंदक करें घात विश्वासी ।
सिपारसी डरपुकने सिट्टू बोलें बात अकासी ।।
मैली गली भारी कतवारन सड़ी चमारिन पासी ।
नीचे नल से बदबू उबलै मनो नरक चौरासी ।।

कुत्ते भूंकत काटन दोड़ें सड़क सांड सों नासी ।
छोड़ें बंदर बने मुछंदर कूदें चढ़े अगासी ।।
घाट जाओ ते गंगापुत्तर नोचें दै गल फांसी ।
करें घाटिया बस्तर मोचन दे देके सब झांसी ।।
राह चलत भिखमंगे नोचें बात करें दाता सी ।
मांदिर बीच भंडेरिया नोचें करें धरम की गांसी ।।
सौदा लेत दलालो नोचें देकर लासालासी ।
माल लिए पर दुकानदार नोचें कपड़ा दे रासी ।।
चोरी भए पर पुलिस नोचें हाथ गले बिच ढांसी ।

गये कचहरी अमला नोचें मेचि बनावें घासी ।।
 फिरें उचक्का दे दे धक्का लूटें माल मवासी ।
 कैद भए की लाज तनिक नहिं बे सरमी नंगा सी ।।
 देखी तुमरी कासी भैया देखी तुमरी कासी ।

यह दिलचस्प है कि संस्कृत कविता में नगर की कई छवियां मौजूद रही हैं। यही नहीं संस्कृत में ऐसे कई ग्रंथ लिखे गये जिनमें नगर की संरचना पर विचार किया गया। समरांगण सूत्रधार के अलावा कामसूत्र, निशीथ चूर्णि, कुवलयमाला, बृहतकथा, समराइच्छकहा आदि अनेक प्राचीन ग्रंथों में नगर की संरचना, नगरों के बनने और उजड़ने पर विचार किया गया है। महाभारत के शांतिपर्व में युधिष्ठिर द्वारा आदर्श नगर की परिभाषा पूछने पर भीष्म कहते हैं नगर छह प्रकार के होते हैं : 1. धन्व दुर्ग 2. मही दुर्ग 3. गिरी दुर्ग 4. मनुष्य दुर्ग 5. मृदुर्ग तथा 6. वन दुर्ग आदि। इसके साथ ही भीष्म इन नगरों की विशेषताओं का भी वर्णन करते हैं।

आधुनिक समय में कलकत्ता और बम्बई जैसे औद्योगिक नगरों के विकसित होने के कारण बंगला और मराठी कविता में भी नगरों की अनेक छवियां मौजूद हैं। उर्दू कविता इस अर्थ में सबसे समृद्ध नागर कविता रही है। उर्दू कविता मूलतः एक नागर कविता है। उसमें नगरों के बसने, उससे प्यार करने के ही नहीं, उनके उजड़ने की भी कई दास्तानें विद्यमान हैं। इसलिए उसमें शहर आशोब जैसा कविता का एक अलग रूप भी मौजूद है, जिसमें शहरों के उजड़ने के कई शोकगीत लिखे गये। काशी को लेकर भी उर्दू और फारसी में कई कविताएं लिखी गयीं। गालिब की फारसी में लिखी गयी एक कविता है

त आलल्ला बनारस चश्मे बद दूर
 बहिश्ते खुरमो फिरदौसे मामूर
 इबादत खानये नाकूसियां अस्त
 हमाना कावाए हिन्दोस्तां अस्त

(हे अल्ला, बनारस को बुरी नजर से दूर रखना क्योंकि यह आनंदमय स्वर्ग है। यह घंटा बजानेवालों की पूजा का स्थान है यानी यह हिन्दुस्तान का काबा है।)

बुतानशरा हयूला शोलए तूर
 सराया नूर, ऐजद चश्म बद दूर
 मिया हा नाजुको दिल हा तुवाना
 जे नादानी बकारे ख्वशे दाना
 तबत्सुम बस कि दर दिल हा तिबी ईस्त
 दहन हा रश्के गुल हाए रबी ईस्त
 जे अंगेजे कद अंदाजे खरामे
 ब पाये गुल बुने गुस्तरदः दामे

(यहां के बुतों अर्थात् सुंदरियों की आत्मा तूर के पर्वत की ज्योति के समान है। वह सिर से पांव तक ईश्वर का प्रकाश है। इन पर बुरी नजर न पड़े। इनकी कमर तो नाजुक है पर दिल ताकतवर है। यों इनमें सरलता है, किन्तु अपने काम में बहुत चतुर हैं। उनकी मुस्कान ऐसी है कि दिल पर जादू का काम करती है। इनके चेहरे इतने सुंदर हैं कि रबी अर्थात् चैत के गुलाब को भी लजाते हैं। इनके शरीर की गति तथा आकर्षक कोमल चाल से ऐसा जान पड़ता है कि गुलाब के समान पांव के फूलों का जाल बिछा देती हैं।)

ज ताबे जलवये ख्वेश आतिश अफरोज
बयाने बुतपरस्तो बरहमन सोज
ब लुत्फे मौजे गौहर नर्म रू तर
ब नाज अज खूने आशिक गर्म रू तर

(अपनी रोशनी से, जो अग्नि के समान प्रज्वलित है, यह बुतपरस्त तथा बरहमन की बोलने की शक्ति भस्म कर देती है अर्थात् यह इनका सौन्दर्य देख कर मूक हो जाते हैं। पानी में उनका विलास मोती की लहरों से भी नर्म और कोमल जान पड़ता है। पानी में स्नान करने वाली जो अठखेलियां करती हैं, उनसे जो पानी के छींटे उठते हैं, उनकी ओर कवि का संकेत है। उनका नाज अर्थात् हास विलास आशिक के खून से भी गर्म है।)

ब सामाने गुलिस्तां बर लबे गंग
ज ताबे रूख चिरागां बर लबे गंग
रसादः अज अदाए शुस्त व शूए
ब हर मौजे नवेदे आबरूए
कयामत कामतां, मिजगां दराजां
ज मिजगां बर सफे दिल तीरः बाजां
ब मस्ती मौज रा फरमूदः आराम
ज नगजे आब रा बखशिन्दा अंदाम

(गंगा किनारे यह क्या आ गयीं एक उद्यान आ गया है। इनके मुख के प्रकाश से गंगा के किनारे दीपावली का दृश्य हो गया है। उनके नहाने धोने की अदा से प्रत्येक मौज को आबरू का आमंत्रण मिलता है। इन सुंदर डीलडौल वाली तथा बड़ी बड़ी पलकों वाली सुंदरियों से कयामत आती है। यह दिल की पंक्ति पर अपनी बड़ी बरौनियों से तीर चलाती हैं। अपनी मस्ती से इन्होंने गंगा की लहरों को शांत कर दिया है। अपनी सुंदरता से इन्होंने पानी को स्थिर कर दिया है।)

फतादः शौरिशे दर काबिले आब
ज माही सद दिलश दर सीना बेताब
ज ताबे जलवा हा बेताब गश्तः
गौहर हा दर सदफ हा आब गश्तः
ज बस अर्जे मन्ना भी कुनद गंग
ज मौजे आबहा वाभी कुनद गंग।

(फिर से पानी के शरीर के अंदर इन्होंने हलचल पैदा कर दी और सीने में सैकड़ों दिल मछली के समान छटपटाने लगे। अपने सौन्दर्य की उष्णता से विकल होकर वह पानी में चली गयीं और ऐसा जान पड़ता है जैसे सीप में मोती हो। गंगा भी अपने हृदय की अभिलाषा प्रकट करती है और अपनी पानी की लहरों को खोल देती है कि आओ इसमें स्नान करो।) बना रहे बनारस : विश्वनाथ मुखर्जी

: दो :

संस्कृत, उर्दू या अंग्रेजी कविता में नगर की छवियों पर जिस तरह आलोचना में काम किया गया उस तरह हिन्दी कविता में लगभग विचार नहीं हुआ। जबकि भारतेन्दु काल से ही हिन्दी की आधुनिक कविता में नगर की उपस्थिति लगातार बनी रही है। गांधीवाद के गहरे प्रभाव के कारण चाहे अहा

ग्राम्य जीवन या भारतमाता ग्रामवासिनी जैसी कुछ चर्चित कविताएं लिखी गयीं लेकिन नगर अनुपस्थित रहा हो ऐसा नहीं है। मैथिलीशरण गुप्त और उस दौर के अन्य कवियों या छायावादी कवियों में भी नगर की छवियां और लगातार विकसित होता नगरबोध हिन्दी कविता में रहा है। हिन्दी क्षेत्र के नगर वस्तुतः पश्चिम के आधुनिक नगर से भिन्न थे। इनमें मैन्युफेक्चरिंग एक्टिविटी नहीं थी। अधिसंख्य नगर प्रशासनिक और धार्मिक नगर थे और उत्सवी गतिविधियों के केन्द्र थे। कुछ बड़े व्यापारिक केन्द्र भी थे। इसलिए इनमें से ज्यादातर औद्योगिक या कामर्शियल के बजाय राजनीतिक केन्द्र अधिक थे। भारत के नगरीकरण में सबसे बड़ी भूमिका राजधानी और धार्मिक केन्द्रों की रही है। इसलिए इन नगरों का चरित्र मुखर विरोधाभासी की बजाय समावेशी ज्यादा लगता है। भारतीय नगर की जड़ें अपने देहाती आधार में गहरे तक धंसी हुई हैं। कलकत्ता 1690 तक झोपड़ों का एक छोटा सा समूह भर था। वहीं से फैलते हुए धीरे धीरे आज वह एक महानगर में बदल गया।

हिन्दी कविता में नगर की छवियों पर विचार करते हुए इन तथ्यों पर भी विचार किया जाना चाहिए कि इस भूभाग में नगरों का विकास किस तरह हुआ। प्रगतिवाद के महत्वपूर्ण कवि त्रिलोचन शास्त्री में बनारस की छवियां इन तथ्यों की तरफ इशारा करती हैं। त्रिलोचन बनारस में वर्षों रहे हैं। उन्होंने बहुत बड़ी संख्या में सानेट लिखे हैं। सानेट को उन्होंने हिन्दी के पारम्परिक रोला और हरिगीतिका छंद में साधा है। उन्होंने सानेट के फार्म का गहरा अध्ययन किया है। उनके सानेट्स में पेट्रार्कीयन सानेट का फार्म, स्पेन्सेरियन सानेट का फार्म और शैक्सपीरियन सानेट का फार्म मिलता है। यह संयोग अपने आप में भी दिलचस्प है कि उन्होंने सानेट जैसे आधुनिक फार्म को हिन्दी में सम्भव करने के लिए पारम्परिक छंद का उपयोग किया। यह युग्म भी हिन्दी के नगरबोध को समझने का एक रूपक हो सकता है। हिन्दी के नगरबोध में अपनी परम्परा और मिथकों की अनुगूँज और स्मृतियां कहीं न कहीं हमेशा बनी रहती हैं। बनारस वह केन्द्र रहा है जहां साठ के दौर में हिप्पियों का ही जमघट नहीं लगा, उस दौर के प्रसिद्ध कवि एलेन गिन्सबर्ग और फर्लिंग्गेटी जैसे कवि भी बनारस आये। और उनके इस प्रवास का हिन्दी कविता पर गहरा प्रभाव हुआ। यहां बनारस या काशी को लेकर त्रिलोचन की कविता को देखना हिन्दी कविता के नगरबोध को समझने में ज्यादा कारगर हो सकता है। हालांकि त्रिलोचन शास्त्री ने काशी की छवियों को लेकर अनेक कविताएं लिखी हैं। काशी में बाढ़ के कई चित्र भी वहां हैं

काशी मुझे गांव सी लगती है, शहराती
हवा यहां कम से कम है। सब आसपास से
घुले मिले रहते हैं। अपना रंग दिखाती
प्रकृति मनुष्यों में है, धरती से आकास से
सहज मुक्त सम्बंध बना है। चोरी डाका
यहां न हो यह बात नहीं है। दुर्गुण सारे
कम बेशी हैं। जाग रही है इसकी साका
तीन लोक से न्यारी होने में। जो हारे
हैं वे जन भी मस्त मिलेंगे। ऐसी मस्ती
और कहीं तो नहीं मिलेगी, चना चबेनी
और गंगजल के मस्ताने हैं यह हस्ती
और कहां है झंखें तीरथराज त्रिबेनी।
रोज रोज ताजा है कभी नहीं है बासी

आन बान में, कबिरा तुलसी की यह काशी।

(कल्पना, काशी अंक : 2005)

तारसप्तक का प्रकाशन आजादी से पहले हुआ और डॉ. रामविलास शर्मा जो स्वयं भी तारसप्तक के एक कवि थे का मानना है कि तारसप्तक तक प्रयोगवाद का समय है और नयी कविता आंदोलन की शुरुआत आजादी के बाद 1952 में 'प्रतीक' निकलने के साथ होती है। हालांकि विजय कुमार तारसप्तक को आधुनिक कविता का प्रस्थानबिन्दु मानते हैं। तारसप्तक के महत्वपूर्ण कवि चाहे अज्ञेय हों या मुक्तिबोध, नयी कविता के भी प्रमुख कवि माने जाते हैं। इसके अलावा भी प्रभाकर माचवे, गिरिजाकुमार माथुर आदि भी नयी कविता के ही कवि माने गये। तारसप्तक के ही कवि प्रभाकर माचवे की एक कविता है 'असी'। इस कविता का एक अंश पुनः हिन्दी कविता में आती नगर छवियों और मिथकीय संदर्भों और वर्तमान दशाओं के विरोधाभास को समेटता है :

जनश्रुति है, यह घाट जहां जुलाहे में ब्रह्मज्ञान जागा था
असी घाट यह, यहीं कभी तुलसी ने अपना तन त्यागा था
किन्तु आज इस स्थल पर हम जूठन, कूड़ा विसृज्य फेंकते
मगर इस समय हम गंदे मच्छर से भिन भिन खड़्ड देखते
कुचले विश्वासों की टूटी बैसाखी हम चले टेकते!

खूब चकाचक छनी गुरु! श्राद्धान्तों की हो गयी आज अति!
हरिजन को मंदिर निषिद्ध है, यही हमारी मानव संस्कृति?
केवल आकृति शेष, आत्मा पापों में डूबी, छिः विकृति!

(कल्पना : काशी अंक, 2005)

इस सबसे प्राचीन नगर को भारतेन्दु से लेकर आज के कवियों ने भी तरह तरह से देखा है। सत्तर के दशक के कवि ज्ञानेन्द्रपति का एक संग्रह ही है 'गंगातट'। यह माना जा सकता है कि कविता, उपन्यास की तरह नगर की वास्तविकताओं और अंतर्विरोधों के महीन विवरणों को नहीं समेटती लेकिन कहना न होगा कि सत्तर के बाद की कविता और विशेषरूप से अस्सी पचासी के बाद की कविता में विवरण बढ़े हैं और कविता आख्यानत्मक हुई है। निश्चय ही कविता का आख्यान कथा के आख्यान से भिन्न होता है। ज्ञानेन्द्रपति का संग्रह 'गंगातट' बनारस का एक वृहत लैण्डस्केप बनाता है। उसमें गंगातट के आसपास के जीवन के बहुत सारे महीन ब्यौरे गुंथे बुने हैं। उसकी किसी कविता या कविता के किसी अंश को उद्धृत करना थोड़ा कठिन है। सारी कविताएं जैसे एक दूसरे से जुड़ी हैं और सब मिल कर उस वृहत लैण्डस्केप को बनाती हैं। उसमें विगत समय में नगर के लगातार बनने बिगड़ने के दृश्य हैं। कई मार्मिक और दिलचस्प छवियां हैं। एक कविता है 'नगर की आंखों में बसी है असी'।

असी

वही वाराणसी की वरुणा का विपरीत ध्रुव
वही असी जो नदी से नाला हुई है
जलपक्षियों ने त्याग दिया है जिसे
भूल गया है नगर जिसे एक नदी के रूप में
एक सीमेण्ट की नाली में बहती जाती है जो मौन, मुर्दार
एक नामशेष नदी

हिमालय तक पहुंची है उसकी हाथ
 इंद्र ने सुनली है अबके उसकी
 वज्रधर इंद्र वज्रबधिर नहीं हुआ अभी
 और एक कविता है 'एक रिपोर्टाज'। इसमें एक अलग छवि है आज के बनारस की
 नगर मध्य का म्युनिसिपल पार्क कम्पनीबाग
 मैदागिन में, उस नागरी प्रचारिणी सभा का पड़ोसी
 जिसके भव्य भवन में
 नागरी के शव पर
 साधक भूषा में
 पालथी मार बैठा है नटनागर एक
 हिन्दी! हा! हिन्दी! करता
 दोमुंहा छलिया
 जिसकी परिभाषा में जिगरी दोस्त वह जो दोस्त का जिगर खाए

और बाल वह जो कपाल पर नहीं, किसी ऊंची नाक का बाल हो अधोमुखी
 ऐसे में बेघर बिलाला फिरते नगर के कवि
 मिल बैठने की जगह पाते
 कम्पनीबाग के एक मैदान खंड में
 ताश खेलते लोगों के दो गुच्छों
 और पिछले हफ्ते की फिल्म के दृश्यों को पगुराते बेरोजगार नौजवान
 के बगल में
 कवियों का एक गोल
 गोष्ठी मंडलाकार

(गंगातट : कविता संग्रह : ज्ञानेन्द्रपति)

एक प्राचीन नगर जब आज की कविता में पुनर्सृजित होता है तो उसमें कई छवियां स्वाभाविक रूप से एक दूसरे से मिलती जुलती होती हैं लेकिन वह उसके मिथकीय संदर्भों और वर्तमान यथार्थ की छवियों के युग्म बनाने और उनकी व्याख्याओं में बदल भी जाती हैं। इसलिए हर कवि की कविता का अपना नगर भी अलग होता है। भारतेन्दु, प्रसाद, त्रिलोचन, प्रभाकर माचवे, केदारनाथ सिंह से लेकर सत्तर के दशक के कवि ज्ञानेन्द्रपति और लगभग 90 के दशक में आये अष्टभुजा शुक्ल की कविता को सामने रखें तो काशी की छवियों का एक विविधवर्णी कोलाज बन जाता है। कविता का काशी यथार्थ के काशी को उसके अनेक ढके छिपे सत्यों में पढ़ने की कोशिश करता है। यह वास्तविक नगर का ज्यादा अर्थगर्भी पाठ प्रस्तुत करता है। अष्टभुजा शुक्ल की कविता 'यह बनारस है', बदलते बनारस का नया पाठ है

सभ्यता का जल यहीं से जाता है
 सभ्यता की राख यहीं आती है
 लेकिन यहां से सभ्यता की कोई हवा नहीं बहती
 न ही यहां सभ्यता की कोई हवा आती है
 यह बनारस है।

चाहे सारनाथ की ओर से आओ या लहरतारा की ओर से
वरुणा की ओर से आओ या गंगा की ओर से
इलाहाबाद की ओर से आओ या मुगलसराय की ओर से
डमरू वाले की सौगंध
यह बनारस यहीं और इसी तरह मिलेगा
ठगों से ठगड़ी में
संतों से सधुक्कड़ी में

लोहे से पानी में
अंग्रेजों से अंग्रेजी में
पंडितों से संस्कृत में
बौद्धों से पालि में
पंडों से पंडई और गुंडों से गुंडई में
और निवासियों से भोजपुरी में
बतियाता हुआ यह बहुभाषाभाषी बनारस है।

इस लम्बी कविता में कई तरह के विवरण हैं जो एक दूसरे से गुंथे हुए हैं। जैसे यहां का प्रसिद्ध सम्बोधन है गुरु। इसमें रिक्शेवाला, पानवाला, पंडा, मल्लाह, मुल्ला, माली, डोम, सब गुरु हैं। कामरेड, शिष्य, और गुरु तो गुरु है ही। गंगा भी गुरु है ज्ञान भी गुरु है, स्त्री गुरु है, सीढ़ी गुरु है और कभी कभी टेस भी गुरु है। बनारसी घाघ है, शैव है, वैष्णव है, सिद्ध है, बौद्ध है, कबीरपंथी है, नाथ है।

धन से धर्म नहीं होता बनारस में
धर्म से धन होता है
जब बनारसी देवी रोती है
तब बनारसी दास सोता है

और यह भी कि

सुख नहीं बिकता बनारस में
सुख प्राप्त होता है।

इस कविता की अंतिम पंक्तियां हैं

जो भी बनारस आता है
कोई सिर के बाल, कोई जेब, कोई मन, कोई तन,
अर्थात् कुछ न कुछ खोकर आता है
और जब कोई यहां से जाता है
हरी झंडी की तरह
बनारस अपने दोनों हाथ हिलाता है।

(कल्पना : काशी अंक)

हिन्दी और उर्दू की नागर कविता में मुझे लगता है कि एक बात मिलती जुलती है कि सारी आलोचना और नगर के अंधेरे कोने कुचालों के वर्णन विवरणों के बावजूद नगर के साथ कवि का रिश्ता भावनात्मक बना रहता है। उसमें नगर से गहरा प्यार है और आत्मीयता का ताप भी। यह रिश्ता

या आत्मीयता आधुनिकतावाद के चलते कहीं कहीं दरकती जरूर नजर आती है लेकिन बहुत दूर तक यह सम्बंध चाहे कई बार क्षीण होता नजर आये पर पूरी तरह कभी टूटता नहीं है।

नोट :

भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान शिमला में वर्ष 2014 में एक वर्ष तक राष्ट्रीय अध्येता के रूप में रहते हुए 'कविता का नगर' शीर्षक से मैंने हिन्दी कविता और नगर के सम्बंध पर नोट्स की शकल में कुछ लिखने की कोशिश की है। इस काम में विशेष संदर्भ 1970 से 21वीं सदी की पहली दहाई की हिन्दी कविता और भारत के नगरीकरण के रिश्तों को तलाशने की एक कोशिश है। इसी काम में से यहां ये अंश प्रस्तुत कर रहा हूं।

बद्री नारायण की कविताएं

मुझे मत फेंको

मुझे इतनी क्रूरता से मत फेंको
मैं अभी भी तुम्हारे काम आ सकता हूँ

स्वप्न में लगता है बाजार
बाजार उठने के बाद जब तुम बिल्कुल होओगे अकेले
तब कहीं से भी उड़ कर तुम्हारे पास आ सकता हूँ

अभी भी मैं तुम्हें कभी कभी रोते में हंसा सकता हूँ

जब कोई तुम्हें घिसने के बाद फेंकेगा
मैं अपनी हथेलियों पर तुम्हें रोक सकता हूँ अभी भी

मुझे मत फेंको
मैं बीज होता तो उग के आ जाता तेरे जीवन में
बैजंती का फूल होता तो

सूख कर झड़ता, झड़ता तेरे ही जीवन में

चिन्ता मत करो

अभी भी मुझे रिसाइकिल किये जाने की सम्भावना शेष है
मुझमें कुछ नया डाल, कुछ नया बनाया जा सकता है

जैसे समुद्र अपने गर्भ में फेंक देता है कई चीजें
फिर अपनी गलती का अहसास होने पर
किनारे आ उन्हें अपने में ले लेता है
वैसे ही फिर से तुम मुझे ले लो अपने में

मत बदलो मुझे किसी नयी चीज से
मैं जहां हूं रहने दो अपने जीवन के किनारे ।

चुन ले जायेगा कोई

जैसे खेलते वक्त कंचे खो जाते हैं
जैसे टहलते वक्त
माले की लड़ी खो जाती है
और खो जाता है मोती

मुझे मत खोओ

खो गया तो मिलूंगा कैसे
तेरी आंखों से बच बच जाऊंगा

कोई और मुझे खोज ले जायेगा
कोई और मुझे चुन ले जायेगा

तुम तो बाजार से खरीद ले आओगे
मेरे जैसा

लेकिन मैं जहां भी होऊंगा
इनारे किनारे
कोने अंतरे

तेरे लिए
रहूंगा
सुबकता ।

दुख की सिलाई

किसी ने चीर दिया है मुझे
किसी ने फाड़ दिया है मुझे
समय ने अपने दांत से कुतर दिया है

ब्लेड, चाकू, पत्ती से
कुट्टी कुट्टी काटा गया

फटी कथरी हूं मैं
जिसे सी रहा है कोई
बड़ी सुई से

हाथो! धीमे से सुई घुसाना
मुझे बहुत दर्द होता है

अंगुलियो! तुम्हें तो पता है न!
सुई से ज्यादा धागे के घुसने का दर्द होता है

फटने से ज्यादा सिलने का दर्द होता है
मुझे सिलने वाले हाथों की अंगुलियों की पोरों
धीरे धीरे करना सिलाई

और थोड़े कम टांके लगाना!

ताकि तेरी आत्मा में कम गूंजे मेरी रुलाई
और अंततः रात में तुम्हें नींद आ जाये

हरीश चंद्र पांडेय की कविताएं

फूलों के शहर में बच्चे

(पेशावर में आर्मी स्कूल के बच्चों पर हुए आतंकी हमले पर)

ये इन बच्चों के खेलने के दिन थे

इनके गले में आवाजें अपनी पंखुड़ियां खोलने लगी थीं
चेहरे पर मसों की बगिया सिंचने लगी थी
ये इनकी हरियाली के दिन थे

इनकी कल्पनाओं को खुलना था छाताधारी सैनिकों की छतरियों की तरह
ये इनके साइंस, गणित, कला, संगीत की भीतरी परतों को
खोल खोल कर समझने के दिन थे
साइबर स्पेस में अपनी जगह बनाने के दिन थे

इनके मां बाप के चेहरे भी खिलने को तैयार से दिन लिये बैठे थे
कि हत्यारे दुर्दिन बन कर आ गये

दिल दिमाग आंसू हंसी किसी अंधेरी गुफा या चट्टान के पीछे छुपा कर
कि खिलते फूलों के चटाचट चटखने की आवाजें आने लगीं

अगर ये 132 बच्चे थे तो 132 जन्मदिन थे इनके
हैवानियत ने इन्हें एक ही दिन की पुण्यतिथि में बदल के रख दिया

उनके अपने कुर्सी मेजों दरवाजों ने उन्हें बहुत बचाने की कोशिश की थी
अपने नीचे पीछे
पर हैवानियत के हाथ बहुत लम्बे थे
उन्होंने दीवारों तक को छलनी कर दिया था यह जान कर कि
दीवारों के भी कान होते हैं

होने को तो आदमी ही थे वे भी
अपनी मांओं के गर्भ से चिड़ियों की तरह कोमल और निर्दोष पैदा हुए थे
पर दुनिया में कहीं इंसानियत के स्कूल चल रहे होते हैं तो कहीं हैवानियत के

विज्ञान यह कहता है कि हम तक पहुंच रही अभी अभी की धूप का यह उजास
करोड़ वर्ष पूर्व का चला है
मगर बच्चों के मारे जाने के बाद का यह अंधेरा बिल्कुल अभी अभी का है
कौन विश्वास करेगा ये छितरे हुए हाथ पांव बिल्कुल वही हाथ पांव हैं
जिनकी मार गर्भ के भीतर पड़ती थी तो खुशी से उछल जाती थीं माएं
और कान सटा कर सुनवाती थीं पिता को
और यह बहता खून उन्हीं छातियों के दूध की नींव पर खिला दौड़ता था
बदन भर में

ये 132 बच्चे थे तो इतनी ही माएं भी रही होंगी इनकी
पर इन्होंने आज दुनिया में करोड़ों मांओं को जन्मा दिया है

यही तो वह शहर था ना जहां कभी
'फायर' आदेश पर गोली चलने के बजाय
सारी बंदूकें जमीन पर टिका दी गयी थीं मनुष्यता को बचाने के लिए *

फूलों के शहर में फूल से बच्चों की हत्या

पूरब पश्चिम उत्तर दक्षिण कौन सी दिशा से आये तुम दिशाहीनो

अपनी आत्मा में बुल्डोजर बांधे

क्या ही अच्छा होता
अगर तुम बच्चों को मारते हुए मरने के बजाये
बच्चों को बचाते हुए मारे जाते...

*1930 में पेशावर में निहत्थे आंदोलनकारियों पर अंग्रेज अफसरों द्वारा गोली चलाने के आदेश पर, गढ़वाल रेजिमेण्ट के वीर चंद्रसिंह गढ़वाली द्वारा गोली चलाने से इनकार कर दिया गया था। फलतः गढ़वाली की यूनीफार्म वहीं पर सार्वजनिक रूप से फाड़ दी गयी। उन्हें व अन्य 59 सिपाहियों को मृत्युदंड की सजा सुनायी गयी जो अंततः आजीवन कारावास में बदल गयी।

बौर

फलों का झड़ना बुरा है
बौरों का झड़ना उससे भी बुरा

यह सही है फल फूल शाखों पर लगते हैं
पर बौरों के बारे में यही बात कहते पूरा सा नहीं पड़ता
शायद वे पेड़ की कोख से निकलते हैं
उन्हें जमीन से उठाया जाना इसीलिए
गिरे भ्रूण को उठाया जाना सा लगता है

बौर पेड़ों के जीवन रंगमंच में
सर्जना के प्रथम दृश्य की तरह उभरते हैं
उनका अल्प अंतराल में अदृश्य होना उन्हें मेहमान कलाकार नहीं बनाता
बल्कि यह एक बादल भूमिका का बूंद और फिर समुद्र हो जाना है

जब वे पेड़ों पर गुच्छे के गुच्छे टंक जाते हैं
तो पूरी घाटी गमक जाती है
कहार कंधे इन्हीं की छांह तले डोलियां उतारते हैं हौले से

वे फलते हैं तो अंचल का आंचल फलदानों से भर जाता है
पाखियों के पर फड़फड़ाने लगते हैं और पेड़ों से आर्कस्ट्रा बहने लगता है
रंग रूप रस के मेले लग जाते हैं

बौर जब गिरते हैं तो हत योद्धाओं की तरह

उनका हुलिया बताता है कितना लड़े थे वे गिरने के पहले आंधी ओलों के आतंक से
प्रशाखों के उखड़े हुए तरल संधि स्थलों से इसकी तस्दीक की जा सकती है

कौन लगा सकता है एक पेड़ के बाहरी घावों पर मरहम और
कौन पुराता है उसके भीतरी घाव
एक बौर झड़े पेड़ को देखना राणा सांगा को देखना है

एक बौर झड़े पेड़ से जब पूछा गया उसका दुख
तो उसने एक साल छोड़ कर फल देने वाले पेड़ की ओर इशारा किया
उस पेड़ के नीचे कुछ किन्नर थकान मिटा रहे थे

बादल

(सावन भादो के)

एक नीले विस्तृत चरागाह को
पिन्हाये थनों वाली भैंसों के झुंड चर रहे हैं

बहुत नीचे ये हरे चारागाहों में इनकी ही छायाएं तैर रही हैं
और खुले पानी में
गर्भस्थ पानी की छायाएं तैर रही हैं

या फिर कोई महाकंजूस अपनी गठरी को
छुपाये छुपाये भाग रहा है
आर टकरा गया है दूसरे कंजूस से
दोनों की पोटलियां खुल गयी हैं

नहीं, कोई महादानी है यह
जो खुद रीत रीत कर भीतर तक गद्गद हुआ जा रहा है...

बादल-2

(आश्विन के)

कुछ कुछ अमलिन कुछ कुछ मंथर कुछ कुछ अभिजात
देर से आये हैं हज़ूर

अव्वल तो इनके पास देने को कुछ भी नहीं
बरस भी गये तो
भीगे को भिगायेंगे
अघाये को और अघायेंगे

सूखे को भिगाने का सुख
हर एक को कहां...

आशुतोष दुबे की कविताएं

सिर्फ मौन की लिपि है यह

इबारत पूरी हो जाने के बाद भी
शेष है पंक्ति

उसमें अब अक्षर नहीं होंगे
कुछ बिन्दु होंगे...
डगमगाते लड़खड़ाते
वे पूर्णविराम की खोज में हैं

हर बिन्दु का अपना अर्थ
अपनी प्रतीक्षा, अपनी पुकार
अक्षरों की इबारत के बाद और उसके बावजूद
सिर्फ मौन की लिपि है यह
ओझल हो जायेगी
जादुई स्लेट पर
देखते देखते

किनारे

किनारे हमेशा इंतजार करते हैं

वे नदियों के दुख से टूटते हैं
और उनके विलाप में बह जाते हैं

जब सूखने लगती है नदी
किनारे भी ओझल हो जाते हैं धीरे धीरे

वे एक लुप्त नदी के अदृश्य किनारे होते हैं
जो चुपचाप अगली बारिश की प्रतीक्षा करते हैं

लगातार बहते हुए वे अपने थमने का इंतजार करते हैं
जिससे वे हो सकें

वे अपने होने का इंतजार करते हैं

धीरे धीरे

उम्रदराज होना
गोया चश्मदीद होना

धीरे धीरे
एक के बाद एक
उस सबके ढहते जाने का

जिसकी तामीर के गवाह होने में
हम तामीर हुए थे

धीरे धीरे

प्रेक्षक

जैसा वह था

नहीं रहा

बतियां जल जाने के बाद
वह, जो सिर झुकाये उठ रहा है
बाहर निकलने के लिए

कहीं का कहीं निकल गया है

जल में गिरा है कंकर
बन रहे हैं वर्तुल
अंत में क्या थिरेगा
अंत में क्या रहेगा

घर जो पहुंचेगा
कौन होगा?
वह जो बोलेगा
उसमें किसकी आवाज होगी?

वह, जो किसी और की कथा
देख आया है अंत तक

अपनी कथा अधबीच से
बदल सकेगा?

चाहे भी, तो
सिर्फ प्रेक्षक रह सकेगा?

रंगशाला

इसे अंधेरे को भी आलोकित करना है। उसके अंधेरेपन को अक्षत रखते हुए।

यवनिका से इसके सम्बंध आज तक रहस्यपूर्ण रहे आये हैं।

हर बार रोशनी से इसे नये सिरे से राबता कायम करना होता है।

इसमें वही कथा हर बार नयी हो जाती है।

हर बार सब कुछ फिर से शुरू होता है, जैसे पहली बार होता है।

अपनी पीठ पर संसार, मनुष्य, नियति, ईश्वर के वेताल रूपकों को ढोते हुए इसे थकने की इजाजत नहीं है।

यह थी, है, रहेगी इसका कोई पटाक्षेप नहीं है

शिकायतें

वे बारूद की लकीर की तरह सुलगती रहती हैं भीतर ही भीतर
हमें दुनिया से दुनिया को हमसे बेशुमार शिकायतें हैं

एक बमुश्किल छुपायी गयी नाराजगी हमें जीवित रखती है
वह मुस्कुराहट में ओट लेती है और आंख की कोर में झलकती है पल भर

वे आवाज के पारभासी पर्दे में खड़ी रहती हैं एक आहत अभिमान के साथ
वे महसूस होती हैं और कही नहीं जातीं

ईश्वर जिसे हमारे भय और आकांक्षाओं ने बनाया था
शिकायतों से बेजार शरण खोजता है हमारी क्षमा में

हममें से कुछ उन्हीं के ईंधन से चलते हैं उम्र भर
हममें से कुछ उन्हीं के बने होते हैं

मां बाप से शिकायतें हमेशा रहीं
दोस्तों से शायद सबसे अधिक
भाई बहनों से भी कुछ न कुछ रहा शिकवा
शिक्षकों और अफसरों से तो रहनी ही थीं शिकायतें
उन्हीं की धुंध में विलीन हुए प्रेमी प्रेमिकाएं
बीबी और शौहर में तो रिश्ता ही शिकायतों का था

सबसे ज्यादा शिकायतें तो अपने आप से थीं
क्योंकि उन्हें अपने आप से कहना भी इतना मुश्किल था कि

कहते ही बचाव के लचर तर्क न जाने कहां से इकट्ठा होने लगते
देखते देखते हम दो फाइ हो जाते
और अपने दोनों हिस्सों से बनी रहतीं हमारी शिकायतें बदस्तूर

पर कभी वे घनीभूत होकर विस्फोट में भी बदलती हैं
और देर तक थरथराता है आंगन उस धमाके से

मनोज शर्मा की कविताएं

ठंडी रात

बर्फ सी सर्द रात है यह
ठंडी इतनी कि
सपनों की आंच भी गर्मा नहीं पा रही
कपड़े, टोपी, रजाई सभी चिपके हैं मुझसे
पर किसी का अहसास नहीं हो रहा

इस सर्द रात में
रोशनी पर काबिज हो रही है धुंध
फेफड़े गरमाने के लिए
जितनी बीड़ियां सिगरेट सुलगे
उतने तो बचे नहीं उदाहरण, बातचीत में

ऐसी रातें
आतीं ही होंगी हरेक जीवन में
जैसे भविष्यवक्ताओं/राजनेताओं/ अभिनेताओं वगैरह

जरूरी सच भी हैं शायद जीवन का
ठंडी, खुश्क, ठिठुरती रातें
लेकिन कहीं यूं तो नहीं
कि इस मारक चुभन से बचने के लिए
मुझे ऐसा लग रहा है

रात ऐसी
मेरे जीवन में आयी है पहली बार
पिता ने तो अपने जीवन में
ऐसी किसी रात का खुलासा, कभी नहीं किया
हालांकि एक दोशाला
ताउम्र उनके कंधों पर लटका रहा

मैंने जिस दिन
जुगनुओं को पकड़ना सीखा
बहन के लिए रोना
प्रेमिका के लिए सीखे खत लिखने
उसी दिन से
मुझे लगने लगा
मेरी गर्मी का बिगाड़ क्या लेगी
कोई ठंड

ठंड हंसी होगी तभी
और चुपचाप आड़ में जा
खड़ी हो गयी होगी
कि चल बेटे!
जरा घूमने दो समय की चक्करी...

इस बीच बाधित हुए कई आख्यान

फिर सिधारे पिता
फिर बिछुड़े मित्र, बारी बारी
फिर झुके कंधे
फिर महास्वप्नों पर चली आरी
फिर ठंड ने अचानक दी दस्तक

इस सर्द रात में
धुंध के गहराते माहौल में
कभी फूटते देखता हूं कोई
चिंगारी
तो या तालियां बजाता हूं
या फिर बहाता आंसू
पारा है कि गिरता ही जा रहा है
हां! जमते जा रहे लहू में अभी
जगा है एक सवाल
कि आपको भी क्या ऐसे ही
कंपकंपा रही है कोई
ठंडी रात
या फिर लग रही है
ये सारी कोरी बात?

(वर्ष 2015 की पूर्व संध्या पर)

पितृपक्ष में नानी

अजीब संयोग है
इस पितृपक्ष में
गांधी याद आये

सिधारी मां के नाम का पानी
जब पीपल पर चढ़ा रहा था
तब भी
ब्रह्मा नहीं थे वहां
मुझे गांधी ही याद आये
और ऐसा भी हुआ
नल से जल भरते
कोई श्लोक, स्तुति कोई स्मरण नहीं हुए
मुझे याद आया केवल
जम्मू कश्मीर

अपनी प्रत्येक रात में
हरेक सपने में अपने

एक ही कहानी दिखी मुझे
कि कोई बंदकूची
चाय के कप को निशाना लगा रहा है

इस पितृपक्ष में
मुझे नये बने
प्रधानमंत्री मोदी याद आये और उनके किसी जन्मदिन पर
जब मां उनकी, मीडिया के समक्ष
भेंट कर रही थीं
रुपए पांच हजार एक
मुझे अपनी पत्नी की
नानी याद आयी

मुझे याद आयी
भरवें करेले की वह सब्जी
जिसे अनारदाने के चूरे में भर कर पकातीं
खिलाती रहीं लाड़ से
कमाल है
वैसे ही करेले हूबहू
बनाती आ रही है पत्नी

पर, अभी अभी
कुछ ऐसा भी घटा है साथी
पितृपक्ष के इस अंतिम श्राद्ध में
मुझे गांधी से लेकर मोदी तक कुछ नहीं रम रहा
स्मृति में आ रहे हैं
भरवें करेले
और हमारी अपनी नानी!

अनिल तुरलरुकी की कवितरुणं

स्वर्ग वलरुण

कहीं ँक दरुतु वुझरुण
कहीं ँक तरुणरु टूटु
स्वर्ग वलरुण की घरघरुणहटुं से
गूँज उठरुण समूचरुण परलरुकुषेत्र
दलरु है कलरु जैसे बैठ गयरुण ।

दूर तक कतरुणरुबद्ध
सड़क के दुरुणुं कलरुणरु
'स्वर्ग वलरुण' लरुण के वरुणस्ते
टलरुकलरुणरुणं मूँज सब मुरुणुद ।

न रुणरुण न धुरुणरुण
पसीने से सरुणरुणरुण हुरुण
अकड हड़वुणुं में परलरुणन
तड कलरु रहे हैं कलरुणरुण

बैकुण्ठधाम का ।

‘बॉडी’ और ‘माल’ की भाषा से परे
नहीं कोई और शब्द
वे जिन्दा को भी ‘बॉडी’ समझते हैं
उधर बस जरा सा रुकिये
तो फिर
आप ‘माल’ हो जायेंगे
और वे मालामाल ।

समझ तो मैं भी
लिया गया था एक बार,
जब उन्होंने कहा था ‘कहां जाना है?’
मैंने कहा पी.जी.आई.
कोई बात नहीं, रखिये कार्ड
जरूरत हो तो, नीचे वाले नम्बर पर फोन करना!

कार्ड हाथ में ले
थोड़ी देर हुआ संज्ञाशून्य
लेकिन इतना जरूर जान गया
कि यहीं कहीं पी.जी.आई. है
जिसके इर्दगिर्द जिन्दगी से ज्यादा
मृत्यु का करोबार है ।

कहां नहीं रहते चुगद

कहां नहीं रहते चुगद
बनारस, भोपाल या कि
इलाहाबाद में
दिल्ली, कलकत्ता या कि
पटना में
कहां नहीं रहते चुगद

फिर हे मेरे पुरखे
महाकवि

आपने क्यों लिखा
'आबाद उजड़ा लखनऊ
चुगदों से अब हुआ' *

क्या लखनऊ के चुगद
दिल्ली से भारी पड़े थे?
या फिर मुर्गों की लड़ाई के वक्त
तुम्हें नागवार गुजरा था
नवाब से मिलना...

जो भी हो
इतना तो तय है
तुम्हें गहरा आघात लगा था।
इस बात को समझ रहा हूँ मैं
इस बंजर जमीन को
फोड़ते हुए पिछले कुछ बरस से।

* मीर का पूरा शेर

आबाद उजड़ा लखनऊ चुगदों से अब हुआ।
मुश्किल है इस खराबे में आदम की बूद ओ बास।।

पता

त्रिलोचन मेरी धरती
शमशेर मेरे आसमान
क्या अब भी
तुम्हें जानना है
मेरी कविता का पता।

तो देखना

मैं नमकहराम नहीं
नमकहलाल हूँ
मैं सरकार हूँ
हलाली मेरा पेशा है।

अभी तो क्या?
देखना! मेरी चुश्त दुरुश्ती
प्रतिपल कर्मसंलग्न का नतीजा।

तुम्हारी पीठ और पेट को
एक न किया तो
मेरे लिए नमक हराम।

ये जो जुबान है
चलती रहती है बेफिक्र
बेजुबान न किया
तो देखना!
देखना! यदि न पहना दी
गले में माला सी
कपास की घुंड़ी सी
पड़ी पेट में जो अंतड़ी।

अगर नहीं देखे तुमने
मेरे सपने
तो तुम्हारे सपनों को
हलाल न किया तो देखना!

बिना हलाल किये
नमक भी हराम
मैं नमकहराम नहीं
नमकहलाल हूँ
मैं सरकार हूँ।

रवीन्द्र स्वप्निल प्रजापति की कविताएं

सोच के दायरे में मौसम

आज मेरी सोच के दायरे में मौसम है
मई की धूप का ओवन गर्म हो रहा है
धरती को गर्म प्लेट की तरह छूने से सब डर रहे हैं

मेरी सोच में मौसम गर्म खाने से भरे बरतनों की तरह है
जो कमरे की खिड़की के फ्रेम में फंसा है
दोपहर का तापमान मोबाइल की स्क्रीन पर दिख रहा है

मैं बार बार खिड़की से देखता हूं मौसम का टुकड़ा
उसमें तापमान जोड़ कर बोलता हूं क्या मौसम है
अब हर चीज में खरीदना चाहता हूं
यानी मौसम को खरीद कर देखने का मजा कुछ और है
जंगल की स्मृतियों को भी जो गुम हो रही हैं

फलों की खुशबू के रिश्तों से अलग

मौसम मेरे लिए फसलों के पकने की आहट नहीं रहा
नहीं रहा उसमें कुछ भी जो सुविधा के दायरे से बाहर हो
मेरे लिए मौसम एक ठंडे झोंके के इंतजार में बदल गया
अभी अभी खिड़की में पैकड फूड को खाते हुए

मौसम जिसका जंगल से रिश्ता हो न हो
मैं ऐसे मौसम के लिए लम्बी यात्राएं करने लगा

मैं जाने लगा पैकेज की तरह मौसम के पास
वह एक पैकड खाने वाली चीज की तरह दिखने लगा
मेरी सोच के दायरे से एक इंच भी बाहर नहीं
मुझे डर लगता है कि वह तेज हवाओं में क्यों बदलता है कभी कभी

जो सीखा मैंने

बीज से पौधे के जन्म लेने
और नष्ट हो जाने के बीच
मैंने बहुत सा सीखा

मैंने सीखा उसे कहां रख दूं
शाम की गोद में या सुबह की अंगड़ाई में सजा दूं
दिन की धूप पर कहीं लिख दूं
उतार दूं रात के काले केनवास में कहीं

जीवन का सबसे कठिन काम है
सीखना और सीखे हुए को यहीं छोड़ देना
प्यार लेना और प्यार ही सौंप देना
इस संसार में विचरना और इसी में मिल जाना
सीखना आत्मा पर बनते रेखांकन है

मेरा सीखना सिर्फ मेरे अकेले का काम नहीं
समाज के योगदान का सबसे हार्दिक हिस्सा है

मेरी आंखों में सूरज की किरणें लगातार भरती रहती हैं
समाज और संसार की विविधता

जीवन की झिलमिल डालती रहती हैं
मेरे सीने के कोटर में रंगों की तरह
सीखना जैसे सूरज मेरे चित्र ले रहा है
चारों तरफ घूम घूम कर लगातार

मैं क्या कर सकता हूँ जब मुझे अपना सीखना
इसी धरती पर छोड़ना हो
जो पहले से था और जो अनुभव थे अनंत लोगों के
मैं कहां ले जाऊँ उनको कहां रख दूँ इस धरती पर
किन आकारों में उतार दूँ
धरती के किस कोने में सजा दूँ

मुझे अपना सीखना यहीं रखना है

धरती के कैनवास में दफन नहीं हुआ

वह पैदा हुआ और चल पड़ा
जिन्दगी के पानी को उसने रंगों में घोला
धरती को कला का कैनवास बनाया

मरना उसने नहीं सीखा
वह रंगों में सांस लेता रहा

वह जी रहा है
रेखाओं के विशाल पुल पर चलते हुए
पूरी धरती पर खींची हैं उसने रेखाएं
पूरब से पश्चिम तक
सूरज से धरती तक
उसके हाथ में आकर ब्रश चांद से टकराने लगता है
उसने समुद्र में रंग घोल कर बनायीं तस्वीरें

कितना बड़ा था वह उसका ब्रश कितना बड़ा
उसकी उम्र कई हजार साल है
जिन्दगी जीने के उसके अंदाज थे
जैसे जंगल में लगे पेड़ पौधे अनंत

हर अंदाज कुछ अलग कुछ नायाब
वह मेरी ही मिट्टी का बाशिन्दा था

वह मेरी ही मिट्टी को लेकर दुनिया में घूमता रहा
अभी उसकी उम्र पूरी नहीं हुई वह जिन्दा है रेखाओं में
अपने रंगों में चल रहा है
वह अभी धरती के कैनवास में दफन नहीं हुआ
देख रहा है अपनी तस्वीरों की हजार आंखों से हमें

अनूप कुमार की कविताएं

श्रीमती देशपांडे से बातचीत

‘श्रीमती देशपांडे से बातचीत’ कविता रितेश बत्रा निर्देशित बहुचर्चित फिल्म ‘लंच बॉक्स’ की एक पात्र से संवाद है। फिल्म में यह चरित्र पर्दे पर अवतरित न होकर केवल संवादों के माध्यम से सम्प्रेषित हुआ है। उस चरित्र से बात करती हुई अनूप कुमार की यह कविता एक अर्थ में उक्त फिल्म की पटकथा के परे जाकर पात्र की भावनात्मक दुनिया का विस्तार करती है।

अभी कल ही देखा आपको
लंचबॉक्स सिनेमा के पर्दे पर
आवाज की शकल में थीं आप
बड़ी जानी पहचानी लगी थी आवाज आपकी
याद नहीं आता था ठीक से कहां मिला था आपसे
हां शायद पुणे के बालगंधर्व रंगमंदिर में पिछले साल
दीवाली पहाट पर आरती अंकलीकर के शास्त्रीय गायन में
माहेर की सखियों के साथ आयी थीं आप वहां
महक बिखेरती मोगरे की वेणियों से सजी धजी
मंगलसूत्र और चौड़े माथे पर कुमकुम में व्यक्तित्व का वैभव दमकता

किसी के लिए रखी सीट से रुमाल हटा दे दी थी आपने मुझे तपाक से
 धन्यवाद का ध भी सुने बगैर
 कोई नहीं बता सकता है आपको देख कर
 जैसे मैं तो बिलकुल भी नहीं
 कि श्रीमान देशपांडे पड़े हुए है बिस्तर पर कोमा में पिछले पंद्रह साल से
 चलते पंखे से बंधी हुई है सांस उनकी और आस आपकी
 और आप उन्हें छोड़ आयी हैं शेजारी इला की देख रेख में
 आपको विश्वास है जब तक पंखा चलता रहेगा उनकी सांस भी
 इसलिए इस अनवरत उत्सव को स्थगित नहीं किया है आपने एक पल भी
 मलाड के वन रुम किचेन फ्लैट में मनाती रोज जो
 जिन्दगी कहते है जिसे
 हमें मालूम है इला से चलता है रोज आपका मिशिकल संवाद
 यहां तक कि जो टोकरी लटका देती हैं आप
 इला के किचेन की खिड़की पर
 वो भी मजाकिया तबियत है आपकी तरह
 इला की नीरस जिन्दगी में रस घोलने का दायित्व निभाती
 मुझे पूरा विश्वास है आंख मूंद कर लेटे श्री देशपांडे से
 बराबर चलती होंगी आपकी ठिठोलियां और मिस्कौट
 जैसे एन पौला के दिन पंद्रह बरस लम्बी नींद सोये हुए
 श्रीमान देशपांडे के गौर माथे पर लाल टीका थोडा लम्बा खीचते
 इठला कर कहती होंगी आप
 हाय आमचा बैल आज कितनी मस्त दिसतो*
 बगैर नागा पूरती होंगी रंगोली पूरा कार्तिक माह
 निकाल कर संदूकची से गौरी और महालक्ष्मी का श्रृंगार भी रचती होंगी
 और जिस दिन शौक से बनाती होंगी आमटी दाल, ठेपला और अक्खी वांगी
 स्टूल पर बैठ कर खाते हुए चटा देती होंगी आमटी देशपांडे को
 खाशील काय खाशील काय ** पूछते हुए
 श्रीमती देशपांडे! अभी भी आपकी जिन्दगी में शिल्लक है स्वाद और रस बहुत
 कोई मर्तबान खाली नहीं है आपके कपाट में
 हर मौसम के रसीले लोणचे हैं उसमें
 और गजब का स्वाद बरकरार है आपकी भाजी पोली में भी
 कुछ तो है जो है अतिरिक्त सोंधा सा
 वो चाहे दाल का तड़का भाजी की बघार या मसालों का अनूठापन
 या आपकी मुस्कराहट की मिठास जो सोंधी है कितनी
 आंसुओं की खारी में अच्छे से सिझायी जो है

यहां तक कि आपकी नन्हीं सी बालकनी में जो गमकता है मोगरा
 वो भी खींच कर लाता है जल मिट्टी के बहुत भीतर से
 तभी दूर से पता चलता है ये मोगरा
 देशपांडे ताई की कुंडी में ही फूलता है
 अच्छा है कि जब आप रोना नहीं चाहतीं चीख कर या चुपचाप भी
 तो बढ़ जाता है आपका दखल औरों की उदास जिन्दगियों में
 जैसे किसी को पता नहीं चला बिल्डिंग में
 कल रात फिर आया था आपके एकुलते बेटे का फोन सैनफ्रांसिस्को से
 वो फिर से कर रहा था बातें बाबा के इथुनेसिया की
 कब तक आयी चलेगा ऐसे पूछता अधैर्य से
 आज फिर सवेरे उठ कर धोये हैं बाल
 बड़ा सा लगाया है कुमकुम
 आज दाल में लगाया है आपने तिखट मिर्च का तड़का
 रेडियो पर सुन कर नये तरह से बनायी है उसल
 आप इस तरह नहीं टूटेंगी श्रीमती देशपांडे
 आपकी आत्मा का सोखता दर्द की सियाही सोख लेगा इस बार भी
 फिर हांक मारेंगी आप
 इला अगं इला... क्या बना रही हो आज?

हाय आमचा बैल आज किती मस्त दिसतो* हाय मेरा बैल कितना सुंदर दिखता है
 खाशील काय खाशील काय** खाओगे क्या खाओगे क्या

शास्त्री भवन

जाने क्यों मुझे / कभी कभी लगता है
 एक तीखा सा डर
 कि दस साल बाद भी / जब जाऊंगा मैं
 दिल्ली में शास्त्री भवन
 चीजें वैसी ही होंगी / बदस्तूर वहां
 जैसी इस बार / कितने बरसों के बाद
 वहां जाने पर मैंने / महसूस की
 मसलन गेट नम्बर चार की लिफ्ट में
 तब भी बजती होगी शायद
 हरि प्रसाद चौरसिया की बांसुरी पर
 राग जैत की वही गत / तीन ताल में

छठी मंजिल के बांये हिस्से में
जहां से शुरु होता था एक अबूझ मंत्रालय
समाज को न्याय और जन को अधिकारिता
दिलाने का दावा करता हुआ
वहां गलियारे की देहरी पर / वो पहली टाइल
तब भी उखड़ी हुई होगी / प्रवेश के पहले ही
एक निश्चित ठोकर का / नितांत ठोस अनुभव देते हुए
संकरे गलियारे के बांये कोने पर
वाशरूम के अवरुद्ध सिंक में
उपर तक लबलबाये पानी में
अटके हुए होंगे तब भी बीड़ी के टुकड़े
और माचिस की तीलियां
टूटी पहियेदार कुर्सियों पर लदी हुई फाईलें
खींच कर ले जाते इधर से उधर
चपरासियों की आवाजाही के बीच
सफेद छड़ी से रास्ता बनाते / काले चश्मे वाले
कोडगु के कृष्णप्पा / मुर्शिदाबाद के नईम मियां
या बहरामपुर के श्रीपाद पाधी
या समझ लो / इस बड़े से देश के
बेनाम किसी भी शहर के / किसी भी अंध विद्यालय का
कोई भी वृष्टीहीन प्राचार्य
खोज रहा होगा तब भी / कक्ष क्रमांक सिक्स ए
जहां डेस्क क्रमांक चार ब में
अटकी हुई है उसके अंधविद्यालय के
वार्षिक अनुदान की दूसरी किस्त
कहां है कक्ष क्रमांक सिक्स ए
कोई भी नहीं बतलाता होगा उसे तब भी
न चावला चपरासी / न डेस्क ऑफिसर झा जी
न स्टेनोग्राफर तहलियानी
सब कह देते होंगे कितनी आसानी से
हमें तो मालूम नहीं जी / परली तरफ होगा शायद
थोड़ा आगे जाकर पूछ लो जी
बगैर ये जाने कि / थोड़ा आगे जाकर /
बंद हो जाता है गलियारा
सफेद छड़ी की मदद से / इस अंधी तलाश में

उसे मिले न मिले / कक्ष क्रमांक सिक्स ए
पर इतना मालूम है मुझे / विभाग की देहरी पर
उखड़ी हुई वो टाईल / करेगी ये इंतजाम पुख्ता
कि उसे मिलना ही है / घुसते से या निकलते से
एक निश्चित ठोकर का
नितांत ठोस अनुभव

ज्योति चावला की तीन कविताएं

रंग

इन दिनों बड़े जोरों से भरमाने का दौर चला है
भरमा रही है हर रंगीन चीज
अपने सारे फूहड़ रंगों को एक साथ समेटे
ऐसे भरमा रहे हैं ये रंग जैसे इनसे
पहले कोई सरोकार ही न रहा हो मेरा और
आज ये दिख रहे हैं बिल्कुल अलग
यूं तो बचपन से ही रंगों से अजीब सा नाता रहा है मेरा

चाहती रही मैं कि सब रंग बिखरे हों
मेरे कपड़ों में
हंसती थी मां और कहती थी पगली है मेरी बिटिया
नहीं समझ इसे रंगों के तालमेल की भी
पर न जाने क्यों रंगों ने मुझे आकर्षित ही किया हमेशा

बहुत छोटी उम्र से ही समझने लगी थी मैं रंगों के अर्थ

कि लाल रंग होता है बहुत चटकीला
मां की चूड़ियां हों लाल तो खुशियां होती हैं जीवन में
गुलाबी रंग ने न जाने कब फ्रॉक की झालर से निकल कर
मेरी जिन्दगी में जगह बना ली
मैं गुलाबी सपने देखने लगी थी बहुत छोटी उम्र में
नीले पीले चटक रंगों को अक्सर फिराती थी
अपनी कूची से किताबों पर मैं
और डुबो कर उनमें अपना चेहरा
देखती थी खुद को घंटों आईने में

काले और सफेद रंग से भी एक नया परिचय
मां ने ही करवाया जब
छाने लगी काली स्याही मां की आंखों के नीचे
जब छा गयी थी सफेदी
उनके कपड़ों से लेकर चेहरे तक पर
इन रंगों से मेरा यह नया परिचय था

कई रंग आये, गये जीवन में कई कई बार
कुछ तो ठहर गये जीवन भर के लिए
कुछ को थाम लिया मैंने बांह पकड़ कर

इस तरह रंगों से बना ही रहा मेरा सम्बंध जीवन भर
पर अब यह नया दौर आया है
जब ये रंग भरमाने निकल पड़े हैं
अपनी सारी हदें तोड़ कर
इस भरमाने के दौर में सबसे ज्यादा
कामगार हो रहे हैं ये रंग ही
ये रंग अपनी प्रकृति से अलग हो गये हैं गुलाम

सौदा सुलफ लेने जाओ बाजार तो
लुभाते हैं कई अनचाहे रंग
जिन्दगी में तो इन रंगों ने बवाल ही मचा दिया है
चुनती हूं कोई एक रंग फिराने को दीवार पर
तो देख कर स्तब्ध रह जाती हूं कि
न जाने कहां से आ गये वे रंग भी

जिन्हें छुआया भी नहीं था मैंने कूची से

इंटरनेट पर सर्च करने लगती हूँ कुछ अबूझ
तो भरमाने लगते हैं अजीब से भद्दे रंग
हुआ कुछ यूँ कि एक दिन थाम कर इन रंगों का हाथ
डूबते उतराते अपने बचपन के इंद्रधनुष में
निकल गयी मैं ढूंढने कुछ नया
अनछुए रोंये सा कोई टटका रंग
घसीटते गये ये मुझे फूहड़, भद्दे और
लिसलिसे रंगों के दलदल में

हमारे समय ने बदल कर रख दी है रंगों की परिभाषा
अब वे नहीं आते हैं इंद्रधनुष की तरह सतरंगी
बल्कि चटख हो गये हैं वे अपने स्वभाव में
नीला रंग काले रंग से हो गया है एकमेक
लाल ने बदल कर चोला धर लिया है हॉट का
गुलाबी अब झूल रहा है प्रेम और सेक्स के बीच
हरे, सफेद और नारंगी पर तो कुछ न ही कहा जाये तो बेहतर

इस तरह इन रंगों ने धूमिल कर दिया है
मेरे बचपन की रंगीन स्मृतियों को
मैं कशमकश में हूँ कि उम्र के इस दौर में
रंगों के कौन से अर्थों को समझूँ सही
वे जो मेरे बचपन में थे या वे
जो वर्तमान में तय किये जा रहे हैं।

ये बग्गीवाले

रात के गहरे अंधेरे को चीरती चली आ रही है
फूलों से सजी लदी एक बग्गी
सफेद घोड़ी से लेकर बग्गी के पहियों तक
सब कुछ महक रहा है अपनी खुशबू से
यह बग्गी कह रही है एक कहानी कि
सवार था अभी कुछ देर पहले कोई दूल्हा इस पर
कि उसको पंहुचा कर अपने गंतव्य लौट रही है यह वहां से

बग्गी बता रही है कि जहां उतरा था इसका सवार कुछ देर पहले
वहां रौनक है, रोशनियां हैं, ठहाके हैं, संगीत है
और है और भी बहुत कुछ

काली सड़क पर अपने पांव पटकती लौट रही है
यह बग्गी अब अपने ठिकाने जहां से
बनेंगी कई नयी योजनाएं आने वाली रातों की
सवार होंगे और कई दूल्हे इन लकदक गाड़ियों पर
पर अभी सवार हैं इस पर दो लोग
ये दूल्हे नहीं हैं फिर भी कर रहे हैं सवारी बग्गी की
ये जहां जा रहे हैं वहां न होगी रोशनी
न रौनक, न ठहाके, न संगीत
वहां पसरा होगा एक सन्नाटा जहां
अंधेरे और गहरी नींद को अपनी धकी आंखों से धकेलती
खड़ी होंगी इनकी औरतें

ये बग्गी के नियमित सेवक हैं जो हर रात
सजधज कर चल देते हैं अपने काम पर

बारात की चुंधियाती रोशनी भी
नहीं उजला कर पाती इनके चेहरों को
बग्गी पर पड़ी अधमरी लाशों की तरह
ये जब लौटते हैं अपने घर तब तक
सो चुके रहते हैं इनके मासूम बच्चे
पिता के बेसब्र इंतजार में
और उन बच्चों के सपनों में भी आती हैं
फूलों से सजी ऐसी खूबसूरत बग्गियां
बग्गीवाले जानते हैं कि उनके बच्चे देख रहे हैं सपने
खूबसूरत और महकती बग्गियों के
और ये उदास हो जाते हैं

बग्गीवाले देखते हैं अपनी पत्नी की गहरी, धंसी आंखों में
और अपनी आंखें झुका लेते हैं
अपनी पत्नी को कस कर अपनी बांहों में
वे दबा लेना चाहते हैं अपनी सारी चीखें

पत्नी के होंठों पर रख कर अपने दांत
वे बदला लेना चाहते हैं ऐसी रंगीन बारातों से
कि क्यों नहीं उनके हिस्से में
इन रोशनियों की एक किरण भी
वे इन रोशनियों को भरना चाहते हैं अपनी पत्नी की मांग में
लेकिन हार कर छिपा लेते हैं अपना सिर
उसके आंचल में और इंतजार करते हैं
इस रात के कभी न बीतने का।

बेबसी सी है कुछ

रोज सुबह जब घड़ी अलसाई सी
सुबह हो जाने का संकेत देती है
मैं अपनी आंखें मलती उठ खड़ी होती हूं बिस्तर से
बगैर इस बात की चिन्ता किये कि
पिछली रात आखिर सो ही पायी कितने घंटों के लिए
बगल में सोयी अपनी बिटिया को कुछ और देर
के लिए कम्बल में लपेटते ऐसे जैसे
इन्हीं कुछ पलों में वह अपनी सबसे खूबसूरत नींद सोयेगी
मैं चल देती हूं रसोई की ओर
बर्तनों को उठा पटक कर
कढ़ाई, पतीलों में उड़ेल कर अपने हाथ का सारा स्वाद
पका देती हूं कुछ ऐसा जिसे वह मन से खाये
और इस तरह मां होने का अपना फर्ज निभाती
रोज धकियाती हूं अपने भीतर की स्त्री को

मैं चाहती हूं उससे कि कहे वह
मां आज बहुत अच्छा था तुम्हारे हाथ का पका खाना
और यह कि कहे वह
कि तुम हो धरती की सबसे अच्छी मां
दरअसल हर मां सुनना चाहती है अपने बच्चों के मुंह से
ये शब्द जिनमें उन्होंने बैठाया हो
मां को धरती की सबसे ऊंची जगह पर

अपने हाथ से पका कर उसके लिए कुछ उसका मनपसंद

मैं मां होने की और भी कई जिम्मेदारियों से
मुंह फेर लेती हूं बेहद नम आंखों से
और भूल जाना चाहती हूं वे पल
जब मेरी बेटी हाथ थाम कर मेरा
जिद करती है स्कूल न जाने की
कि वह चाहती है मैं दिन भर रहूं उसके साथ ही
जब कहती है वह
कि न जाओ आज ऑफिस मां
मैं दिन भर तुम्हारी आंखों के सामने जी भर शैतानियां करना चाहती हूं

जानती है वह कि इन्हीं बदमाशियों के लिए
मैं डांटती भी हूं उसे मन भर और
कभी कभी तो चपत भी पड़ जाती है उसे
लेकिन शायद वह इसी चपत के लिए ही
मेरे साथ रहना चाहती है।

मैं समझाने की करती हूं एक नाकाम कोशिश भी
उस चार साल की मासूम को कि
जाना कितना जरूरी है मेरा ऑफिस
हम सबके लिए, पर
वह समझना ही नहीं चाहती है
वह तो बस मेरी बेहद व्यस्त जिन्दगी से
अपने लिए कुछ पल चुराना चाहती है
उसकी आंखों की मासूमियत, उसकी बेबसी
बेचैन करने लगती है मुझे और
मैं अगली सुबह कुछ और बेहतर
पकाने की जुगत में लग जाती हूं।

यह समर्पण ध्वनि है तूर्य की सी बुझती हुई

अशोक कुमार पांडेय

(शुक्लाष्टमी)¹

रात का वक्त है नहीं है यह
बहुत मुमकिन है कि जो देख रहा हूं वह स्वप्न हो कोई दुःस्वप्न सा
पर वक्त नहीं है रात का

देखो

साफ दिख रहा है आसमान में सूरज
जैसे किसी लाश की खुली रह गयी आंख
आसमान वीभत्स और विवस्त्र कि जैसे किसी ने झटके से खींच दिया हो चाल का
परदा फटे टाट वाला
और उसमें मुचमुचाया सूर्य जैसे भौचक ताकता कोई बूढ़ा अपाहिज
बादलों के मटमैले टुकड़े कि जैसे उसके वस्त्र हों कीचट
हवा की सांय सांय जैसे अर्धनग्न बच्चियों की चीत्कार, भागदौड़

वक्त नहीं है रात का यह

अंधेरों पर नहीं थोप सकते अपने अंधत्व का दोष हम

नीम उजाला भी नहीं चमकती रोशनी में चला आ रहा है राजा का रथ काले अरबी घोड़ों से जुता लहू के कीचड़ में दौड़ता चीरता धरती के सीने को रोज नये जख्म बनाता गूंजता है स्वर विजयी तूर्य का भयावह ध्वजा पर देवता सवार सारे पुरोहितों के मंत्रोच्चार से भयभीत पक्षियों की चीत्कार से भर गया है आकाश तांत्रिक शहरों के बीचोंबीच पढ़ रहे उच्चाटन कर रहे हवन

ॐ लोकतंत्राय स्वाहा
ॐ मनुष्यताय स्वाहा
ॐ सत्याय स्वाहा
ॐ प्रकाशाय स्वाहा
ॐ एम हवीं क्लीं स्वप्नाय नमः स्वाहा

कर रहे समिधा में समर्पित जीव अजीव सजीव निर्जीव उठ रही अग्नि, धुएं से भरी दसों दिशाएं, चीत्कार से भरी, भरी आर्तनाद से हाहाकार से जयकार से विलाप से परिहास से अट्टहास से!

वर्तमान, भूत और भविष्य के स्वप्न
रौंदते हुए सब
अश्व हैं कि भागते ही चले जाते हैं

(दो)

राजा के पीछे खड़ी, चतुरंगिणी फौज बड़ी
तोप और बंदूक लिए, भरे हुए संदूक लिए
टीवी के चैनल हैं, दफ्तर अखबार के
झुक झुक के गाते हैं, गीत सब दरबार के

राजा के पांव को, राजा की छांव को
राजा के नाम को
मुख को मुखौटे को
कुत्ते बिलौटे को, चूमते चाटते
रेंगते केंचुए सा
नाग से फुंफकारते
भेड़िये से काटते

पीछे पीछे भागते हैं हाथ में कलम लिए
भाषा के कारीगर जादू बिखेरते

कला कला गा गा के सिक्के बटोरते
नोच नोच फेंकते हैं चेहरे पर के चेहरे
आंसू बहाते हैं, रोते हैं, गाते हैं, चीखते चिल्लाते हैं

कोट काला टांग कर, आला लहराते हुए
प्रेस क्लब का नया पुराना, बिल्ला चमकाते हुए
कविता सुनाते हुए, कहानी बनाते हुए
एकेडमी से कालेज से, पार्टी मुख्यालय से
मल मल के आंख जागे सब
दिन के उजाले में
भागे सब भागे सब

जय श्रीराम, हनुमान जय
जय जय भवानी
जय अक्षरधाम जय
हम भी हैं हम भी हैं हैं हम ही हैं हम
बम बम बम बोल बम
एक नजर देखो तो
राजाजी नहीं अगर सारथि जी देखो तो
देखो न कर दो न हम पर भी ये करम
जय जय अमेरिका सीआईए की जय जय
वर्ण की व्यवस्था जय आप ही की सत्ता जय

कोई नहीं सुनता कोई कान भी देता नहीं
सड़क किनारे खड़ा जन ध्यान भी देता नहीं

देखते ही देखते क्या हुआ गजब हुआ
कलम लिए लिए जोंक बन गये सारे
जाकर चिपक गये अश्वों की पीठ से पूंछ से पैर से लिंग से अंड से
कुछ जो चतुर थे जा चिपके राजदंड से

और अश्व हैं कि भागते ही चले जाते हैं

(तीन)

ये कौन सी औरतें हैं अर्धनग्न खड़ीं राह में?

कौन ये वनवासिनें जिनके हाथ में जयमाल नहीं पुष्पगुच्छ नहीं
जिनकी आंखों में भय नहीं क्रोध है संताप है
चीत्कार सी लगती है जिनके विलाप की ध्वनि
फटी बिवाई वाले पैरों वाली यह कैसी औरतें खड़ी हैं राह में?
कैसी शक्तें कुरूप कैसा स्वर रुक्ष!

इन्हें दूर करो चीखता है सारथी और अश्व चींथते चले जाते हैं उनका अस्तित्व
रौंदते हुए उनका क्रोध उनकी चीत्कार उनका विलाप

यह धरती पर बिछे पलाश के फूल नहीं हैं
उन आवाजों का रक्त है
उन विलापों का रक्त
संतापों का रक्त
भागते हैं अश्व तीर से चुभते हुए जंगल के सीने में
चीखते हैं मोर, मणि, वनदेवी स्वर में समवेत
कहता है सारथी उन्मत्त से स्वर में
'यह समर्पण ध्वनि है तूर्य की सी बुझती हुई'

विजय मद में मदमस्त राजा
चीखता है, गाता है, अपने ही गले को बाजे सा बजाता है
बांस की फुनगियों को नोचता है
खखोर डालता है धरती का गर्भ अतिथियों को बांटता है
पदवियां समेटता है भाल पर सजाये हुए तिलक रक्ताभ अपनी धुन में गाता है
और अश्व हैं कि भागते ही चले जाते हैं...

वहां जहां पहियों के निशान छूट गये हैं विजयचिह्न की तरह
वहीं पांव के निशान कुछ उभरते हैं,
वहां जहां बज गयी है विजयध्वनि
कुछ पुरानी आवाजें ठिठकी हुई हैं वहां
वहीं जहां धरती के गर्भ में घाव है
हो रही है हलचल सी
गीत कुछ विचित्र धुनों में बज रहे हैं
घायल से सैनिक कतारों में सज रहे हैं

औरतें वे फिर से उठ कर खड़ी हुईं
और उनके हाथ में फूल नहीं बंदूक है
लाशों के बीच रखतीं संभल संभल के कदम
थर थर थर कांपती नसों में संकल्प प्रतिघात का
संकल्प एक युद्ध का नयी शुरुआत का
भय का निशान नहीं
चेहरे की चोटों में गुस्सा अकूत है
गांवों में, खेतों में, बंजर मैदानों में
भूख से भरे हुए दक्खिन टोले, सहारानों में

दृश्य में...

स्वरहीन कंठ हैं रुंधे हुए, नीली नीली लाशें, कीचड़ भरी आंखों से देखते हैं वृद्ध जन भागते हैं
पीछे पीछे, भागती हैं औरतें, भागते हैं बच्चे, जानवर भागते हैं। खेतों की मेढ़ों पर, भूतिया से
डेरों पर, सूखे हुए कूपों में, खाली बखारों में, मंदिर के ओटले पर, मस्जिद में, गिरजे में और गुरद्वारों
में, ऊंघते बेकारों में मची हाहाकार है

दृश्य में

राजा के रथ, अश्व, तूर्य, ध्वजा
भव्य सैन्यदल अस्त्र शस्त्र से सजा
नेपथ्य में अंधकार घोर है
शांति नहीं, संगीत नहीं, सम्भावना है
शोर है!

कोई नहीं देख पाता कि घोड़े के पांव में गहरा एक घाव है
रुधिर जो जंगल की धरती पर पसरा पलाश सा
कुछ बूंदें गिर कर उसमें मिलती जाती हैं
निःशब्द
टापों के बीच टप टप टप
और अश्व हैं कि भागते ही चले जाते हैं

(तीसरा सुत्या दिवस) ²

राजधानी की सुसज्जित यज्ञशाला
हवनकुंड है धधकता
हविष्य घृत धूप चंदन

मंत्रजाप तीव्र, ध्वजा है फहरती
सातों दिशाओं से झुकाये सर खड़े नृप अधिपति कुलाधिपति
इतिहास कंधे झुकाये विज्ञान के संग धो रहा बरतन
बुहारता है राह गीले चश्मे से झांकता वह कृशकाय वृद्ध
सीने में गोलियों को पुष्पमाल सा सजाये
हंस रहा है गोडसे
तेज होते जा रहे हैं अट्टहास
एक बच्चा नींद से उठ रो पड़ा है
डर के शोर से

सोमरस की गंध तीखी
तेज मंत्रोच्चार
पारिपल्व समाप्त सारे, दीक्षाएं समाप्त, समाप्त उपसद
उपांग याग³ की प्रतीक्षा में झूमते हैं विप्रवृंद
बलिगृह से उठ रहीं चीखें निरंतर
मंत्रों में डूबते चीत्कार के करुण स्वर

और उधर वस्त्रावरण में
नग्न महिषी पुरोहित नग्न अश्व घायल
वावाता⁴ को गोद में बिठाये राजा उन्मत्त
घायल है अश्व, महिषी घायल पुरोहित कामातुर पढ़ता है मंत्र करता केलि
अश्व के पांवों से रुधिर महिषी की आत्मा से बह रहा है रक्त
पुरोहित उन्मत्त
राजा उन्मत्त
बह रहा है रक्त
पर्वत शिखर से रक्त
महासागरों से रक्त
जंगलों से रक्त
पुरोहित उन्मत्त
राजा उन्मत्त

और फिर उठता है खड्ग अंतिम बलिष्ठ
गूंजती जयकार धड़ से अलग सर
लड़खड़ाते पांव लथ रुधिर के भंवर में डूबते हैं
अश्रु स्वेद रक्त सब धरा को चूमते हैं
चौंक कर देखता है उसे राजा और फिर मुंह फेर लेता है

जंगली नदी सी रुधिर की एक धार आती है
और धर्म की ध्वजा और और फहराती है

उठता हूं नींद से जाने कि जागरण से
पसीना है कि खून है जाने
अंधेरा इतना कि आंख को कोई रंग नहीं सूझता!

संदर्भ

1. अश्वमेघ का आरम्भ फाल्गुन शुक्ल अष्टमी या नवमी से अथवा ज्येष्ठ (या आषाढ़) मास की शुक्लाष्टमी से किया जाता था।
2. सुत्या सोमरस बनाने की विधि है। अश्व के लौटने के बाद तीन दिनों का जो उत्सव होता था उनमें बारह दीक्षाएं, बारह उपसद और तीन सुत्याएं होती थीं। तीसरे सुत्या दिवस के विधि विधान के बाद राजा को चक्रवर्ती की उपाधि दी जाती थी।
3. उपांग याग में ऋत्विजों को दक्षिणा दी जाती थी। होता, ब्रह्मा, अध्वर्यु तथा उग्दाता को पूरब, दक्षिण, पश्चिम तथा उत्तर दिशाओं में विजित देशों की सम्पत्ति क्रमशः दक्षिणा में दी जाती थी और अश्वमेघ समाप्त हो जाता था।
4. राजा की प्रेमिका

विराम चिह्नों का महत्व

अमिताभ राय

शब्दों और वाक्यों का परस्पर सम्बंध बताने तथा किसी विषय को भिन्न भिन्न भागों में बांटने तथा ठहरने के लिए जिन चिह्नों का उपयोग किया जाता है, वे विराम चिह्न कहलाते हैं। यह आम धारणा है कि विराम चिह्नों का सम्बंध साहित्य से ज्यादा भाषा से है। पर क्या साहित्य भाषा के बिना सम्भव है? अगर साहित्य भाषा के बिना सम्भव नहीं, तो विराम चिह्नों का साहित्य में और उसके अध्ययन में विशेष महत्व होगा ही। परंतु हमारे साहित्यिक संस्कार और आलोचनात्मक विवेक में विराम चिह्न लगभग गौण रहते हैं। विराम चिह्नों के संदर्भ में सामान्य भाषा के इस्तेमाल के समय हम जितने चौकस रहते हैं, एक साहित्यिक पाठक के रूप में अक्सर उन्हें नजरअंदाज करते हुए आगे बढ़ जाते हैं। तब प्रश्न है कि क्या विराम चिह्नों को छोड़ देने से उस पाठ के अर्थ संदर्भण पर कोई फर्क नहीं पड़ेगा?

इस संदर्भ में एक दूसरी बात भी द्रष्टव्य है। क्या साहित्यकार सदैव अथवा अधिकांशतः भाषा के सामान्य प्रवाह (कर्ता+कर्म+क्रिया) का निर्वाह करता है? वह भाषा के सामान्य प्रवाह में विक्षेप विराम चिह्नों से ही उत्पन्न करता है। इस तरह भाषा में विक्षेप उत्पन्न करना केवल कलात्मक सौन्दर्य का मसला नहीं है। कलात्मक सौन्दर्य के साथ ही यह भाषा को अर्थ संकुल बनाने का प्रयास भी है। इसीलिए आधुनिक साहित्यकार विराम चिह्नों का भी उतना ही सायास प्रयोग करता है, जितना अपने शब्दों का।

जब मैं विराम चिह्नों के संदर्भ में आधुनिक साहित्यकारों का प्रसंग ले रहा हूँ तो इसकी कुछ वजहें हैं। सर्वप्रमुख तथ्य यह है कि साहित्य में विराम चिह्नों का व्यापक आविर्भाव गद्य से जुड़ा है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अपने 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' में आधुनिक काल को गद्य का काल माना है। प्राक् आधुनिक हिन्दी साहित्य या भारतीय साहित्य में रचनाओं का माध्यम पद्य था। पद्य छंदबद्ध रचनाएं हैं। व्युत्पत्ति की दृष्टि से गण मात्रा युक्त रचना पद्य कहलाती है। पद्य शब्द रचना के बाह्य

रूप का परिचय कराता है, उसकी आंतरिक प्रवृत्ति का कोई बोध नहीं देता है। तो प्राक् आधुनिक भारतीय साहित्य में चाहे वह कथा, आख्यायिका हो, काव्य के विभिन्न रूप हों, चम्पू हो, गीति काव्य या नाटक हो सबकी रचना पद्य में होती थी। पद्य को कविता के पर्याय के रूप में देखना एक भ्रांत धारणा है, जो कालांतर में हिन्दी साहित्य और आलोचना में चल पड़ी। पद्य माध्यम की छंदबद्ध रचनाओं में विराम चिह्नों के लिए स्थान कम था क्योंकि छंदों के अपने शास्त्रीय अनुशासन थे, मात्राओं का नियत स्थान था और साहित्यकार उन्हीं नियमों का पालन करते हुए रचनारत होते थे। इस कारण ही सम्भवतः प्राक् आधुनिक भारतीय साहित्य में विराम चिह्न बहुत कम थे। फिर भी 'भ्रमरगीतसार' की ये पंक्तियां द्रष्टव्य हैं

हमसों कहत कौन को बातें?

सुनि ऊधो! हम समुझत नाहीं फिरि पूछति हैं तातैं।।'

भ्रमरगीतसार, सम्पादक आचार्य रामचंद्र शुक्ल

प्रसिद्ध वैयाकरण कामता प्रसाद गुरु ने लिखा है "विराम चिह्नों का विवेचन अंग्रेजी भाषा के अधिकांश व्याकरणों का विषय है और हिन्दी में यह वहां से लिया गया है। हमारी भाषा में इस प्रणाली का प्रचार अब इतना बढ़ गया है कि इसको ग्रहण करने में कोई सोचविचार हो ही नहीं सकता, पर यह प्रश्न अवश्य उत्पन्न हो सकता है कि विराम चिह्न शुद्ध व्याकरण का विषय है या भाषा रचना का।" मैं भाषा रचना का अर्थ यहां साहित्य ही ले रहा हूं। अपने इस लेख के माध्यम से सम्भवतः इसी प्रश्न को थोड़े विस्तार से उठाने का प्रयास कर रहा हूं क्योंकि आज हिन्दी भाषा और साहित्य ने विकास और परिवर्तन के अनेक चरण पार किये हैं, जो सम्भवतः कामता प्रसाद गुरु के समय में नहीं था। परंतु उपर्युक्त प्रश्न का जो उत्तर उन्होंने दिया है, वह आज भी अनेक संकेतों से युक्त है। उन्होंने कहा है "यथार्थ में यह विषय भाषा रचना का है, क्योंकि लेखक वा वक्ता अपने विचार स्पष्टता से व्यक्त करने के लिए जिस प्रकार अभ्यास और अध्ययन के द्वारा शब्दों के अनेकार्थ, विचारों का सम्बंध, विषय विभाग, आशय की स्पष्टता, लाघव और विस्तार आदि बातें जाने लेता है (जो व्याकरण के नियमों से नहीं जाना जा सकता), उसी प्रकार लेखक को इन विराम चिह्नों का उपयोग केवल भाषा के व्यवहार ही से ज्ञात हो सकता है। व्याकरण से इन विराम चिह्नों का केवल उतना ही सम्बंध है कि इनके नियम बहुधा वाक्य पृथक्करण पर स्थापित किये गये हैं। यथार्थ में व्याकरण से इन चिह्नों का केवल गौण सम्बंध है; परंतु इनकी उपयोगिता के कारण व्याकरण में इन्हें स्थान दिया जाता है।" इस उद्धरण से स्पष्ट हो जाता है कि विराम चिह्नों का प्रयोग वाक्य के अर्थ पर ही अवलम्बित है। इसके बाद कामता प्रसाद गुरु ने आठ विराम चिह्नों के बारे में बतलाया है और कहा है कि "केवल पूर्णविराम चिह्न (।) हिन्दी का है, पर शेष चिह्नों के रूप अंग्रेजी ही के हैं।"

कामता प्रसाद गुरु यह तो ठीक बताते हैं कि विराम चिह्न आधुनिक काल में आये, सम्भवतः इसकी मात्रा बढ़ जाने की ओर वे इशारा कर रहे थे। अन्यथा विस्मयादि बोधक चिह्न और कुछ अन्य चिह्न भी पुराने साहित्य में कम ही सही पर दिखायी पड़ते हैं। 'भ्रमरगीतसार' वाले उपर्युक्त उदाहरण में पूर्णविराम के अतिरिक्त अन्य विराम चिह्न भी हैं। अब यह मूल है या प्रक्षिप्त यह बता पाना मेरे लिए सम्भव नहीं है। मैंने इसे शुक्ल जी वाले संस्करण से लिया है। खासतौर से विस्मयादि बोधक चिह्न सम्बोधन के अर्थ में पहले भी प्रयुक्त होता रहा है। विद्वान की यह बात भी ठीक है कि यह साहित्य (भाषा रचना) का विषय है। परंतु उन्होंने यह नहीं बताया कि आधुनिक काल में इनका व्यवहार अथवा प्रयोग इतना क्यों बढ़ गया? साथ ही उन्होंने यह भी बताया है कि विराम चिह्नों को अंग्रेजी भाषा से लिया गया है। संदर्भों में गहरायी से विचार करने की आवश्यकता है। मेरे विचार से, कम

से कम भारतीय और विशेष रूप से हिन्दी साहित्य में विराम चिह्नों का प्रचलन गद्य के विकास के साथ क्रमशः बढ़ता है। आधुनिककाल को 'गद्यकाल' कहा जाता है। परंतु हिन्दी के संदर्भ में काल विभाजन एक जटिल समस्या है, विशेष रूप से आधुनिक के निर्धारण के संदर्भ में इसकी जटिलता और बढ़ जाती है। रामविलास शर्मा 'भारतेन्दु हरिश्चंद्र और हिन्दी नवजागरण की समस्याएं' में लिखते हैं कि "जातीय भाषा और साहित्य का निर्माणकाल आधुनिककाल है। साहित्य के इतिहास की समस्या यह है : यह आधुनिककाल अंग्रेजी राज कायम होने से पहले शुरू हुआ या बाद को? काल विभाजन की समस्या विशुद्ध साहित्य के इतिहास लेखन की समस्या नहीं है; उसका सीधा सम्बंध भारत में अंग्रेजी राज की भूमिका से है।" जाति का विकास आधुनिक काल में होता है। जाति का विकास पूंजीवाद के साथ ही होता है। परंतु मार्क्स ने अपनी 'पूंजी' और 'कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र' में पूंजीवाद के विकास पर विस्तार से बात की है। मार्क्स ने पूंजीवाद की दो अवस्थाओं का जिक्र किया है व्यापारिक पूंजीवाद और औद्योगिक पूंजीवाद। भारत जैसे देशों में औद्योगिक पूंजीवाद भले ही न आया हो, परंतु व्यापारिक पूंजीवाद उन्नत स्थिति में था। इसे रामविलास शर्मा ने अपनी अनेक पुस्तकों में सैद्धांतिकीकृत किया है। अभी समस्या गद्य के विकास को लेकर है। गद्य के विकास का सीधा सम्बंध आधुनिककाल, जाति के निर्माण और पूंजीवादी विकास से है। रामचंद्र शुक्ल ने खड़ी बोली हिन्दी और गद्य के विकास के संदर्भ में अनेक महत्वपूर्ण बातें कहीं। उन्होंने कहा कि "किसी भाषा का साहित्य में व्यवहार न होना इस बात का प्रमाण नहीं है कि उस भाषा का अस्तित्व नहीं था। उर्दू का रूप प्राप्त होने से पहले ही खड़ी बोली अपने देशी रूप में विद्यमान थी और अब भी बनी हुई है।" इस खड़ीबोली के विकास की मुख्य वजह इसका व्यापारियों द्वारा इस्तेमाल है। शुक्ल जी ने मुगल साम्राज्य के ध्वंस को भी खड़ी बोली के विकास में सहायक माना। चूंकि "दिल्ली, आगरे आदि पछांही शहरों की समृद्धि नष्ट हो चली थी और लखनऊ, पटना, मुर्शिदाबाद आदि नयी राजधानियां चमक उठी। जिस प्रकार उजड़ती हुई दिल्ली को छोड़ कर मीर, इंशा आदि अनेक उर्दू शायर पूरब की ओर आने लगे, उसी प्रकार दिल्ली के आसपास प्रदेशों की हिन्दू व्यापारी जातियां (अगरवाले, खत्री आदि) जीविका के लिए पूरबी शहरों में फैलने लगे। उनके साथ साथ उनके बोलचाल की भाषा भी लगी चलती थी।" इनके साथ ही व्यापार के नये केन्द्र जो पूरब की ओर स्थापित हो रहे थे, उन 'बाजारों की व्यावहारिक भाषा भी खड़ी बोली हुई।' यह व्यावहारिक भाषा गद्यमय ही हो सकती है। तो जैसे अंग्रेजों ने अपने औपनिवेशिक फायदे के लिए भारत के देशी पूंजीवाद और बाजार व्यवस्था को ध्वस्त किया, वैसे ही संस्कृति के अनेक आयामों को भी ध्वस्त करने की कोशिश की, अवमूल्यित करने की कोशिश की और अर्थहीन बनाने की कोशिश की। इससे बाजारों के माध्यम से गद्य का जो सहज प्रवाह विकसित हो रहा था, वह भी अवरोध का शिकार हो गया। परंतु यह धारा समाप्त नहीं हुई। 1857 ई. में क्रांतिकारियों द्वारा जो इश्तहार निकाले जा रहे थे, वे इसके प्रमाण हैं। अवध के सिपाहियों के इश्तहार 'फतहे इसलाम' का जिक्र रामविलास शर्मा ने अपनी भारतेन्दु वाली पुस्तक में किया है। इस तरह गद्य का विकास हो रहा था, जो कमोबेश अनवरत जारी रहा।

इसका तात्पर्य यह हुआ कि जिसे हिन्दी साहित्य का मध्यकाल कहते हैं, वास्तव में वहीं हिन्दी साहित्य की नींव भी पड़ जाती है। इस समय व्यापार के कारण भाषा में गद्य का संस्कार भी विकसित होने लगता है। साहित्य में भी गद्य का विकास होने लगता है। गंग कवि, गोकुल नाथ आदि अनेक साहित्यकार हुए जिनमें गद्य अपेक्षाकृत परिष्कृत रूप में दिखायी पड़ता है। गंग कवि का यह उदाहरण प्रसिद्ध है "सिद्ध श्री 108 श्री श्री पातसाहि जी श्री दलपति जी अकबरसाहजी आमखास में तख्त ऊपर विराजमान हो रहे हैं। और आमखास भरने लगा है जिसमें तमाम उमराव आय आय कुर्निश

बजाय जुहार करके अपनी अपनी बैठक पर बैठ जाया करें अपनी अपनी मिसल से। जिनकी बैठक नहीं सो रेसम के रस्से में रेसम की लूमें पकड़ के खड़े ताजीम रहे।” गद्य की यह क्षीण धारा 19वीं शताब्दी में अन्यान्य कारणों से वेगवती हुई। इसका तात्पर्य यह है कि गद्य के विकास के साथ विराम चिह्नों का प्रयोग बढ़ने लगा होगा। गंग कवि के उद्धरण में इसे देखा जा सकता है। परंतु गंग कवि का यह पाठ कितना शुद्ध है, कहना अत्यंत कठिन है। यह आचार्य रामचंद्र शुक्ल के ‘हिन्दी साहित्य का इतिहास’ से लिया गया है, जिसे मैं सही मान रहा हूं। एक अन्य उदाहरण चौरासी वैष्णवन की वार्ता का द्रष्टव्य है “तब पार्वती ने कहेयौ जो महाराज! तुमती दारिभात सालनसो आरोगतहो। तब श्री ठाकुरजीने कहेयौ जो मे तो तेरो कीयौ आरोगतहो। पाछें दारभात सब सालन करन लागी। ताते पार्वती बडी कृपापात्र भगवदीय हुती। यह वार्ता सब पद्मनाभदास के परिवार की भई। ताते वे पद्मनाभदास श्री आचार्यजी महाप्रभूनके ऐसे कृपापात्र भगवदीय हैं। से इनकी वार्ता ऐसी ऐसी कितनी कहें, ताते अब कहां ताई लिखिये।” अन्य विराम चिह्नों की तुलना में पूर्णविराम का अधिक प्रयोग दिखलायी पड़ता है।

गद्य और भाषा के विकास में सैनिकों का निरंतर एक स्थान से दूसरे स्थान पर आवागमन भी बहुत महत्वपूर्ण है अथवा जिन समयों और स्थानों पर स्थापत्य, वास्तुकला, भवन, सड़क आदि का विकास और निर्माण जितना ज्यादा होगा, गद्य और भाषा का निर्माण तथा विकास भी उतना ही ज्यादा होता है। यह बात अत्यंत सीधी है। मजदूर अथवा सैनिक एक दूसरे से शायरी अथवा पद्यात्मक भाषा में तो बात करेंगे नहीं। वे संवाद और साहचर्य के लिए संवाद और विनिमय के माध्यम से जिस सामान्य भाषा का विकास करेंगे, वह गद्य ही होगा। इस तरह प्राक् आधुनिक युग का अधिकांश साहित्य भले ही पद्य में हो, परंतु यहां भी ब्रज, राजस्थानी और खड़ी बोली के गद्य का सघन विकास जनता में हो रहा था।

मेरे विचार से, कम से कम भारतीय और विशेष रूप से हिन्दी साहित्य में विराम चिह्नों का प्रचलन गद्य के विकास के साथ बढ़ता गया। आधुनिककाल को ‘गद्यकाल’ कहा ही गया है। गद्य के साथ एक दूसरा संदर्भ भी है। जैसे प्राक् आधुनिक साहित्य में पद्य साहित्य रचना का माध्यम थी, वैसे ही आधुनिक काल में गद्य साहित्य रचना का माध्यम है। अगर हम प्रयोगवादी अथवा नयी कविता के बाद के दौर की बात करें, तो साहित्य की सारी विधाएं गद्य में रचित हैं। कविता भी। उक्त दौर से कविताएं भी गद्य माध्यम में ही लिखी जा रही हैं। वैसे छायावाद के दौर से ही, जब निराला ने मुक्तछंद को अवधारणा के रूप में प्रस्तुत किया, कविता पर गद्य का सघन प्रभाव दृष्टिगोचर होने लगता है। इसीलिए छायावादी दौर में कविता में विराम चिह्नों का प्रयोग बढ़ने लगता है।

इस तरह विभिन्न युगों में गद्य का विकास हुआ और आज यह सर्वमान्य माध्यम है। गद्य के विकास के साथ विराम चिह्नों का प्रयोग निरंतर बढ़ता गया है, चाहे वह कथा साहित्य हो या कविता। महेन्द्र राजा जैन ने ‘विराम चिह्न क्यों और कैसे’ नामक पुस्तक में लिखा है कि “मुद्रण कला के आविष्कार एवं विकास के बाद विराम चिह्नों के प्रयोग की आवश्यकता अपरिहार्य हो गयी। इसके विकास में प्रकाशनों की भूमिका से इनकार नहीं किया जा सकता।” परंतु मुझे यह तर्कपद्धति ठीक नहीं लगती। मुद्रण कला के विकास ने गद्य के प्रसार और प्रभाव को अनिवार्य रूप से बढ़ाया। गद्य के प्रसार से विराम चिह्नों में बढ़ोतरी हुई। जैन जी के तर्क से लगता है कि विराम चिह्न अपने आप में ही कोई स्वतंत्र प्रवृत्ति अथवा साहित्यिक उपकरण व्यवहार भाव हैं। मैंने ऊपर कहा भी कि विराम चिह्न भाषा के व्याकरण से ज्यादा भाषा के साहित्य से सम्बंधित हैं। महेन्द्र राजा जैन जी अपनी पुस्तक में लिखते हैं “विराम चिह्न का प्रयोग एक प्रकार का सिद्धांत है। उसके अपने नियम हैं। विराम

चिह्न के प्रयोग के सम्बंध में भी कुछ व्यवहार प्रक्रिया है जिसे यदि नियमानुसार माना जाये तो वाक्य की अस्पष्टता की सम्भावना नहीं रहती है। यदि इन नियमों को नहीं माना जाये तो वह गलत, अशुद्ध और अस्वीकार्य हो जायेगा।” महेन्द्र राजा जैन जी की एक और विचित्र स्थापना द्रष्टव्य है “विराम चिह्नों के प्रयोग से छपा हुआ पृष्ठ नेत्रों को तो प्रियकर होता ही है...”। विराम चिह्नों के प्रयोग से छपा हुआ प्रीतिकर लगेगा या रचनाकार उनके माध्यम से अपने भावों, विचारों को सुबोध और सम्प्रेषणीय बनाता है। मैंने इस लेख के आरम्भ में ही यह बात स्पष्ट करने की कोशिश की, कि साहित्यकार अधिकांशतः व्याकरण के नियमों को खारिज करता है। मैंने ऊपर यह भी बताया कि जब कविता पद्यात्मक हुआ करती थी, तब वहाँ विराम चिह्नों की वैसी आवश्यकता भी नहीं थी। उस समय काव्य पर वैसा ही छंदशास्त्रीय नियमों का अनुशासन था, जैसे अनुशासन की मांग महेन्द्र राजा जैन जी कर रहे हैं। अगर बहुत गहरायी से विचार किया जाये, तो इन छंदशास्त्रीय नियमों का आधार लेकर ही ब्राह्मणों, शिक्षित सवर्णों और धनाढ्य एवं शिक्षित अन्य मतावलम्बियों ने काव्य पर एकाधिकार जमाये रखा। छंद का ज्ञान, शिक्षा और अभ्यास का मसला था। साहित्य के इतिहास में कुछ विशिष्ट प्रतिभाओं ने इसे गलत भी साबित किया है, परंतु ऐसी प्रतिभाएं अपवाद हैं और अल्प हैं। इनके आधार पर साहित्य के इतिहास में किसी सामान्यीकरण तक नहीं पहुंचा जा सकता। सामान्यीकरण साहित्य की प्रवृत्ति को पहचानने के लिए आवश्यक होता है। साहित्य का मुझ जैसा सामान्य विद्यार्थी भी जानता है कि कविता के छंदों से मुक्ति और कविता में गद्य का प्रसार बढ़ने के बाद ही काव्य की सीमाओं का विस्तार हुआ। कवियों की संख्या में वृद्धि हुई। अन्यथा कविता पर सवर्ण ब्राह्मणवादी और सम्पन्न वर्गों का वर्चस्व शताब्दियों तक कायम रहा है।

वास्तव में विराम चिह्न साहित्य की मुख्य अंतर्वस्तु नहीं है। यह साहित्यकार की मुख्य संवेदना का भी अंग नहीं होता। साहित्यकार अपनी संवेदना, कथ्य और शिल्प के माध्यम से, अभिव्यक्ति के माध्यम तक पहुंचता है। ‘बाघ’ में केदारनाथ सिंह की कुछ पंक्तियां द्रष्टव्य हैं

कि इस समय मेरी जिह्वा पर
जो एक विराट झूठ है
वही है- वही है मेरी सदी का
सबसे बड़ा सच!

इन चार पंक्तियों में दो तथ्यों की ओर ध्यान जाता है। पहला कविता में गद्य का दबाव और दूसरा विराम चिह्नों द्वारा अर्थ को विस्तृत करना। इन चार पंक्तियों को एक पंक्ति में गद्य की तरह लिखा जाये तो किसी बदलाव की जरूरत नहीं। वह पूरा वाक्य होगा ‘इस समय मेरी जिह्वा पर, जो एक विराट झूठ है, वही है वही है मेरी सदी का सबसे बड़ा सच।’ एक पूरा स्टेटमेण्ट है। यह स्टेटमेण्ट कविता कैसे बनता है, यह अलग प्रश्न है। परंतु गद्य में जब कविता लिखी जायेगी तो विराम चिह्न आयेंगे। कवि ने दो विराम चिह्नों का इस्तेमाल किया है हाइफन और विस्मयादिबोधक तथा जहां अल्प विराम होने थे वहां से कविता की पंक्तियां बदल दी हैं। मैंने यहां विराम चिह्नों के साथ तीन बदलाव किये हैं। अल्प विराम और विस्मयादिबोधक चिह्न के स्थान पर पूर्णविराम। पूर्णविराम का इस्तेमाल करते ही यह मात्र एक स्टेटमेण्ट होकर रह जायेगा। विस्मयादिबोधक चिह्न इसको मात्र स्टेटमेण्ट नहीं रहने देता। स्टेटमेण्ट में व्यक्ति निरपेक्ष रह सकता है। पर विराट झूठ के सदी का सबसे बड़ा सच होने पर ज्यों ही कवि विस्मय प्रकट करता है, तो कवि भी एक पक्ष बन जाता है। वह पक्ष झूठ और फरेब का नहीं है। चाहे वह हमारे युग का जितना भी बड़ा सच क्यों न हो। वह झूठ और फरेब के पक्ष में होता तो स्थितियों पर विस्मय प्रकट नहीं करता। परंतु उसका विस्मय शब्दों से प्रकट

नहीं होता। वह मात्र एक विराम चिह्न द्वारा संकेतित होता है। एक विराम चिह्न अर्थ और प्रसंग में इतने अंतर कर सकता है, फिर भी पाठक अधिकांशतः इन विराम चिह्नों पर तवज्जो नहीं देते। इस कारण कई बार हमसे अर्थ की परतें छूट या फिसल जाती हैं।

विराम चिह्नों के द्वारा व्यक्ति अथवा कभी कभी युग की भी, मनोस्थिति, स्थिति, व्यवहार, संस्कार का बोध अथवा उसका स्पष्टीकरण होता है। कविता के इतिहास को सामान्यतः विभाजित कलानुक्रम के अनुसार पढ़ें तो प्रवृत्ति के अनुरूप विराम चिह्नों में आये बदलावों को देखा जा सकता है। भारतेन्दु युग कविता के क्षेत्र में प्राचीन काव्यशास्त्रीय मान्यताओं के अनुरूप ही रचना कर रहा था। गद्य और पद्य की भाषा भी एक नहीं थी। यह संक्रमण का काल था, तो विचार, भाषा, शिल्प, जीवन, शासन क्षेत्र सभी में बदलाव और संक्रमण देखे जा सकते हैं। वैसे भी भारतेन्दु और उनका मंडल कविता के क्षेत्र में अनेक किस्म के प्रयोग कर रहा था। वे भक्ति के पद रच रहे थे, शृंगार के पद रच रहे थे, लावनी, मुकरियां, समस्यापूर्तियां लिख रहे थे। इन्होंने अधिकतर ब्रजभाषा में लिखा है, पर बाद में खड़ी बोली का प्रयोग करने लगे थे। भारतेन्दु की कविता के दो तीन उद्धरण इन संक्रमणों को समझने की दृष्टि से महत्वपूर्ण होंगे

*छूट्यौ कस खुलौ है अंचल पीक छाप पहिचानी सी।
टूटी मालहार अरु पढ़ंची कुसुम माल कुम्हिलानी सी।।*

*काले गोरे का एक रंग बस सूझे।
दुश्मन को दोस्त को एक नजर से देखे।
मैखाना मसजिद मंदिर एकी समझे।
दो की गिनती भूले न जवां पर लावे।
अपने को खोये तब अपने को पावे।*

*अंग्रेज राज सुख साज सजे सब भारी।
पै धन बिदेस चलि जात इहै अति ख्वारी।*

अगर पूरा भारतेन्दु अथवा भारतेन्दु युगीन साहित्य न भी देखा जाये, केवल भारतेन्दु की इन पंक्तियों को भी ध्यान से देखा जाये तो कई बातें द्रष्टव्य होती हैं। जहां खड़ीबोली है वहां भी ब्रज का संस्कार लुप्त नहीं हुआ है। दूसरे जहां विचार हावी हो रहे हैं, वहीं खड़ीबोली का बढ़ता प्रभाव भी दिखायी देता है। जहां विचार की अधिकता जितनी ज्यादा होगी, गद्य के विकास की सम्भावना भी उतनी ही तीव्र होगी। परंतु भारतेन्दु युग के कवियों ने शिल्प और रूप रचना में पुरानी छंद शास्त्रीयता को पकड़े रखा और उसी के अनुरूप मात्रिक वार्णिक छंदों में विराम चिह्नों का प्रयोग किया। इसीलिए भारतेन्दुयुगीन कविता में आगे आने वाले युगों की तुलना में विराम चिह्नों का प्रयोग कम ही हुआ है।

आगे जब द्विवेदी युग आता है, तो वहां विराम चिह्नों का प्रयोग गुप्तजी जैसे कवियों में बढ़ जाता है। 'जयद्रथ वध' (1910) की कुछ पंक्तियां द्रष्टव्य हैं

*कहने लगी तब वह स्वपति के अति निकट आकर वहां
“मैं यह नहीं कहती कि रिपु से जीवितेश लड़े नहीं,
तेजस्वियों की आयु भी देखी भला जाती कहीं?
मैं जानती हूं नाथ! यह मैं मानती भी हूं तथा*

उपकरण से क्या शक्ति में हा सिद्धि रहती सर्वथा ।।”

यहां डैश, उद्धरण चिह्न, योजक चिह्न, विस्मयादिबोधक चिह्न, प्रश्नवाचक चिह्न, अल्पविराम आदि अनेक विराम चिह्नों का प्रयोग द्रष्टव्य है। जैसे जैसे काव्य और गद्य भाषा का विकास होता जाता है, विराम चिह्नों का प्रयोग बढ़ता जाता है। ‘पंचवटी’ (1925) में यह द्रष्टव्य है

सीता बोलीं कि “ये पिता की
आज्ञा से सब छोड़ चले,
पर देवर, तुम त्यागी बनकर
क्यों घर से मुंह मोड़ चले?”
उत्तर मिला कि “आर्य्ये, बरबस
बना न दो मुझको त्यागी,
आर्य्य चरण सेवा में समझो
मुझको भी अपना भागी ।।”

पूरे द्विवेदी युग में कविता में गद्य का दबाव काफी बढ़ा। इसकी कुछ स्पष्ट वजहें थीं। एक कविता में विचार का प्रभाव बढ़ा। आजादी के संघर्ष में बढ़ोतरी के साथ कविता में ऐसे विषयों का चयन होने लगा, जो उस संघर्ष को भावात्मक रूप से पुष्ट कर सकें। ‘भारत भारती’ में तो यह स्पष्ट था ही, ‘प्रियप्रवास’ (1914) जैसे महाकाव्यों में राधा और कृष्ण के चरित्र को जिस तरह नवीन वैचारिकी के आधार पर बदला जा रहा था, वह भी कविता में विचार के बढ़ते प्रभाव को ही प्रदर्शित करता है। दूसरे, कविता में यह खड़ी बोली की व्यापक स्वीकृति का आरम्भिक युग था। अतः भाषा अभिधामूलक हो गयी। मेरे विचार से भाषा का अमिधात्मक रूप गद्य के ज्यादा निकट होता है। खड़ी बोली के साथ भाषा की स्थिरता और मानकीकरण पर इस युग के विचारकों ने श्री महावीर प्रसाद द्विवेदी के निर्देशन में काफी कार्य किया। इस स्थिरता और मानकीकरण के लिए अनुशासन की आवश्यकता होती है। अब इसी तथ्य को एक दूसरे कोण से देखने की आवश्यकता है। पूरे द्विवेदी युग की अनुशासनवादी धारा ने सबसे अधिक पूर्णविराम चिह्नों का इस्तेमाल क्यों किया? ऐसा नहीं है कि इन कवियों ने अन्य चिह्नों का प्रयोग किया ही नहीं है? ‘प्रियप्रवास’ में सभ्यता की समीक्षा का एक नया द्वार हरिऔध जी ने खोला, प्रश्न भी किये पुराने संदर्भों पर, परंतु पूरी पुस्तक लगभग पूर्णविराम में रचित है। क्यों? व्याकरण सिखाता है कि वाक्य के अंत में पूर्णविराम होता है, छंदशास्त्र बताता है कि प्रत्येक पंक्ति के अंत में खड़ी पायी आती है। परंतु क्या इस ज्ञान से उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर पाया जा सकता है। निश्चित रूप से नहीं। वास्तव में ऊपर द्विवेदी युग की जितनी प्रवृत्तियां बतायी हैं, उन सब का सीधा सम्बंध इस पूर्णविराम से है। उपर्युक्त प्रवृत्तियों को यह विराम चिह्न और स्पष्ट करता है। अभिधा, अनुशासन, भाषा का मानकीकरण आदि पर अत्यधिक बल देने के कारण ही इस युग की कविता में पूर्णविराम का अन्य विराम चिह्नों की तुलना में ज्यादा इस्तेमाल हुआ है।

जब हम छायावादी कविता का अध्ययन करते हैं, तब स्थितियां बदली हुई दिखती हैं। छायावादी कविता में सबसे ज्यादा पूर्णविराम ही हैं, परंतु अर्थ संदर्भण और अर्थोत्पादन की क्षमता विस्मयादि बोधक चिह्नों में है। ‘पल्लव’ (1926), परिमल (1929), अनामिका (दूसरा 1938) आदि संग्रहों को ध्यान से देखने पर द्विवेदी युगीन कविता से विराम चिह्नों में आये इस परिवर्तन को देखा जा सकता है। निराला की ‘ज्येष्ठ’ कविता का एक उद्धरण द्रष्टव्य है

ज्येष्ठ! क्रूरता कर्कशता के ज्येष्ठ! सृष्टि के आदि!

वर्ष के उज्ज्वल प्रथम प्रकाश।
 अंत! सृष्टि के जीवन के हे अंत! विश्व के व्याधि!
 चराचर के हे निर्दय त्रास!
 सृष्टि-भर के व्याकुल आह्वान! अचल विश्वास!
 सृष्टि-भर के शक्ति अवसान! दीर्घ निश्वास!
 देते हैं हम तुम्हें प्रेम-आमंत्रण,
 आओ जीवन-शमन, बंधु, जीवन-धन!

‘पल्लव’ में तो पूर्णविराम से भी ज्यादा विस्मयादिबोधक चिह्नों का प्रयोग हुआ है। भारतीय साहित्य में विस्मयादिबोधक चिह्नों का प्रयोग सम्बोधनार्थ होता आया। शब्द रूप के आठवें कारक चिह्न में विस्मयादिबोधक चिह्न का इस्तेमाल होता रहा है, परंतु छायावादियों का विस्मयादिबोधक चिह्न केवल सम्बोधन नहीं है। निराला की उपर्युक्त पंक्तियों में ‘ज्येष्ठ’ को सम्बोधन है। परंतु यह सम्बोधन सामंती युग का सम्बोधन नहीं है। कवि आमंत्रित करता है ‘देते हैं हम तुम्हें प्रेम-आमंत्रण/आओ जीवन-शमन, बंधु, जीवन-धन!’ यह आमंत्रण है प्रेम और बंधुत्व का अर्थात् जीवन और प्रकृति के नये रागात्मक सम्बंधों की खोज, नये जीवन दर्शनों के माध्यम से हो रही थी। इसमें नये ज्ञान विज्ञान की भूमिका भी है। इस नये ज्ञान विज्ञान के कारण छायावादी कवि सम्बंधों को, व्यक्तित्व को, सामाजिक संरचनाओं को विस्मय की दृष्टि से देखता है, पुराने सामंती मूल्यों को प्रश्नांकित करता है। तरुणावस्था में प्रेम और यौवन का आकर्षण एक सहज तथ्य है। शायद दुनिया की सबसे सामान्य भाव दशा है, परंतु तरुणों में भी इन कवियों के लिए प्रकृति और संसार का आकर्षण प्रेम और स्त्री से अधिक है

छोड़ दुमों की मृदु छाया,
 तोड़ प्रकृति से भी माया,
 बाले ! तेरे बाल जाल में कैसे उलझा दूँ लोचन?
 भूल अभी से इस जग को!

अगर ये जीवन के सामान्य व्यवहारों से खुद के लिए अलग मार्ग चुनते हैं तो इसके पीछे विशिष्ट वैचारिकी और दर्शन कार्य कर रहा होगा। जब निराला ‘राम की शक्ति पूजा’ में कहते हैं ‘अन्याय जिधर, है उधर शक्ति!’ अथवा ‘आया न समझ में यह दैवी विधान;/रावण, अधर्मरत भी, अपना, मैं हुआ अपर’ यहां दो बातें बिल्कुल स्पष्ट हैं। एक तो यह हमारे उस परम्परागत मध्ययुगीन मानस से बिल्कुल पृथक है, जिसमें ईश्वर सदैव धर्म के पक्ष में होता है। यह नया बोध अंग्रेजों की, भारतीय सामंतों की आतातायी शक्तियों और नीतियों के समानांतर नये ज्ञान के प्रसार का परिणाम है। यह नया ज्ञान अंग्रेजों के आने मात्र का परिणाम नहीं था। अंग्रेजों के साथ जो अंग्रेजी आयी वह तो भारतीय को क्लर्क भर बनाना चाहती थी। परंतु भारतीय बुद्धिजीवियों ने इस भाषा के ज्ञान के बाद विश्व का वो साहित्य पढ़ा, जो नये ज्ञान से ओतप्रोत था। वह साहित्य आजादी (चाहे वह राजनीतिक हो, मानसिक हो, सामाजिक रूढ़ियों से हो या भाषा के परम्परागत संस्कारों से हो) की अनेक स्तरीय अभिव्यक्ति से ओतप्रोत था। इस साहित्य के अध्ययन के साथ देशी दार्शनिकों ने पुराने ज्ञान का आधुनिक जीवनमूल्यों के अनुरूप पुनराविष्कार किया। निराला, रामकृष्ण परमहंस और विवेकानंद से प्रभावित थे, तो पंत स्वामी अरविन्द से; प्रसाद जी की दार्शनिक चेतना शैव मत के अनुरूप थी और प्रखर भी थी। ज्ञान के इन नये संदर्भों के साथ छायावादी कवि दुनिया को विस्मय से देख रहा था। समाज के अनेक संदर्भों को प्रश्नांकित कर रहा था। नये ज्ञान का ही प्रभाव था कि अन्याय के पक्ष में खड़ी शक्ति दिखायी देती है। अगर इस पंक्ति में विस्मयादिबोधक चिह्न के स्थान पर पूर्णविराम

चिह्न हो, तो यह एक कथन में तब्दील हो जायेगा। यह तटस्थता का, मूर्खता का किसी का भी पर्याय हो, परंतु व्यक्ति और युग की संवेदना को ध्वनित नहीं कर सकता। बदली हुई जीवन दृष्टि के कारण, नये और पुराने ज्ञान स्रोतों के आविष्कार पुनराविष्कार के कारण, जो बड़ा मानसिक, सांस्कृतिक और सभ्यताई शिष्ट आ रहा था, उसकी अभिव्यक्ति एक कथन के रूप में नहीं हो सकती है। इस विराम का चिह्न के कारण यह संदर्भ कथन की सीमा की अतिक्रमण करता है।

दूसरा संदर्भ यह है कि यहां विराम चिह्नों का प्रयोग बढ़ा है, तो गद्य की ताकत भी बढ़ी है। 'अन्याय जिधर, है उधर शक्ति!' या 'आया न समझ में यह दैवी विधान; रावण, अधर्मरत भी, अपना, मैं हुआ अपर' इन दोनों उद्धरणों में छंद की सत्ता विद्यमान है, परंतु गद्य की ताकत स्पष्टतः महसूस की जा सकती है। साथ ही अल्प विरामों का इस्तेमाल भी कविता के गद्यात्मकता को ही दिखा रहा है।

आगे जब नयी कविता का दौर आता है, तब कविता शुद्ध गद्य में बदल जाती है। कविता 'मुक्तछंद' की न रहकर 'छंदमुक्त' हो गयी। अब लय की सर्जना छंदों के माध्यम से अथवा तुकों के माध्यम से नहीं हो रही थी। कविता में स्थितियों की टकराहट से, जीवन की तीव्र गतिशीलता के प्रतिबिम्बन से कवि रचनात्मक उर्जा निर्मित करता है और वही कविता में लय का निर्माण करती है। अज्ञेय, मुक्तिबोध, रघुवीर सहाय, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, शमशेर बहादुर सिंह, श्रीकांत वर्मा, अजित कुमार, राजकमल चौधरी, धूमिल, लीलाधर जगूड़ी, केदारनाथ सिंह, कुंवर नारायण, विनोद कुमार शुक्ल, राजेश जोशी, अरूण कमल, उदयप्रकाश, बद्रीनारायण, मंगलेश डबराल, अनामिका, सविता सिंह आदि तमाम कवियों की कविता में गद्यात्मकता और लय के निर्माण की इस प्रक्रिया को देखा जा सकता है। मुक्तिबोध तो विराम चिह्नों का और भी व्यंजक इस्तेमाल करते हैं। 'ओ काव्यात्मन कविधर!' शीर्षक कविता में मुक्तिबोध लिखते हैं

अरे रे! कौन अभागा वह,
जिसने यों आत्मोत्पन्न सत्य त्यागा?
किस मौन विवशता के कारण?
किसके भय से?
पर, भय किसका?
कौन सी क्रांति करने वाला था यह बालक!!

xxx

प्रसफूर्त अश्रुमय नाचो, कविताओं के पल!!

अब व्याकरण के नियम के अनुसार दो विस्मयादिबोधक चिह्न की आवश्यकता नहीं है। सम्भवतः व्याकरण की दृष्टि से त्रुटि भी हो, परंतु मुक्तिबोध ऐसा करते हैं और खूब करते हैं। एक की जगह दो विस्मयादिबोधक चिह्न अथवा अन्य चिह्नों का मात्रा की दृष्टि से अधिक इस्तेमाल के माध्यम से मुक्तिबोध जिन विकराल स्थितियों को निर्मित करना चाहते हैं अथवा जिन भावों को निर्मित करना चाहते हैं, उसके प्रभावान्विति को बढ़ा देते हैं। दूसरा काम जो निराला, मुक्तिबोध तथा अन्य अधिकांश आधुनिक कवि इन विराम चिह्नों से करते हैं, वह है कविता में लय की आंतरिक गति को नियंत्रित करने का और बलाघात के बिन्दुओं को स्पष्ट करने का। मैंने पहले ही कहा है कि कविता का गद्यात्मक होना, आधुनिक कविता की आत्यंतिक विशेषता है। गद्य माध्यम है, परंतु कविता की आंतरिक लय के कारण ही कहानी, उपन्यास, संस्मरण, आत्मकथा आदि अन्य गद्यात्मक साहित्य रूपों से पृथक है। अभी तक लयहीन कविता नहीं लिखी गयी है। मुक्तिबोध की ये पंक्तियां द्रष्टव्य हैं

परंतु, दिन में
बैठती हैं मिल कर करती हुई षड्यंत्र
विभिन्न दफ्तरों कार्यालयों, केन्द्रों में, घरों में
हाय, हाय। मैंने उन्हें देख लिया नंगा,
इसकी मुझे और सजा मिलेगी।

इसकी लय स्थितियों के दबाव का नतीजा है और विराम चिह्न बलाघात के बिन्दुओं का निर्माण करते हैं। इन पांच पंक्तियों में दो संदर्भ हैं। एक षड्यंत्रकारी शक्तियों के सम्मेलन स्थल और षड्यंत्रकारी प्रवृत्ति और दूसरा उन्हें देखना, पहचानना तथा यह निश्चयात्मक बोध कि इसकी सजा मिलेगी। तो दो पूर्णविराम हैं। पूर्णविराम भाव पूर्णता का प्रतीक है। जहां कविता समाप्त होती है या बंध बदलता है वहां भी कवि अक्सर विराम चिह्नों का इस्तेमाल करते हैं। मुक्तिबोध ने दोनों संदर्भों में यहां पूर्णविराम का इस्तेमाल किया है परंतु अर्थ संदर्भण की क्षमता पहले संदर्भ में है।

कविता के इतिहास को गौर से देखें तो मुक्तिबोध के बाद की कविता में विराम चिह्नों का इस्तेमाल क्रमशः कम होता गया है। 'मुक्तिप्रसंग' जैसी लम्बी कविता में भी राजकमल चौधरी ने किसी विराम चिह्न का प्रयोग नहीं किया है। क्यों? मेरी समझ में इस कविता में जिस आवेग और झनझनाहट के साथ राजकमल चौधरी ने स्वात्रंयुत्तर भारत की जितनी प्रकार की समस्याओं को एड्रेस करने की कोशिश की है, उस आवेग और विषयाधिक्य ने सम्भवतः विराम चिह्नों के लिए स्थान छोड़ा ही नहीं। यह स्वाभाविक रूप से हम जानते हैं कि व्यक्ति जब अत्यधिक क्रोध में होता है, तो वह भाषा पर ही सबसे पहले अपना अधिकार खोता है। परंतु काव्य में इसे एक शिल्प प्रविधि के रूप में अपनाना विशिष्ट प्रतिभा है। राजकमल चौधरी ने इस पूरी लम्बी कविता में खीझ भरी मानसिक अभिव्यक्ति को बनाये रखा है। तर्क विगलित व्यक्ति की शैली का पूरी कविता में निर्वाह, एक कठिन कार्य है। क्रोधपूर्ण बातचीत जैसी छूट कविता में नहीं होती। फिर भी इस शैली का उन्होंने पूरी कविता में निर्वाह किया है। मैंने राजकमल चौधरी के 'मुक्तिप्रसंग' पर लिखे अपने लेख में दिखाया है कि यह कविता 'प्रतिक्रियात्मक रोमांटिक' व्यवहार का उदाहरण है। इस शैली और प्रतिक्रिया के आधिक्य के कारण इस कविता में विराम चिह्न नहीं हैं। अन्यथा ऐसा नहीं है कि राजकमल चौधरी कविता में विराम चिह्नों का प्रयोग नहीं करते।

मुक्तिबोध के बाद की कविता पीढ़ियों को ध्यान से देखने पर एक बात और भी स्पष्ट रूप से दिखायी पड़ती है। गद्य में विराम चिह्नों की मात्रा बढ़ जाती है। कविता जब गद्य माध्यम में लिखी जा रही है, तब वहां भी विराम चिह्नों का दबाव बढ़ जाना चाहिए। परंतु सीधे सीधे यह बात दिखायी नहीं देती। अब कवि जहां अल्पविराम, अर्द्धविराम की आवश्यकता होती है वह वहां पंक्ति परिवर्तित कर देता है। ऊपर आये केदार जी वाली कविता के संदर्भ में यह बात देखी जा सकती है। अरुण कमल और राजेश जोशी की कविताओं के क्रमशः उदाहरण द्रष्टव्य हैं

माथे पर जल भरा गगरा लिए
ठमक गयी अचानक वह युवती

मुश्किल से गर्दन जरा सा घुमायी
दायां तलवा पीछे उठाया
और सखी ने झुक कर
खींचा रैगनी कांट

और चल दीं फिर दोनों सखियां
माथे पर जल लिए। (सखी, अरुण कमल)

चीजों के बारे में अक्सर यह तर्क दिया जाता है
कि वे आदमी के द्वारा बनायी जाती हैं आदमी के लिए
जबकि बहुत सी ऐसी चीजें भी हैं जो आदमी को मारने के काम आती हैं लगातार
(वस्तुओं के बारे में एक कथन, राजेश जोशी)

कविता में विराम चिह्नों का प्रयोग अतिरिक्त ध्यानाकर्षित करते हैं क्योंकि लय, छंद की परम्परागत अवधारणा के कारण उसे पद्य के निकट समझा जाता है। परंतु कहानी, उपन्यास, संस्मरण, रेखाचित्र, जीवनी, आत्मकथा आदि तमाम विधाएं गद्य की प्रकृति, स्वभाव के अधिक नजदीक हैं। यहां न छंदों अथवा आंतरिक लय की समस्या है और न ही अभिव्यक्ति की कलात्मकता का प्रश्न उतने जटिल रूप में आता है। इन विधाओं में भाषा के सामान्य प्रवाह का निर्वाह आसानी से हो जाता है। इसीलिए गद्य में प्रयुक्त होने वाले विराम चिह्नों की प्रकृति पद्य अथवा/और कविता में होने वाले प्रयोग से जरूर अलग है। कहानी, उपन्यास आदि उपर्युक्त विधाओं का अर्थ पाठ की व्यंजना पर उतना आधारित नहीं होता, जितना सामाजिक राजनैतिक सांस्कृतिक आर्थिक संदर्भों पर। वास्तव में समाज के विभिन्न संस्थान सामाजिक व्यक्तियों की वैचारिक सरणियां, उसकी यूटोपियन आकांक्षाएं, यथार्थ के प्रति उनकी समझ, विचार और विचारधारा, प्रतिरोधात्मक क्षमता और मनुष्य मात्र के प्रति दृष्टिकोण आदि ही कहानी, उपन्यास आदि विधाओं को अर्थवान, सारवान बनाते हैं। कोई चुभती हुई बात, दिल को छू जाने वाला संदर्भ भी अच्छी कविता का निर्माण कर सकता है।

कवितेतर विधाओं में विराम चिह्नों का सबसे सामान्य प्रयोग भाषा के प्रवाह के अनुकूल होता है। यह गद्य मात्र की ही सामान्य विशेषता है। दूसरे बलाघात के सटीक बिन्दुओं के संदर्भ में भी इसका प्रयोग होता है। एक वाक्य अथवा वाक्यांश में आये शब्दों में बलाघात के बिन्दु बदल जाने से बहुधा अर्थ बदल जाया करता है। जैसे अल्पना मिश्र के पिछले दिनों प्रकाशित उपन्यास 'अन्हियारे तलछल में चमका' शीर्षक में इसे देखा जा सकता है। 'अन्हियारे, तलछल में चमका' से 'अन्हियारे तलछल में, चमका' का अर्थ भिन्न है। अन्हियारे तलछल में जब कोई चीज चमकती है तो उसकी प्रभावान्विति अन्हियारे के स्वयंपि तलछल में चमक जाने से पृथक है। अंधेरे के तलछल में चमकने में स्थितियों की सांद्रता है। अंधकार इतना सघन हो जाये, सांद्र हो जाये कि किन्हीं अर्थों में विशेष संदर्भ के साथ उद्भासित हो जाये। परंतु ऐसे अंधकार की पहचान में व्यक्ति की प्रतिभा की भूमिका ज्यादा होती है क्योंकि ऐसे सघन अंधकार में व्यक्ति, समूह अथवा समाज अधिकांशतः सो जाता है। जब व्यक्ति सो ही गया तो पहचान का संकट ही खत्म हो गया। दूसरे संदर्भ में जब अंधेरे तलछल में कोई चीज चमकती है तो यहां दो तीन स्थितियां स्वयं उभर आती हैं। पहली सम्भावना यह है कि जो चीज चमक रही है, उसमें प्रकाशित होने की सम्भावना। ऐसी स्थिति में वह परिवेश को भी भासमान करती है। दूसरे उस अंधकार में चीजों के चमकने की भावक कल्पना करे। यह व्यक्ति की कल्पनाशीलता पर निर्भर करता है।

ऊपर मैंने कवितेतर विधाओं की अर्थवत्ता के अनेक संदर्भ बताये हैं। यह साहित्य में कैसे संचरित होता है, यह देखना भी अत्यधिक महत्वपूर्ण होगा। आधुनिककाल के प्रारम्भिक चरण से जिस ज्ञान विज्ञान का प्रसार हुआ, उससे नवीन भारतीय मानस का विकास हुआ। इसी समय से स्त्रियों

की शिक्षा, सशक्तीकरण आदि पर विचार प्रारम्भ हो जाता है। आज सुमित्रा कुमारी सिन्हा की इला ('व्यक्तित्व की भूख' की नायिका) पारम्परिक अशिक्षित नारी होती तो उसके मन में ये प्रश्न उठ सकते थे "शिक्षिता इला को सांत्वना क्यों नहीं? संतोष क्यों नहीं? एक अभाव की टीस क्यों? अपने सामने वह केवल अनाकर्षक जीवन ही क्यों देखती? आशा निराशा के अंतर के भाव क्यों झंकार उठते? वह क्यों अनुभव करती की दुनिया इतने दुख की जगह नहीं है जितना मनुष्य सोचता है?" तथा यह प्रश्न भी द्रष्टव्य है "पति के सद्व्यवहारों में डूब कर भी उसके हृदय के अंतर में प्रेम के लहर की सृष्टि क्यों न होती? पति के विरुद्ध कोई शिकायत न होते हुए, मानव शरीर में उनको देवता मानते हुए भी उसकी समस्त मनोवृत्तियाँ क्यों नहीं उनकी ओर एकाग्र होतीं? जैसे बीच में एक अगाध जलनिधि है! उनका सहयोग उसे पूर्णत्व क्यों नहीं दे सका? xxx एकाकी पथ पर चलने की उसकी धारणा क्यों? क्या उसके पास ही केवल यह अभाव है?"

इन दोनों उद्धरणों में आये प्रश्नवाचक चिह्न और इसकी प्रश्नाकुलता ही सबसे पहले हमारा ध्यान आकृष्ट करती है। पहले की जो महिलाएं गतानुगतिकता और अशिक्षा की पृष्ठभूमि में अपना जीवन जीए चली जा रही थीं, क्या उनमें भी इतनी प्रश्नाकुलता सम्भव थी? और अगर किसी भाँति उनमें प्रश्नाकुलता जन्म ले लेती तो क्या वे वैसा ही शांत और निर्द्वंद्व जीवन जी सकती थीं जैसे वे शताब्दियों से जीए चली जा रही हैं? ये प्रश्न महत्वपूर्ण हैं पर उससे ज्यादा महत्वपूर्ण यह है कि ये प्रश्न किसके संदर्भ में हैं। साफ और स्पष्ट है कि ये प्रश्नवाचक चिह्न नयी व्यवस्था, स्त्री शिक्षा के संदर्भ में हैं और बदली हुई मानसिकता को प्रतीति करती हैं।

काशीनाथ सिंह ने गद्य के पुराने नमूनों की तुलना में विराम चिह्नों का नया इस्तेमाल प्रस्तुत किया है। काशीनाथ सिंह के 'काशी का अस्सी' का एक उद्धरण द्रष्टव्य है "आर्तनाद कर उठे शास्त्रीजी! धिधियाते हुए बोले 'प्रभु, डर इसलिए लग रहा है कि वह महिला एक अंगरेजिन है।'"

रे मतिमंद! तूने वेद पढ़ा है! पुराण पढ़ा है! शास्त्र पढ़ा है! सब पढ़ा है फिर भी मूर्ख का मूर्ख ही रह गया! मैंने प्राणियों की सृष्टि की है, हिन्दुओं, इसाइयों, मुसलमानों की नहीं। ये तूने बनाये होंगे। जा, समझा मुहल्ले को। अब उठ और ले चल!

'आपका आदेश मेरे सिर माथे!' शास्त्री जी ने माथा टेक दिया 'लेकिन प्रभु! मुझे समय दें दो चार दिन का!'

'एवमस्तु!' शिवजी ने कहा और अंतर्धान हो गये!

अब उसके समानांतर पुराने गद्य का नमूना द्रष्टव्य है "कैसा है सचचित आनंद रूप सो कहते हैं। जिसते इह सर्व भासते हैं। अरु जिस विषै इह सर्व लीन होते हैं अरु जिस विषै इस सर्व इस्थित है। तिस सत आत्मा को नमस्कार है। जो क्षीरा समुद्र ते निकस्या है। चंद्रमा के मंडल विषे रहता है। अैसा जौ स्वतः सिद्ध अमृत है जिसको पाइ करी कदाचित् मृत न होते। तिस चेतन के अमृत की हम उपासना करते हैं।" (हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास, खंड 7, पृ. 560)

सदल मिश्र के 'नासिकेतोपाख्यान' का यह उद्धरण भी द्रष्टव्य है "इस प्रकार से नासिकेत मुनि यम की पुरी सहित नरक का वर्णन कर फिर जौन जौन कर्म किये से जो भोग होता है सो सब ऋषियों को सुनाने लगे कि गौ, ब्राह्मण, मातापिता, मित्र, बालक, स्त्री, स्वामी, वृद्ध गुरु इनका जो वध करते हैं सो झूठी साक्षी भरते, झूठ ही कर्म में दिन रात लगे रहते हैं, अपनी भार्या को त्याग दूसरे की स्त्री को व्याहते औरों की पीड़ा देख प्रसन्न होते हैं और जो अपने धर्म से हीन पाप ही में गड़े रहते हैं वो माता पिता की हित की बातको नहीं सुनते, सब से बैर करते हैं, ऐसे जो पापी जन हैं सो महा डेराने दक्षिण द्वारसे जा नरकों में पड़ते हैं।" (हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, पृ. 228)

इन नमूनों की तुलना से हम पुराने गद्य की तुलना में गद्य की प्रकृति में आये परिवर्तन तो देखते ही हैं, साथ ही विराम चिह्नों के प्रयोग में आयी विविधता को भी देखते हैं। आधुनिक युग के पूर्व अन्य विराम चिह्न थे या नहीं, यह विवाद का प्रश्न है और इस पर अनुसंधान की आवश्यकता भी है। कुछ नमूनों के माध्यम से ऐसा प्रतीत होता है कि पूर्णविराम के अतिरिक्त भी विराम चिह्न थे। इसे ऊपर मैंने स्पष्ट करने की कोशिश भी की है। इसके बावजूद इतना तो स्पष्ट ज्ञात हो ही जाता है कि उनका प्रयोग अत्यंत कम होता था। विस्मयादिबोधक चिह्न मात्र सम्बोधन के लिए प्रयुक्त होते थे। इसके संदर्भ में मैंने ऊपर बात की है। परंतु काशीनाथ जी के उपर्युक्त उद्धरण में वह मात्र सम्बोधन का नतीजा नहीं है। उपर्युक्त उद्धरण के सारे विस्मयादिबोधक चिह्नों को पूर्णविराम से रिप्लेस कर दिया जाये, इच्छित अर्थ की प्राप्ति नहीं होती। ये विस्मयादिबोधक चिह्न वास्तव में शास्त्री जी के काइयांपन, अवसरवादिता, संस्कृति के मूल तथ्यों को तोड़मरोड़ कर अपने स्वार्थ, लोलुपता और कामनाओं की पूर्ति का मार्ग बनाने की प्रवृत्तियों को अधिक चमक के साथ प्रस्तुत करता है। साथ ही ये विस्मयादिबोधक चिह्न काशी की क्षेत्रीय विशेषताओं का अनुगमन करते हैं। काशी की संस्कृति में उपहास, व्यंग्य, विनोद, अपसंस्कृति सब घुलमिल गये हैं। जब रचनाकार एक स्थान को अथवा पात्र को, उसकी सम्पूर्ण विशेषताओं के साथ उठाता है, तो विराम चिह्नों में भाषा की सामान्य प्रकृति से काफी फेरबदल हो जाया करता है। इसकी वजह स्पष्ट ही है। भाषा में संस्कृति का प्रवाह और उसकी अनुगूंजें अंतर्वर्ती धारा के रूप में सदैव विद्यमान रहती है। ऐसे में विराम चिह्न उक्त भाषा की सांस्कृतिक विशेषताओं का प्रतिनिधित्व करने लगते हैं। मान लीजिए किसी क्षेत्र विशेष की भाषा में व्यंग्य, विनोद, उल्लास की प्रमुखता है, तो इस प्रदेश की भाषा और उसमें प्रयुक्त होने वाले विराम चिह्न उन प्रदेशों की भाषा और उनमें प्रयुक्त होने वाले विराम चिह्नों से अलग होंगे जहां आभिजात्य अथवा दार्शनिकता अथवा अन्य गुण प्रमुख हों। ऐसे रचनाकारों में विराम चिह्न क्षेत्रीय भंगिमाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। 'काशी का अस्सी' की ये पंक्तियां देखिए "हर हर महादेव के साथ 'भोसड़ी के' का नारा इसका सार्वजनिक अभिवादन है! चाहे होली का कवि सम्मेलन हो चाहे कर्पूरु खुलने के बाद पी.ए.सी. और एस.एस.पी. की गाड़ी, चाहे कोई मंत्री हो, चाहे गधे को दौड़ाता नंगधड़ंग बच्चा यहां तक कि जॉर्ज बुश या मागरिट थैचर या गोर्बाचोव चाहे जो आ जाये (काशी नरेश को छोड़ कर) सबके लिए 'हर हर महादेव' के साथ 'भोसड़ी के' का जय जयकार।" यह भाषा निर्मल वर्मा, राजेन्द्र यादव, कमलेश्वर, मोहन राकेश, ज्ञानरंजन आदि रचनाकारों की नहीं हो सकती, जिनमें शहरी जीवन और अदब की सार्वभौमिक अपील तो है, क्षेत्रीय या किसी खास शहर की खास सुगंध नहीं। शहरों की भी अपनी विशेषताएं होती हैं, लेकिन निर्मल आदि उपर्युक्त लेखकों तथा अन्य लेखकों में भी शहरों के सार्वभौमिक संदर्भ हैं। इसके विपरीत रेणु, काशीनाथ सिंह, रुद्र (बहती गंगा के संदर्भ में) आदि अनेक रचनाकारों ने अपनी क्षेत्रीयता, प्रांतीयता, आंचलिकता को, उसकी आत्मा के साथ सुरक्षित रखा है या रखने का प्रयास करते हैं। बोलने के लहजे में कहां रुका जाता है और कहां विस्तार करना है प्रांतीय, क्षेत्रीय भाषाओं के संदर्भ में बहुत महत्वपूर्ण है। ऊपर काशीनाथ जी के उद्धरण को इस प्रसंग के बिना क्या समझा जा सकता है? रेणु के साहित्य को क्या इस प्रसंग के बिना पूरी तरह समझा जा सकता है। इस प्रसंग में रेणु की 'तीन बिन्दियां' कहानी की एक पंक्ति यहां द्रष्टव्य है "हुं-हुं-हुं हुं-हू-हूं... जीवन हुआ है एक प्रार्थना गीत की त-र-ह!" इस एक पंक्ति से कुछ भी समझ नहीं आ रहा है। बस बोलने के इन्फेसिस के अनुसार विराम चिह्नों का इस्तेमाल साहित्य में कैसे बदलता है, इसका यह एक नमूना भर है। रेणु का पूरा साहित्य इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। इस समझ के अभाव के कारण कई बार रेणु जैसे तमाम रचनाकारों का साहित्य अपाठ्य और जटिल प्रतीत होता है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है

“गीताली की आंखों से आंसू झर पड़े। कंठ से एक अजानी रागिनी फूट कर निकल पड़ी।...
अलख-मुखर-जगत् में अकराम की पगध्वनि सुन रही है गीताली!...”

रेणु कई बार पूर्णविराम अथवा खड़ी पायी लगा देते हैं, जो प्रसंग चल रहा होता है उसे एक झटके के साथ समाप्त कर देते हैं। यहां इस उद्धरण में देखिए, कंठ से अज्ञानी रागिनी फूट कर निकल पड़ी और पूर्णविराम लगाया। पूर्णविराम के बाद डॉट्स लगाया, जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि इसके बाद काफी कुछ अनकहा है। जहां ये डॉट्स न हो, वहां भी रचनाकार कई बार प्रसंग को एक झटके के साथ छोड़ देता है। इस अनकहे को आगे पीछे के विवरण और सामाजिक संदर्भों की सहायता से भरना पड़ता है। जब ये गैप्स भर जाते हैं, तो अनेक पाठ निर्मित होंगे क्योंकि एक पाठक अपने विवेक, अध्ययन, सामाजिक राजनैतिक, वैयक्तिक पृष्ठभूमि आदि के माध्यम से उसे भरता है।

निष्कर्षतः हम देख सकते हैं कि साहित्य में विराम चिह्न भले ही मुख्य संदर्भ न हो, परंतु उसकी भूमिका अर्थ संकुलता, भावों को स्पष्टता के साथ अभिव्यक्त करने, क्षेत्रीय टोन तेवर को अभिव्यक्त करने आदि की दृष्टि से आवश्यक है। विराम चिह्नों का स्वतंत्र रूप से भले कोई महत्व हो या न हो, परंतु साहित्य विराम चिह्न विहीन भी नहीं हो सकता। जैसे 00001 और 10000 में फर्क सिर्फ शून्य की स्थिति में बदलाव के कारण है, जबकि स्वतंत्र ‘0’ का शायद ही कोई महत्व हो। अंत में राजेश जोशी की ‘सहायक क्रिया’ की ये पंक्तियां

*वह जितनी चुप चुप सी लगती है उतनी ही जिद्दी भी है
वह चाहे तो गड़बड़ा सकती है पूरे वाक्य को
अकेले!!*

बेचैन रूह का मुसाफिर

रवीन्द्र कालिया

वरिष्ठ कथाकार रवीन्द्र कालिया अपने संस्मरण के लिए भी कम प्रसिद्ध नहीं हैं। उनकी अप्रतिम कृति 'गालिब छुटी शराब' का पाठक समुदाय पर अमिट असर है। एक लम्बे अंतराल के बाद उनका ताजा संस्मरण।

कोई उनसे परिचित हो या न हो, उनके बारे में किस्सों से जरूर दो चार हो जाता था। ये किस्से रुई के फाहों की तरह हवा में उड़ते रहते थे। लोग रस लेकर सुनते थे और उनमें थोड़ा और नमक मिर्च लगा कर वातावरण में पुनः छोड़ देते थे। ये आवारा किस्से मुझ तक भी पहुंचे, इससे कहीं पहले जब मेरी उनसे पहली मुलाकात हुई। मिलने पर लगा कि तमाम किस्से किसी मनचले किस्सागो ने फैलाये हैं। ये किस्से उस परिवार से ताल्लुक रखते थे, जो अपने समय में औद्योगिक जगत का सबसे चमकीला सितारा था। अपने समय के शीर्ष धनाढ्य परिवारों में से एक। उन दिनों अम्बानी, अदानी आदि का उदय नहीं हुआ था। परिवार का विभाजन हुआ तो इनके हिस्से सत्रह सौ करोड़ की परिसम्पत्तियां आयीं, जिनमें एशिया या देश की सबसे बड़ी सीमेण्ट फैक्टरी तो थी ही इसके अलावा कागज, जूट आदि के कल कारखाने भी थे, राजस्थान, बिहार और बंगाल तक जिनका विस्तार था। उन्हें मां का इतना लाड़ प्यार मिला कि उनकी बड़ी से बड़ी खता भी नजरअंदाज कर दी जाती। उनकी उदारता, सदाशयता, करुणा, भारतीय दर्शन, साहित्य, संस्कृति और कला के प्रति अनुराग के साथ साथ अहमन्यता और अहंकार को भी लोगबाग भूलते नहीं। कोई नहीं जानता कि ये स्थापनाएं कहां तक दुरुस्त थीं, मगर इतना तय है कि परिवार की साख को पचास साठ वर्ष बाद आज भी महसूस किया जा सकता है। फिलहाल वातावरण में खुश्क पत्तों की तरह उड़ते ऐसे किस्सों को जान लेना गैरजरूरी न होगा।

सुनने में आया कि साठ के दशक में वह बम्बई (अब मुम्बई) की अपने समय की सबसे प्रसिद्ध सिने तारिका के प्रेम में पड़ गये। उनके स्वभाव को देखते हुए कुछ लोग उन्हें चरमपंथी (यानी एक्सट्रीमिस्ट) भी कहते हैं। प्यार हो या नफरत वे तमाम सीमाएं लांघ सकते थे। ऐसे शख्स का किसी अभिनेत्री से प्रेम हो जाये तो इस प्रेमप्रसंग का हश्च क्या होगा? जाहिर है, कुछ ऐसा होगा जो अभी तक न हुआ होगा और न शायद निकट भविष्य में होगा। हिमाचल या कश्मीर की वादियों में जहां कहीं उक्त अभिनेत्री की शूटिंग होती, एक चार्टर्ड विमान पहुंचता और गुलाब की पंखुड़ियां बिखरा कर लौट आता। अपने समय का यह सबसे प्रचंड प्रेमप्रसंग माना जाता है। इसका अंजाम क्या हुआ, कोई नहीं जानता... न नायक ने आत्महत्या की न नायिका ने। दोनों गार्हस्थ्य की शरण में चले गये। उस तारिका का प्रसंग आने पर वह बोले वह तो मेरी बहन की तरह थी। इस पर इन पंक्तियों के लेखक का चुप हो जाना ही उचित था।

उनका क्रोध भी जगजाहिर था। वह आग की लपट की तरह कभी भी तनबदन को राख कर सकता था। क्रोध में वह आपको जला कर राख कर सकते थे। किसी से क्रुद्ध होते तो कहते मैं उसे भस्म कर दूंगा। कई बार लगता था कि वह किसी को क्षमा नहीं कर सकते थे, जबकि हर वर्ष पर्यूषण के अवसर पर नियमित रूप से सार्वजनिक तौर पर मित्र अमित्र सब को एस.एम.एस के जरिए संदेश प्रेषित करते 'पर्यूषण पर्व के पावन अवसर पर जाने अनजाने हुई किसी भी भूल या गलती के लिए मैं क्षमाप्रार्थी हूँ।' होली, दीवाली, वसंत, कहने का अभिप्राय यह है कि वह शुभकामनाएं प्रेषित करना नहीं भूलते थे। अपने कारपोरेट दफ्तर में एक अधिकारी से बात करते हुए उसके कपड़ों पर नजर गयी तो पाया शर्ट के कालर पर मैल की तह जम रही थी, शर्ट का रंग भी बदरंग हो चुका था। अधिकारी उनका प्रिय कर्मचारी था। जी.एम. को बुलवा भेजा और ताकीद की कि 'इन्हें दो तीन सेट नये औपचारिक ड्रेस और जूते दिलवा दें। मैं हर कर्मचारी को स्पिक एंड स्पैन देखना चाहता हूँ।' अगले रोज जब उक्त कर्मचारी धन्यवाद ज्ञापन करने आया तो उसे देख इतना प्रसन्न हो गये कि बतौर उपहार एक साथ तीन इन्क्रीमेण्ट्स दे दिये।

वास्तव में वह क्रुद्ध होते तो अति क्रुद्ध, उदार होते तो अति उदार, इतने उदार कि उनके बारे में कहा बताया जाता था कि जाड़े में वे ट्रक भर कम्बल बंटवा देते थे। भिखारियों पर विगलित हो जाते तो सिक्के न नोट, नोटों की गड्डियां तक बंटवा देते। दूसरी ओर अहंकार का दौरा पड़ता तो विवेक को ताक पर रख देते। जानकार लोग बताते हैं कि इसी अहंकार और अव्यवहारिकता के कारण वह अर्श से फर्श पर आते चले गये। एक घटना का बार बार उल्लेख सुनने को मिलता था अपने उद्योग समूह के केन्द्रीय कार्यालय में बैठे थे, खबर मिली कि उनसे भेंट करने प्रदेश के मुख्यमंत्री आ रहे हैं। मुख्यमंत्री पधार चुके थे, मगर वह अपना काम निपटाते रहे। थोड़ी देर बाद संदेश भेजा कि भीतर लिवा लाइये। अपनी मेज पर ही मुख्यमंत्री से मिले, मैनेजर सोफे की तरफ इशारा करता रह गया मगर वह टस से मस न हुए। अभिवादन के बाद मुख्यमंत्री से पूछा "कैसे आना हुआ?" मुख्यमंत्री भीतर तक आहत हो गये थे, विनम्रता से उत्तर दिया "आपके दर्शन करने चला आया।" संक्षिप्त औपचारिक भेंट के बाद मुख्यमंत्री लौट गये।

वह ट्रेड यूनियनिज्म का दौर था। सब उद्योगों में असंतोष की चिंगारी सुलग रही थी। उनका औद्योगिक समूह भी इसकी चपेट में आ गया। बातचीत के जरिए समस्याओं को सुलझाया जा सकता था, मगर इन्होंने अचानक तालेबंदी की घोषणा कर दी। मुख्यमंत्री पहले से आहत बैठे थे समूचे उद्योग समूह पर रिसीवर बैठ गया। काले दिनों की शुरुआत हो गयी। एक एक कर उद्योग बीमार होते चले गये। वातावरण में ऐसी ही कुछ कहानियां तैरती रहती हैं।

सुनने में तो यहां तक आया कि संजय गांधी जेल में थे तो भोजन इनके यहां से ही जाता था। यही नहीं, एक दिन ऐसे ही किसी मित्र को दो चार लाख रुपए की फौरी जरूरत पड़ी तो चाणक्यपुरी का अपना देश विदेश के बेशकीमती पत्थरों से सुसज्जित निर्माणाधीन बंगला अपने ही जान पहचान के बैंक के नाम गिरवी रख दिया। इसे विडम्बना ही कहा जायेगा कि जब तक वह रकम अदा करते, उससे पहले ही बैंकों का राष्ट्रीयकरण हो गया। दो चार लाख रुपए उनके लिए एक मामूली रकम थी, मगर मामला कुछ ऐसा उलझा कि उलझता चला गया। सैकड़ों करोड़ की वह सम्पत्ति आज भी बैंक के कब्जे में है। स्कॉच की चुस्कियां लेते हुए यह बात बंगले के एक पड़ोसी और उनके रिश्तेदार ने उनका उपहास उड़ाने की मुद्रा में बतायी थी। वास्तव में दीवानगी और बेखुदी के आलम में भी उनके चेतन और अवचेतन में हर वक्त व्यवसाय और उद्योग धंधे नहीं भारतीय ज्ञानपीठ का सपना हमेशा टिमटिमाता रहता था। वह कथा लेखकों, कवियों और समीक्षकों से हमेशा संवादरत रहते थे। किसी को भी किसी भी समय फोन कर सकते थे। उनकी करोड़ों की सम्पत्तियां मुकदमेबाजी में फंसी हुई थीं। मुकदमों के सिलसिले में उन्हें बार बार कोलकाता जाना पड़ता। दिन भर कोर्ट कचेहरी करते, वकीलों से लम्बी लम्बी मीटिंग्स चलतीं। फुरसत पाते ही वह ज्ञानपीठ अभियान में जुट जाते।

अचानक एक दिन कोलकाता में भारतीय भाषा परिषद के परिसर में प्रकट हो गये। मेरी उनसे पहली मुलाकात भाषा परिषद में ही हुई थी। मुझे यह जान कर बहुत अच्छा लगा कि वह 'वागर्थ' के बहुत प्रशंसक थे। मेरे सम्पादन में अभी कुछ ही अंक प्रकाशित हुए थे। मुझे लगा, उन्हें अतिशयोक्ति में बात करना ज्यादा प्रिय है। पुस्तक चर्चा उन्हें बहुत प्रिय थी। वे विभिन्न पत्रिकाओं के बारे में अपनी राय व्यक्त करते रहे। मुझे यह जान कर आश्चर्य हुआ कि उन्हें हिन्दी की छोटी से छोटी और बड़ी से बड़ी पत्रिका के बारे में अच्छी जानकारी थी। पत्रिकाओं के बारे में ही नहीं, पुस्तकों के बारे में भी। लंच का समय हो रहा था। ममता उन दिनों भारतीय भाषा परिषद के निदेशक के पद पर थी और मैं 'वागर्थ' का सम्पादन करता था। ट्रस्ट के अध्यक्ष श्री परमानंद चूड़ीवाल जी की इच्छा थी कि हम दोनों परिषद से जुड़ें। फ्लैट का दरवाजा परिषद कार्यालय के गलियारे में ही खुलता था। दोपहर के भोजन के समय ममता घर चली आती थीं। दोपहर के भोजन की मैं तो प्रतीक्षा करता ही था, बगल में मैक्फरसन पार्क के दो एक कौबे भी बड़ी बेसब्री से डाइनिंग टेबल के पास खुलने वाली खिड़की से कांव कांव करते हुए ममता को पुकारते। वे वही रोटी खाते जो हम थाली से उठा कर देते। बासी रोटी की तरफ ताकते भी न थे। भोजन के समय खिड़की की सलाखों पर तैनात रहते। उस रोज घर में मेरे साथ वह भी थे। ममता को देखते ही उन्होंने पूछा "यह ममता जी हैं?" मेरे हामी भरने पर वह उठे और अभिवादन करते हुए ममता से बोले "मैं आलोक प्रकाश जैन।"

"नमस्कार आलोकजी!" ममता ने उनसे पूछा "आप ने भोजन किया?"

ममता भी गायबाना तौर पर उनसे भली भांति परिचित थी।

"नहीं अभी जाकर करूंगा।"

"आप हमारे साथ ही भोजन करें।"

अप्रत्याशित रूप से वह तैयार हो गये। दफ्तर से घर में प्रवेश करते ही माहौल बदल जाता था। एक तरफ हरा भरा मैक्फरसन पार्क था, दूसरी तरफ सामने थिएटर रोड, जो थोड़ी दूर पर स्थित पार्क स्ट्रीट के समानांतर चलती थी। फ्लैट में ढेर सारी खिड़कियां थीं। दिन भर फर् फर् हवा बहती थी। सुबह शाम पक्षियों की चहचहाहट सुनायी देती।

आलोकजी ने विराजमान होते ही जेब से एक सूची निकाली और बोले यह हमारे नये सेट की पुस्तकों और लेखकों के नाम हैं। आप इन्हें कैसे रेट करेंगे। ए+, ए, बी+, बी अथवा सी+ अथवा

सी। सूची थमा कर वह व्यग्रता से मेरी प्रतिक्रिया की प्रतीक्षा कर रहे थे। लेखकों की रेटिंग तो सूची पढ़ कर हो सकती है। पुस्तकें मैंने पढ़ी नहीं थीं।

“आलोकजी बगैर पुस्तक पढ़ें, पुस्तक की रेटिंग करना पुस्तक के साथ न्याय न होगा।” मैंने कहा।

“नेचुरली।” वह बोले “लेखकों से तो आप परिचित होंगे ही, उनकी रेटिंग कैसे करेंगे?” मैं इस जंजाल से निकलता चाहता था, वह लगातार शिकंजा कसते जा रहे थे।

“आइये पहले भोजन कर लें।” मैंने कहा।

“आइये आइये।” वह उठ गये। चुपचाप भोजन करते रहे। मैं समझ रहा था भोजन से निपटते ही वह दोबारा उसी विषय पर आ जायेंगे। इससे पहले कि वह कुछ कहते, मैंने अत्यंत मासूमियत से एक प्रश्न उन्हें पेश कर दिया “अमुक लेखक की अमुक रचना के बारे में आप क्या सोचते हैं?”

“ए क्लास राइटर बी क्लास बुक।”

“क्या बढ़िया मूल्यांकन है आलोकजी।” ममता बोली “अमुक लेखक की अमुक पुस्तक पर आपकी क्या राय है?”

“बी क्लास राइटर ए क्लास बुक।” वह बोले।

“क्या सटीक मूल्यांकन है।” मैंने कहा और पूछा “आपकी दृष्टि में लेखक नहीं कृति महत्वपूर्ण है।”

“यह मैंने नहीं कहा।” उन्होंने तुरंत प्रतिवाद किया “एक किताब लिख कर ए क्लास लेखक बनना बहुत मुश्किल है। इस गरिमा को पाने के लिए रचनाकार को लगातार रियाज करना पड़ता है, एक उच्चकोटि के गायक की तरह।”

बात दूसरी दिशा की ओर मुड़ गयी। वह विस्तार से बताने लगे कि कैसे उनके घर में रचनाकारों का बहुत जमावड़ा रहता था। अम्मा श्रीमती रमा जैन उनका बहुत आदर सत्कार करती थीं। दिनकर, पंत, भगवतशरण उपाध्याय, अज्ञेय, भारती आदि अनेक रचनाकारों से अम्मा बहुत स्नेह करती थीं।

श्रीमती रमा जैन से सन् पैंसठ में कथा समारोह में मुझे भी मिलने का अवसर मिला था, सत्र के बाद उन्होंने मुझे बुलवाया था। उस समारोह में जैनेन्द्र जी वरिष्ठतम रचनाकार थे और मैं कनिष्ठतम। मेरी उम्र मुश्किल से छब्बीस सत्ताइस वर्ष होगी। मैंने आलोकजी को बताया कि मुझसे मिलते ही रमा जी ने कहा था “मैं चाहती हूँ, तुम धर्मयुग में बम्बई चले जाओ।” मेरे यह बताने पर कि मैं धर्मयुग से ही आया हूँ तो वह देर तक हंसती रहीं। उन्होंने भारती जी को फोन कर के इस घटना का जिक्र किया था, बम्बई पहुंचने पर भारती जी ने आह्लादित स्वर में बताया था।

बातों का रुख अम्मा की तरफ मुड़ गया। मुझे लगा, आलोकजी अम्मा से अत्यंत भावनात्मक रूप से जुड़े थे। लेखन और लेखकों के प्रति अनुराग के संस्कार उन्हें अम्मा से ही मिले होंगे।

ममता चुपके से उठ कर दफ्तर की दहलीज लांघ गयी और मैं आलोकजी से बतियाता रहा। मेरे लिए दफ्तर का बंधन था नहीं। मैं कभी कभार ही अपने कक्ष में जाता था। मेरा दफ्तर तो मेरा फोन ही था। आलोकजी कभी घड़ी की तरफ देखते और कभी उस कागज को, जिसमें पुस्तकों के नाम लिखे थे। उन्होंने उस कागज को तहा कर जेब में रखा और फिर निकाल कर कुर्सी पर रख दिया। अपने बाद के वर्षों में मैंने देखा कि वह अपनी जेब में कोई कागज नहीं रखते थे। पर्स, रुपया पैसा, कागज का पुर्जा कुछ नहीं। अगर हाथ में कुछ कागज होते तो वह कहीं न कहीं छोड़ जाते। उनकी

जेबें खाली रहती थीं, जो कुछ भी होता वह तपन के पास होता। कागज तो कागज उनके रुपये जैसे भी वही संभालता था। हिसाब किताब भी। उन्होंने जेब से फोन निकाला और एक आंख बंद कर बहुत नजदीक से फोन मिलाया और उठ कर चल दिये। विदा लेना तो दूर उन्होंने पीछे मुड़ कर भी न देखा। यह उनकी अदा थी।

इसके बाद वह यदाकदा परिषद आने लगे। मुझे दफ्तर में न पाते तो घर चले आते। अगर मैं मिल जाता तो पूछते “आप व्यस्त तो नहीं है?”

बैठते ही कहते “नीचे पुस्तक केन्द्र से ज्ञानपीठ का सूचीपत्र मंगवाइये।”

नीचे पुस्तक केन्द्र था। उन्हें मालूम था कि वहां सब प्रकाशकों के सूचीपत्र उपलब्ध रहते हैं। सूचीपत्र पाते ही वह वही राग छेड़ देते “बतायें इस पुस्तक और इसके लेखक की क्या रेटिंग करेंगे?”

कुछ दिनों की टालमटोल के बाद मैं निष्पक्ष राय देने लगा। वह सहमत न होते तो जिरह करते।

सन् पैसठ के कोलकाता के विराट कथा समारोह में चार पीढ़ियों के कथाकारों को आमंत्रित किया गया था, जिनमें जैनेन्द्र कुमार, भगवतीचरण वर्मा, यशपाल, इलाचंद्र जोशी, उपेन्द्रनाथ अशक, चंद्रगुप्त विद्यालंकार, अमृतलाल नागर, मोहन राकेश, कमलेश्वर, राजेन्द्र यादव, कृष्णा सोबती, मन्नु भंडारी, अमरकांत, मार्कंडेय, शेखर जोशी, श्रीकांत वर्मा, शानी, दूधनाथ सिंह, ज्ञानरंजन, रवीन्द्र कालिया, ममता, शैलेश मटियानी आदि तमाम पीढ़ियों के रचनाकार आमंत्रित थे। परिषद के अपने कार्यकाल के दौरान मैं चाहता था कि 2006 में वैसा ही एक आयोजन कोलकाता में पुनः किया जाये। प्रथम कथा समारोह में साहू परिवार की सक्रिय भूमिका थी। श्रीमती रमा जैन तो लगभग प्रत्येक सत्र में मौजूद रहीं। मैंने आलोकजी से इस योजना की चर्चा की। वह बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने कहा कि वह इस आयोजन में अवश्य शामिल होंगे, चाहे उन दिनों कहीं भी हों। वह दिल्ली से भी एस.एम. एस. करके पूछते रहते थे कि कथा समारोह की योजना कहां तक पहुंची। मैंने परिषद के अध्यक्ष परमानंद चूड़ीवालजी से इसकी चर्चा की। उन्होंने तुरंत स्वीकृति प्रदान कर दी। परिषद के अपने अंतर्विरोध भी थे। कुछ न्यासियों को परिषद के संचालन में अध्यक्ष की सक्रियता पसंद न थी। वे केवल शोभा के लिए अध्यक्ष की उपस्थिति चाहते थे। बहरहाल ऐसी परिस्थितियां तमाम संस्थाओं में उत्पन्न होती रहती हैं। चूड़ीवालजी की प्रथम कथा समारोह में भी सार्थक भूमिका थी। यह समारोह भारतीय संस्कृति परिषद द्वारा आयोजित किया गया था। उसमें वरिष्ठ लेखकों के लिए हवाई यात्रा की व्यवस्था की गयी थी। चूड़ीवालजी ने भरसक प्रयास किये कि कथा समारोह के लिए परिषद द्वारा अधिक से अधिक बजट पास कराया जा सके। परंतु उन्हें बहुत सफलता नहीं मिली। क्षतिपूर्ति के लिए सह संयोजन के लिए साहित्य अकादमी से सम्पर्क साधे गये। चूड़ीवालजी ने ही इस आयोजन का नामकरण किया उर्दू हिन्दी कथा कुम्भ। गोपीचंद नारंग उन दिनों साहित्य अकादमी के अध्यक्ष थे। उनके सौजन्य से साहित्य अकादमी भी सहयोग के लिए तैयार हो गयी। अंततः आधिकारिक घोषणा कर दी गयी कि 10, 11, 12 मार्च 2006 को कोलकाता में कथा कुम्भ का आयोजन होगा और सर्वश्री कृष्णा सोबती, कमलेश्वर, ज्ञानरंजन, गिरिराज किशोर, असगर बजाहत, मृदुला गर्ग, चित्रा मुद्गल, सुधा अरोड़ा, गोविन्द मिश्र, हिमांशु जोशी, अखिलेश, विभूति नारायण राय, मिथिलेश्वर, शैलेन्द्र सागर, गोपाल राय, मधुरेश, श्रीभगवान सिंह, ओमप्रकाश बाल्मीकि, शमोएल अहमद, भारत भारद्वाज, जयनंदन, कृष्ण मोहन, नीलाक्षी सिंह, पंकज मित्र, प्रभात रंजन, अल्पना मिश्र, शशि भूषण द्विवेदी, महुआ माजी, मो. आरिफ, साधना अग्रवाल, मनोज कुमार पांडेय, राकेश मिश्र आदि को निमंत्रित किया गया। मैं, ममता और कुणाल परिषद में ही थे। समस्त स्थानीय कथाकारों को भी निमंत्रण भेजा गया।

आलोकजी 10, 11, 12 मार्च तक प्रत्येक सत्र में मौजूद रहे। वह ध्यानपूर्वक चर्चाएं सुनते रहे। सुबह से शाम तक परिषद में रहते। सबके साथ भोजन करते। एक दिन उन्होंने समस्त युवा लेखकों को एक आला रेस्तरां में रात्रिभोज भी कराया। नये से नये लेखकों से वह निरंतर संवादरत रहे।

दिल्ली लौटने से पूर्व वह तमाम युवा कथाकारों के साहित्यिक अभिभावक की भूमिका में आ गये। खबर मिली कि दिल्ली पहुंच कर वह घंटों नये रचनाकारों से फोन पर बातियाते। कई नये नवेले लेखक उनके फोन सुन सुन कर यह भ्रम पाल लेते कि आलोक जैन तो उसके मित्र हैं। अक्सर देखा गया कि किसी समारोह अथवा गोष्ठी में कोई लेखक अत्यंत अनौपचारिक होने की चेष्टा करता तो वह वहीं उसे बुरी तरह डांट देते और हर मिलने जुलने वाले मित्र से शिकायत करते कि अमुक कवि या कथाकार अत्यंत बदतमीज है।

आलोकजी भारतीय ज्ञानपीठ के आजीवन न्यासी थे। इस न्यास की स्थापना उनके माता पिता ने की थी, वह मन ही मन ज्ञानपीठ को अपनी बपौती मानते थे, मगर ज्ञानपीठ एक न्यास द्वारा संचालित होता था, जिसका अपना संविधान था, न्यासियों से अपेक्षा की जाती थी कि वे न्यास के दैनंदिन कार्य में हस्तक्षेप न करें और न कार्यालयी कार्य में हस्तक्षेप करें। अगर कोई आपत्ति हो तो प्रबंधक न्यासी से बात करें अथवा न्यास की बैठक में रखें। मगर आलोकजी को इन नियमों की क्या परवाह? 'वागर्थ' से इतने प्रसन्न थे कि वागर्थ को ज्ञानपीठ का छह अंकों का विज्ञापन जारी कर दिया। दिल्ली पहुंच कर आर्ट वर्क भी भिजवा दिया। लम्बे समय तक उन विज्ञापनों का भुगतान नहीं आया तो परिषद के लेखा विभाग से ज्ञानपीठ को स्मरणपत्र जाने लगे। यही नहीं, युवा पुरस्कारों की राशि के साथ साथ उन्होंने पांच पांच हजार के ज्ञानपीठ प्रकाशन देने की घोषणा भी कर दी। प्रबंधन को इसकी खबर न थी। जैसे भी न्यास उनकी घोषणाओं के प्रति उदासीन रहता था। मगर आलोकजी जो चाहते, वह करवा ही लेते चाहे उन्हें इसके लिए कितनी भी माथापच्ची क्यों न करनी पड़े। अगर सीधी अंगुली से घी न निकलता तो वह अपना रौद्र रूप धारण कर लेते। वह आपे से बाहर हो जाते और अपनी छतविस्फोटक हुक्मराना आवाज में चिल्लाते कि उनका सामना करना मुश्किल हो जाता। वह दरवाजा खोलते और बिना किसी की तरफ देखे खरामा खरामा चुपचाप सीढ़ियां उतर जाते। उनका पीर बावर्ची भिंती खर सेक्रेटरी खजांची टाइपिस्ट सेवक तपन उनके पीछे पीछे चल देता। पूरी दुनिया में वही एक शख्स था जो उनकी नब्ज समझता था। तपन से पहले उसके पिता भी आलोकजी के सहायक थे। वह भी उनके क्रोध का शिकार होते होंगे, मगर आलोकजी न केवल तपन बल्कि उसके बाल बच्चों की शिक्षा, स्वास्थ्य और भविष्य को ध्यान में रखते थे। उसे अधिक से अधिक राहत देने की कोशिश करते। उनकी जान को इतने बवाल थे कि सुबह उनके पास पचीस लाख रुपए आते और सूरज अस्त होने पर तपन उन्हें खबर देता कि खाता खाली हो चुका है। कई बार लगता कि वह एक राजा हैं और कई बार लगता वह राजा नहीं फकीर हैं, औलिया हैं। वह विरुद्धों का सामंजस्य थे। कभी दयावान लगते और कभी निर्मम। कभी नायक कभी खलनायक।

कोलकाता में एक दिन उन्होंने इच्छा प्रकट की कि वह परिषद के अध्यक्ष परमानंद चूड़ीवाल से मिलना चाहते हैं। किसी भी दिन सायं चार से पांच के बीच वह उपलब्ध हो सकते हैं। समय सुनिश्चित हो गया। चूड़ीवाल जी समय के बहुत पाबंद व्यक्ति थे और आलोकजी भी समय पर पहुंच गये। मैंने दोनों का परिचय करवाया। बातचीत शुरू होती इससे पहले ही आलोकजी के फोन की घंटी बजी। उन्होंने चूड़ीवालजी से इजाजत लेकर बातचीत शुरू की। आलोकजी ने यह कह कर फोन काट दिया कि वह इस समय जरूरी मीटिंग में हैं, फुर्सत मिलते ही बात करेंगे। फोन की घंटी दुबारा बजी। मैं बगल में ही बैठा था, हल्की सी आवाज सुनायी पड़ रही थी, लग रहा था कोई बहुत तैश में बोल

रहा था। वह चुपचाप उसकी बात सुनते रहे। उनका चेहरा तनावग्रस्त हो रहा था। उन्होंने बहुत धीमी आवाज में कहा 'ऐसा नहीं सोचते मेरे बच्चे। थोड़ा धैर्य रखो। दूसरे छोर से आवाज उग्रतर हो रही थी। उन्होंने कहा 'मैं इसकी व्यवस्था कर रहा हूँ। शांत हो जा बाबू। मेरे राजकुमार। मैं स्तब्ध था, आलोकजी के स्वभाव में ही नहीं था, किसी को इतना बोलने की इजाजत देना। मालूम नहीं किसका फोन था और उनकी क्या विवशता थी कि वह न तो फोन काट पा रहे थे, न ही डांट पा रहे थे। पहली बार मैं उन्हें रिसीविंग एंड पर देख रहा था। आधे घंटे की मीटिंग तय हुई थी। चूड़ीवालजी बार बार घड़ी देख रहे थे, पांच बजे उन्हें शिक्षायतन पहुंचना था। उन्होंने एक चिट पर लिख कर मुझे बताया कि आलोकजी से किसी और दिन मिलूंगा। कुछ देर बाद वह उठे और नमस्कार करते हुए कमरे से निकल गये। मैं भी उठ कर चल दिया ताकि आलोकजी खुल कर बात कर सकें। मालूम नहीं, उस दिन वह कब तक बात करते रहे, कब तक कमरे में रहे और कब वहां से रुखसत हुए। बाद में दिल्ली पहुंच कर उन्होंने मुझे और चूड़ीवालजी को पत्र लिख कर उस दिन के अवरोध पर खेद प्रकट किया।

आलोकजी से मेरा परिचय कोलकाता तक सीमित था। जैसाकि पहले जिक्र आ चुका है उनकी बहुत सी सम्पत्ति कोलकाता में मुकदमेबाजी में फंसी थी। एक दिन कुसुम खेमानी ने बताया था कि ये विवाद वर्षों से चल रहे हैं। ये सम्पत्तियां कोलकाता के प्रमुख स्थानों पर थीं। एक सम्पत्ति तो अलीपुर में साहू दम्पती के कई एकड़ में फैले भव्य और विशाल आलीशान बंगले के पीछे थी, सन् पैसठ के कथा समारोह में सम्मिलित होने वाले कथाकारों को रमा जी ने इसी बंगले के मुक्तांगन में हाई टी पर आमंत्रित किया था। इसी अवसर पर कमलेश्वर को सारिका के सम्पादन का कार्यभार ग्रहण करने का प्रस्ताव मिला था। इसका उल्लेख मैंने कमलेश्वर पर लिखे अपने संस्मरण में भी किया था। इस चाय की दावत का विस्तृत वर्णन था और जिसकी कुछ पंक्तियां कमलेश्वर जी को नागवार गुजरी थीं, उन्होंने पत्र लिख कर उन पंक्तियों का हटाने का आग्रह किया था।

आलोकजी के उस विशाल भूखंड की दुनिया बदल चुकी थी। वहां सैकड़ों हजारों झुग्गी झोंपड़ियां बन गयी थीं। आलोकजी ने कभी उधर झांक कर भी न देखा था। उस भूखंड का मूल्य करोड़ों में था। आलोकजी कोर्ट कचेहरी से आजिज आ चुके थे और दूसरी तरफ परिवार में संतुलन बैठाने का इतना दबाव रहता था कि उनकी बहुत सी ऊर्जा उसमें लग जाती। शायद उनके मन में यह अपराधबोध भी था कि इतना साधनसम्पन्न होने के बावजूद वह अपनी संतान को व्यवस्थित नहीं कर पाये। उल्टे स्वयं ही अव्यवस्थित होते चले गये। बच्चे आलोकजी के भाई अशोक जैन के बच्चों की तरह वैभव और ऐश्वर्य में जीना चाहते थे। जब तक संयुक्त परिवार था, वे उसी शानोशौकत से रहते भी थे और उसी जीवन शैली को स्वीकार चुके थे। अलगयोझा होते ही आलोकजी का जहाज डूबना शुरू हुआ तो लगातार डूबता ही चला गया और दूसरी तरफ भाई थे, जिनकी पतंग हवा में अठखेलियां खाने लगी। 'टाइम्स ऑफ इंडिया' समूह दृढ़ से दृढ़तर होता चला गया। 'टाइम्स ऑफ इंडिया' के वीसियों संस्करण प्रकाशित होने लगे। मगर आलोकजी ने भी अंत तक हौसला नहीं छोड़ा। एक उजली सुबह के इंतजार में वह परिस्थितियों से जूझते रहे। उन्हें लगता था कि वह सुबह कभी तो आयेगी। एक अदालत से जीतते तो मुकदमे अगली अदालत में पहुंच जाते। वह खयाली पुलाव बनाते रह जाते। वह दस दस, बीस बीस करोड़ सभी बच्चों में बांट देना चाहते थे और बिटिया के नाम से एक बड़ा न्यास 'ज्ञानपीठ की टक्कर का बनाना चाहते थे। उस न्यास के न्यासियों के नाम तय करते रहते। उसके उद्देश्यों पर विचार विमर्श करते। वह उस न्यास को ज्ञानपीठ का प्रतिद्वंद्वी न्यास नहीं बनाना चाहते थे।

आलोकजी जानते थे, उन झुग्गी झोंपड़ियों को हटाना उनके बस का काम नहीं है। अंततः उन्होंने वह भूखंड औने पौने दाम में ही बेचना शुरू कर दिया। यानी करोड़ों का भूखंड लाखों में बिकने लगा। दरअसल अपने युद्ध में वह नितांत अकेले पड़ गये थे। इस अभियान में उनका हाथ बटाने वाला कोई नहीं था। 'मेरा युद्ध मुझको लड़ना' वाली स्थिति थी। जब कोलकाता में उनसे पहली मुलाकात हुई थी तो उन्होंने कहा था कि वह दो साल और जिन्दा रहना चाहते हैं ताकि अपने तमाम लम्बित मामले निबटा लें, बच्चों को स्वावलम्बी बना दें, बिटिया के नाम से एक साधनसम्पन्न उद्देश्यपूर्ण न्यास गठित कर दें। यह उनकी अंतिम इच्छा थी। जीवन ने उन्हें दो के स्थान पर लगभग दस वर्ष का समय दिया, मगर काम सुलझने की बजाये उलझते चले गये। वह ब्यूह चक्र में ऐसा फंसे कि फिर अंत तक बाहर न निकल पाये। एक बात की मैं अंत तक दाद देता था कि उन्होंने परिस्थितियों के सामने कभी घुटने नहीं टेके। बदस्तूर जूझते रहे। अपनी निजी परेशानियों की कभी चर्चा नहीं करते थे। जैसे पुरानी कहानियों में राजा का जीवन एक तोते में बसता था, उनके प्राण मन ज्ञानपीठ में कैद थे। वह अहर्निश उसकी बेहतरी के उपाय खोजते रहते, वह कहते "ज्ञानपीठ पुरस्कार की प्रतिष्ठा प्रवर परिषद (निर्णायक मंडल) के गठन में निहित है। जितनी प्रतिष्ठित प्रवर परिषद होगी, ज्ञानपीठ पुरस्कार उतना अधिक प्रतिष्ठित होगा।" किसी सदस्य का कार्यकाल पूरा होता उससे पहले ही वे नये सदस्य के चुनाव के लिए देश की तमाम भाषाओं के शीर्ष रचनाकारों और विद्वानों से विचार विमर्श करते। इंटरनेट से विद्वानों के बारे में जानकारियां निकलवाते। न्यास की बैठकों में अक्सर देखा जाता कि न्यास के तमाम सदस्य एक तरफ होते और एक अकेले आलोकजी अभिमन्यु की तरह डट कर मुकाबला करते रहते। उन्हें जो सही लगता, वही कहते और वही करते। किसी निर्णय से असंतुष्ट हो जाते तो खूब चिल्लाते। आवाज उनकी इतनी बुलंद थी कि इमारत के प्रत्येक तल पर उनकी आवाज गूंजती। बैठक में किसी बात पर मतैक्य न होता तो बहुत आजिज आ जाते और खिड़की खोल कर कहते मैं अभी खिड़की से कूद कर प्राण दे दूंगा। सब लोग सहम जाते कि न जाने गुस्से में क्या कर बैठें। कहा बताया जाता है कि एक बार न्यास की बैठक में दरवाजे के पास जमीन पर लेट गये "आपको अगर मेरी बात मंजूर नहीं तो मेरे सीने पर पैर रख कर निकल जाइये।" कभी कभी उनके न चाहने पर भी कुछ ऐसे निर्णय हो जाते जो उन्हें स्वीकार न होते। वह लम्बे समय तक उसका दंश महसूस करते। वह किसी से डरते नहीं थे, मुंहफट और उद्दंड इतने कि किसी की पगड़ी कभी भी उछाल सकते थे। एक बार एक पार्टी में न्यास का एक सदस्य अभिवादन की मुद्रा में उनके सामने पड़ गया। उनका दृढ़ मत था कि वह व्यक्ति न्यास की सदस्यता के योग्य नहीं है। उसे देखते ही उनका पारा चढ़ गया, चिल्ला कर बोले "मेरे सामने से हट जाइये, मैं आपका चेहरा देखना नहीं चाहता।"

उनका दावा था कि वह कभी झूठ नहीं बोलते। हमेशा सच का साथ देते हैं। शायद यही कारण था कि बचपन में कोई भी उन्हें अपनी टीम में नहीं रखता था, उनका अपना भाई भी नहीं। उनकी अपनी टीम का कोई सदस्य खेल में आउट हो जाता तो, सबसे पहले वही कहते आउट। टीम के शेष सदस्य कितनी भी जिरह करें, मगर उन्होंने देख लिया तो सच का ही साथ देंगे, उनकी टीम चाहे हार जाये। उनके शब्दों में कहूं तो 'चाहे भाड़ में जाये'!

कोलकाता में परिषद में आते तो मुझसे केवल ज्ञानपीठ की बेहतरी के लिए सोचे गये उपायों पर बात करते। ए, ए+, बी+, बी-1 तो उनका प्रिय शगल था ही। दिल्ली लौट कर भूल जाते, कभी फोन नहीं। मुलाकात परिषद तक ही सीमित थी अपनी लस्टम पस्टम चाल से धीरे धीरे चलते हुए कभी कभार प्रकट हो जाते। जब एक बार दिल्ली से उनका फोन आया तो मैं चौंक गया "मैं आलोक जैन बोल रहा हूं।"

“नमस्कार आलोकजी।” मैंने कहा।

उन्होंने जैसे मेरी बात सुनी ही नहीं, बोले “ध्यान से मेरी बात सुन लीजिए मां कसम, मैं आपको ज्ञानपीठ का निदेशक नहीं बनने दूंगा।”

“आपको भ्रम हो गया है।” मैं कुछ और कहता, इससे पहले ही वह फोन बंद कर चुके थे। अचानक फोन बंद कर देना भी उनकी निराली अदा थी। बाद के वर्षों में मैं उनकी किसी बात से सहमत न होता अथवा तर्क करता तो वह अचानक फोन बंद कर देते। घंटों बतियाना और अचानक किसी बात से असहमत होते ही बगैर तर्क किये फोन बंद कर देना उनकी तात्कालिक प्रतिक्रिया होती। अगले रोज वह एकदम सामान्य नजर आते। दरअसल, वह बर्दाश्त ही नहीं कर सकते थे कि कोई उनकी बात काटे या अस्वीकार करे। उन्हें बोलना अधिक भाता, सुनना कम।

जाने दिल्ली में क्या पक रहा था कि आलोकजी द्वारा ज्ञानपीठ की सड़क पर मेरे लिए ‘नो एंट्री’ की बाधा खड़ी कर दी गयी थी। वहां जाने का मेरा कोई इरादा या महत्वाकांक्षा भी न थी। मैं इसी उधेड़बुन में था कि आलोकजी ने ऐसा क्यों कहा। भीतर ही भीतर मैं उन्हें कहीं पसंद भी करने लगा था। उनकी धमकी मुझे बहुत नागवार गुजरी। बात आयी गयी हो गयी। उस बीच न वह कोलकाता आये और न ही उनका कोई फोन मिला। मैं भी एक दुःस्वप्न की तरह उनकी बात भूल गया।

दिल्ली से अचानक एक दिन मेरे मित्र कन्हैयालाल नंदन का फोन मिला। नंदनजी से मेरे चालीस पैंतालिस साल पुराने सम्बंध थे। ‘धर्मयुग’ बम्बई में वह मेरे वरिष्ठ सहयोगी थे। गाहेबगाहे हम लोगों का सम्पर्क होता रहता था। वह जब कभी भी कोलकाता आते, मिले बगैर नहीं लौटते। जब तक दिनमान के सम्पादक रहे, मैं उनके लिए लगातार ‘इतिश्री’ स्तम्भ नियमित रूप से लिखता रहा। ‘सारिका’ में थे तो मेरा सक्रिय सहयोग था। मेरे पहले उपन्यास ‘खुदा सही सलामत है’ का ‘सारिका’ में धारावाहिक रूप से प्रकाशन होता रहा। शुरू में ‘धर्मयुग’ से दिल्ली बुला कर उन्हें ‘पराग’ के सम्पादन की जिम्मेदारी सौंपी गयी थी और उन्होंने मुझसे बच्चों के लिए भी लिखवाया।

उस दिन सुबह सुबह नंदन जी का फोन आने का मतलब मेरी समझ में यह आया कि उन्हें कोई नयी जिम्मेदारी प्राप्त हुई होगी। उन्होंने फोन पर बताया कि “तुम्हारे लिए समाचार है। तुम्हें तत्काल दिल्ली बुलवाने का काम मुझे सौंपा गया है, आज कोलकाता से जो फ्लाइट मिले, पकड़ कर दिल्ली चले आओ।”

“दिल्ली में क्या है, क्यों बुला रहे हैं आप?”

“ज्ञानपीठ के निदेशक के रूप में तुम्हारे नाम पर विचार हो रहा है। वे लोग तुमसे तत्काल मिलना चाहते हैं।”

मैंने उन्हें आलोकजी की बात बतायी।

“उनकी चिन्ता न करो, बस आ जाओ। दिल्ली में एयरपोर्ट पर मिलूंगा और तुम्हें लिवा ले जाऊंगा। चाहो तो शाम की फ्लाइट से लौट भी सकते हो।” वह बोले।

उस रोज तो नहीं अगले रोज दोपहर तक मैं नंदन जी के साथ था। नंदन जी मुझे लिवा ले गये। आधे घंटे में हम लोग मुक्त हो गये। मुझसे पूछा गया था कि जल्द से जल्द मैं कब तक ज्ञानपीठ ज्वाइन कर सकता हूं।

“अत्यंत नाटकीय ढंग से चीजें हो रही हैं।” मैंने नंदन जी से कहा “मैं तो कोलकाता में रच बस गया था।”

तभी टेलीफोन की घंटी ने ध्यान भंग किया। फोन आलोकजी का था। फोन खोलने में मैं हिचकिचा रहा था, मगर मैं उनके प्रति सामान्य भाव बनाये रखना चाहता था। इस समय वह आक्रामक

नहीं थे। मेरी दिल्ली यात्रा को अत्यंत गोपनीय रखा गया था। जान कर ताज्जुब हुआ कि आलोक जी को इसकी जानकारी हो गयी कि मैं दिल्ली में हूँ। वह अत्यंत तटस्थ भाव से पूछ रहे थे “दिल्ली में आप कहां ठहरे हैं?”

“अभी तो सड़क पर हूँ। कुछ तय नहीं किया।”

“आपको इंडिया इंटरनेशनल सेक्टर में ठहरना चाहिए।” उन्होंने कहा। और फोन बंद कर दिया। मैंने नंदन जी को बताया। वह मुसकरा भर दिये। अगले दिन मैं कोलकाता में था।

अत्यंत नाटकीय रूप से मैं कोलकाता से दिल्ली चला आया। दिल्ली से मुम्बई और मुम्बई से इलाहाबाद भी इसी अंदाज से पहुंचा था। चौदह तारीख तक मैंने कोलकाता में काम किया था और पंद्रह को दिल्ली में काम पर तैनात था। दिल्ली में आलोकजी से अक्सर भेंट हो जाती। शुरू शुरू में वह मुझसे नाराज तो नहीं, रूठे रूठे से रहते। मैंने पाया कि यह उनके स्वभाव में था। जो हो चुका होता, उसे भूल जाते। धीरे धीरे खलिश भी दूर हो जाती। वह ज्ञानपीठ कार्यालय आते तो सीधे मेरे कमरे में ही चले आते। उनकी सांस फूल रही होती। वह धम्म से कुर्सी पर गिरते और आंखें बंद कर लेते। देर तक पेट पर एक हाथ रख कर कुछ देर हांफते रहते। सांस सामान्य होने पर कहते “एक कॉफी मंगवाइये।”

स्वस्थ होने पर वह जेब से कागज का एक पर्जा निकालते और कहते, आज की हमारी बातचीत का एजेण्डा इस प्रकार है। एजेण्डे में अधिसंख्य ऐसे बिन्दु होते जिन पर निर्णय लेना मेरे अधिकारक्षेत्र से बाहर होता। इसी दौरान अगर फोन की घंटी बज जाती तो वह उखड़ जाते और कहते “फोन स्विच ऑफ कर दीजिए।” लैण्डलाइन से काल आती तो कहते रिसीवर उठा कर रख दीजिए और ऑपरेटर से बोल दीजिए कि जब तक आलोकजी बैठे हैं, आपको लाइन न दे। मैं अपना फोन ‘एअरप्लेन’ मोड में कर देता और बात आगे बढ़ाता, वह मेरी बात काट कर कहते “पहले ऑपरेटर से बोलिए।”

मीटिंग कम से कम एक घंटे से ज्यादा ही चलती। हर मीटिंग में चर्चा के वही बिन्दु रहते। ज्ञानपीठ पुरस्कार की राशि कितनी बढ़ायी जाये। एकाउंट्स से बैलेंसशीट मंगवाते, पढ़ते और आग बबूला हो जाते यह फर्जी बैलेंस शीट है। गुस्से में आकर फाड़ देते या बड़ी हिकारत से मेज पर सरका देते। उनकी टिप्स पर रहता कि ज्ञानपीठ की कितनी वार्षिक आय है, कितने खर्च हैं, बिक्री की सही राशि उनकी अंगुलियों के पोर पर रहती। किस राज्य में कितनी बिक्री हुई, किस किस राज्य में बिक्री कम हुई, कौन प्रतिनिधि कैसा काम कर रहा है, वगैरह, वगैरह। वह हमेशा अपडेट रहते।

सरकारी बिक्री पर भी उनकी नजर रहती। महीने में एकाध बार तो वह संस्कृति मंत्रालय के सेक्रेटरी से मिल आते। एक बार पुस्तक मेले में भूले भटके किसी मंत्रालय का एक उच्च अधिकारी जो पुस्तक खरीद का इंचार्ज भी था, जिसकी अन्य प्रकाशकों ने खूब आवभगत की थी और उपहारों से लाद दिया था, ज्ञानपीठ के स्टाल पर भी चला आया। आलोकजी को खबर की गयी और ज्ञानपीठ का विक्रय अधिकारी श्रद्धापूर्वक उस विशिष्ट अधिकारी को आलोकजी के कक्ष में ले गया। आलोकजी पुस्तक मेले में आने से पूर्व हल्दीराम से काजू और मिष्ठान्न मंगवा कर रखते थे। चाय, कॉफी और शीतल पेय का भी प्रबंध रहता था। आलोकजी ने उस अधिकारी को सम्मानपूर्वक चाय नाश्ता करवाया। बातचीत में अचानक जाने क्या हुआ कि वह इस अधिकारी से बोले “ज्ञानपीठ में घूस देने का कोई प्रावधान नहीं है और आप बगैर घूस लिए पुस्तकों की खरीददारी करते नहीं। यही कारण है कि अन्य प्रकाशकों की तुलना में हम हमेशा सरकारी खरीद में मात खा जाते हैं।”

वह अधिकारी आलोकजी की बातें सुन कर सन्न रह गया और तुरंत खड़ा हो गया “आप घर बुला कर मेरा अपमान कर रहे हैं। हमारे यहां यह सब नहीं चलता।”

“यही सब चलता है आपके यहां।” आलोकजी कहां दबने वाले थे “आप सा भ्रष्ट अधिकारी आपके पूरे मंत्रालय में न होगा। मैं आपके मंत्री को आपकी सब काली करतूतें बताऊंगा।”

उस अधिकारी ने तमाशा खड़ा करना उचित न समझा और बगैर दायें बायें देखे, स्टॉल के बाहर हो गया।

दरअसल आलोकजी परिस्थितियों की नजाकत को समझते हुए भी अपने पर नियंत्रण न रख पाते थे। खरी बात कहने में कितना भी जोखिम उठाना पड़े, उठा लेते थे। वरना उनकी आत्मा कसमसाती रहती। पेट में गैस पैदा होने लगती, सीने में जलन। कई बार मुझसे कह चुके थे कि वह बहुत बदतमीज और बदजुबान आदमी हैं। वैसे मुझे यह सब बताने की कोई आवश्यकता नहीं थी, मैं रोज ही उनके गर्म, नर्म, विनम्र और उद्दंड व्यवहार को देखा करता था। शुरू शुरू में उन्होंने मुझ पर भी इसकी आजमाइश करने की कोशिश करनी चाही थी, मैंने तुरंत टोक दिया था “मुझसे सामान्य पिच पर बातचीत करें।”

वह कुछ नहीं बोले और उठ कर चल दिये। दरवाजा अपने आप बंद हो जाता था।

वह ‘नाऊ ऑर नेवर’ यानी अभी या कभी नहीं में विश्वास रखते थे। रात को बारह बजे भी कोई काम याद आ जाता तो उनकी कोशिश रहती कि अभी निपटा दें। देरसबेर एसएमएस कर देते। एक दिन कार्यालय में महिला निजी सचिव ने हंसते हुए बताया कि एक दिन सास ने उससे पूछा कि आधी रात को तुम्हें कौन एसएमएस करता रहता है? वास्तव में उनका व्यक्तित्व ही ऐसा था कि उनकी कड़वी से कड़वी या नागवार लगती बात को लोग हंस कर टाल देते थे।

एक बार उन्हें पुस्तक खरीद के सिलसिले में दिल्ली की मुख्यमंत्री शीला दीक्षित से मिलने जाना था। उनकी इच्छा थी कि मैं भी उनके साथ चलूं, उन्होंने बहुत बार यह प्रयास किया था, मगर मैं उनका सहायक बन कर किसी से मिलने नहीं जाना चाहता था और न ही गया। आखिर शीलाजी के यहां वह विक्रय अधिकारी को ले गये। तपन तो साये की तरह उनके साथ रहता ही था, जो बीच में आ आकर उन्हें पानी या दवाएं देता रहता, दरअसल बाहर निकलने में उन्हें आनंद तब आता था जब दो चार लोग उनके साथ रहें। आलोकजी की मीटिंग के अगले रोज विक्रय अधिकारी ने मुझे बताया कि नियत समय पर शीलाजी कमरे में नहीं आ पायीं, बाहर लॉन में जनता से मिलती रहीं। आलोकजी ने दस मिनट तक प्रतीक्षा की और खड़े हो गये। वहां तैनात अधिकारी सकते में आ गये मैम ने कह रखा है कि आलोकजी के आते ही उन्हें सूचित कर दें। उनको खबर कर दी गयी है। बस आती ही होंगी। आप बैठें। आलोकजी बैठ गये और पांच मिनट के बाद फिर खड़े हो गये। अधिकारी भागा भागा आया। आलोकजी ने पंचम स्वर में उसे इस तरह डांट पिलायी कि उनकी आवाज पूरे परिसर में गूंजने लगी। वह गुस्से से गुराते हुए बाहर निकल आये और अपनी गाड़ी की तरफ बढ़ गये। देखते देखते दो, तीन अधिकारी उनके पीछे भागे “मैम आ गयी हैं, आपकी प्रतीक्षा कर रही हैं।” आलोकजी ने उन्हें झटक दिया और गाड़ी में बैठते ही संजय को चलने का इशारा किया। गाड़ी में प्रायः वह ड्राइवर की बगल में बैठते थे। संजय ने बताया, गाड़ी में बैठते ही फोन टनटनाया, उन्होंने फोन स्विच ऑफ कर दिया। हालांकि जल्द ही समय तय करके उनकी शीलाजी से मुलाकात हुई थी। बिक्री अधिकारी ने बताया था कि वह साल में दो एक बार शीलाजी से मिलने जरूर जाते हैं। शीलाजी शिक्षा सचिव को भी बुला लेती हैं। शिक्षा सचिव खरीद का वादा करते हैं, जाने क्या हो जाता है कि दिल्ली सरकार से कभी मनमाफिक आदेश न मिल सका। केन्द्रीय खरीद में ज्ञानपीठ को साहित्य अकादमी और नेशनल बुक ट्रस्ट के समकक्ष रखवाने में वह कई बार सफल चुके थे, मगर सेक्रेटरी के तबादले के साथ पिछले सचिव के आदेश निरस्त हो जाते। पिछले दिनों मलयालम दैनिक मातृभूमि के एक समारोह में पूर्व

संस्कृति सचिव कुमार साहब से अचानक केरल में भेंट हो गयी। वह संस्कृति सचिव के पद से अवकाश ग्रहण कर चुके थे। मुझसे मिलते ही बोले आलोकजी आपकी बहुत चर्चा करते थे।

“आपकी भी।” मैंने कहा।

“इतनी दीर्घ सेवा में जो चार छह लोग याद रहेंगे, उनमें आलोकजी भी हैं। कितना दिलचस्प किरदार था उनका। ज्ञानपीठ और पुस्तकों के प्रति ऐसा जुनून मैंने किसी में नहीं देखा था।” वह देर तक आलोकजी की प्यारी प्यारी बातें बताते रहे उन्होंने बताया कि आपको मालूम न होगा, उन्हें देशी विदेशी फूलों के बारे में भी बहुत जानकारियां थी। उन्हें मेरा नमस्कार दीजियेगा।

एक बार पुस्तक खरीद को लेकर केन्द्र सरकार ने कुछ ऐसे नीतिगत फैसले किये कि पूरा प्रकाशन जगत असंतुष्ट हो गया। आलोकजी ने तय किया कि वह तमाम प्रमुख प्रकाशकों की एक बैठक बुला कर इस पूरे प्रकरण पर विचार विमर्श करेंगे और सरकार को एक ज्ञापन देंगे। सबसे पहले उन्होंने हिन्दी के सबसे प्रमुख प्रकाशक को आरम्भिक बातचीत के लिए आमंत्रित किया। ज्ञानपीठ में उनका अपना कोई कक्ष नहीं था। प्रबंध न्यासी का कमरा और मेरा कमरा उनके लिए उपलब्ध रहता था। प्रबंध न्यासी के कमरा को वह तब इस्तेमाल करते जब उन्हें प्रबंध न्यासी की निजी सचिव से न्यासियों को अंग्रेजी में लम्बे लम्बे पत्र लिखवाने होते अथवा मंत्रियों सचिवों को पत्र लिखवाना होता। उनकी अंग्रेजी की जानकारी इतनी अच्छी थी कि बड़े बड़े अंग्रेजीदां हैरत में आ जाते। अंग्रेजी पर उनका जबरदस्त अधिकार था। मेरे कमरे का वह साहित्यिक प्रकाशकीय गतिविधियों के लिए इस्तेमाल करते। हिन्दी के प्रमुख प्रकाशक से उनकी भेंट मेरे कमरे में ही सुनिश्चित की गयी। आलोकजी ने पैड पर जो बिन्दु लिखे हुए थे उन्हीं पर चर्चा केन्द्रित थी। अचानक प्रकाशक की तरफ से एक ऐसा प्रस्ताव आया जो आलोकजी को स्वीकार नहीं था “देखिये, यह आपके लिए तो ठीक है परंतु ज्ञानपीठ के लिए नहीं।”

“ऐसा क्या है?” उसने जिज्ञासा प्रकट की।

“देखिए, इस पर आप ही अमल कर सकते हैं हम नहीं। आप तो लेखकों को रायल्टी देते नहीं, देते हैं तो आधी अधूरी। हम तो ऐसा नहीं करते।”

प्रकाशक बहुत विनम्र स्वभाव का व्यक्ति था। मुश्किल से ही जुबान खोलता था। मौनी बाबा था। बहुत विनम्रता से बोला “आलोकजी आप सही नहीं कह रहे हैं। दुबारा कहियेगा भी मत।” उसने नमस्कार किया और बीच मीटिंग से बहिर्गमन कर गया।

आलोकजी ने मेरी तरफ देखा और निहायत मासूमियत से बोले “क्या वह सही कह रहा था?”

आलोकजी किसी की बात सुनने के अभ्यस्त नहीं थे। वह सिर्फ और सिर्फ अपने दिल की आवाज सुनते थे। सुनते ही नहीं थे, उसे सही भी मानते थे। प्रायः वह प्रवाह के विरुद्ध तैरते। कोई लालच, कोई प्रलोभन उन्हें अपने पथ से विमुख नहीं कर सकता था। यह दूसरी बात है कि उनके प्रिय लोगों ने उन्हें खूब ठगा, उन्हें करोड़ों रुपयों का चूना लगा दिया। कई बार बहुत मजबूरी में आलोकजी भी यह जानते हुए कि वह निभा नहीं पायेंगे, झूठा वायदा कर लेते।

जाने कौन सी घुट्टी पीकर उनका जन्म हुआ था कि साहित्यकारों के प्रति उनके मन में अपार श्रद्धा थी। अंत तक कोशिश करते रहे कि ज्ञानपीठ पुरस्कार विजेताओं के लिए खेल गांव में सरकार से एक बंगला लीज पर ले लें। उन्होंने ज्ञानपीठ से फैलोशिप की योजना इस मंतव्य से शुरू करवायी कि कुछ लेखकों की मदद हो जायेगी। बहुत से लोगों ने फैलोशिप के दौरान काम भी किया, ऐसे भी थे, जो फैलोशिप की मासिक रकम की प्रतीक्षा तो करते मगर काम करने से कतराते थे। फैलोशिप के कारण कई उत्तम पुस्तकें प्रकाश में आयीं।

एक दिन जैनेन्द्र जी की बड़ी बिटिया कुसुमजी ने अपने निवास स्थान पर एक साहित्यिक संध्या का आयोजन किया था। आलोकजी के अनुरोध पर मैं भी पहुंच गया। घर का वैभव देख कर चित्त बहुत प्रसन्न हुआ कि एक लेखक की बिटिया इतने प्राइम लोकेशन पर इतने विशाल बंगले में इतने वैभव में रह रही है। कुसुमजी की मित्र मंडली के तमाम लेखक लेखिकाएं मौजूद थे। बीच गोष्ठी में मेरे फोन में कंपकंपाहट हुई, मैंने बाहर जाकर फोन सुना। कुणाल था फोन पर। वह जे.एन.यू. में शोध कर रहा था, वहीं हॉस्टल में रहता था। वहां के डॉक्टरों की समझ में उसका पेटदर्द नहीं आ रहा था, उसे मैक्स हस्पताल में भर्ती करा दिया गया था। साथ में उसके दो एक मित्र थे। जांच से पता चला उसके पेट में मवाद भरा है। मवाद निकलवाने में बड़ा खर्चा था, उसकी जेबें खाली थीं। दोस्त लोग भी हैरान परेशान। आखिर मुझे फोन किया गया। मेरे लाइन पर आते ही कुणाल क्रंदन करने लगा।

“धैर्य रखो, मैं कुछ करता हूं।” मैंने कहा।

भीतर लौट कर मैंने आलोकजी से कहा “जरा बरामदे तक चल कर मेरी बात सुन लीजिये।”

वह तुरंत खड़े हो गये। मैंने सारी स्थितियां बतायीं। उन्होंने क्षण भर कुछ सोचा और वहीं से मेरे साथ चल दिये। भीतर जाकर विदा लेने की जरूरत भी उन्होंने महसूस नहीं की। मैंने इशारे से ममता को भी बुला लिया।

अस्पताल के काउंटर से ही उन्होंने कार्यवाही शुरू कर दी। डॉ. का फोन नम्बर नोट कर लिया “पता लगाइये, डॉ. अस्पताल में हों तो तुरंत वार्ड में पेशेंट के पास पहुंच कर मुझे बात करें।” डॉ. दौड़ा दौड़ा आया कि कौन वी.आई.पी. आ गया जो तुरंत मिलना चाहता है।

डॉ. ने पहुंचने में देर न की। आलोकजी ने दोनों हाथ जोड़ कर उसका अभिवादन किया और डॉक्टर के साथ बात करते करते थोड़े फासले पर चले गये। डॉ. से कहा कि मेरे एकाउंट में फौरन इलाज शुरू कर दीजिए। मालूम नहीं, मैक्स में उनका कोई हिसाब किताब चलता था या नहीं। डॉ. की उपस्थिति में ही उन्होंने मैक्स के एम.डी. की बिटिया से बात की। डॉक्टर ने स्टाफ को एलर्ट किया। जूनियर डॉक्टरों और नर्सों का जमघट लग गया। आलोकजी की हर बात और जिज्ञासा का वह एक ही जवाब देता जी सर। आलोकजी के बड़े लोगों से जान पहचान का दायरा बहुत व्यापक था। वह झट से कोई न कोई परिचय निकाल लेते। मुझे ही जब अपोलो अस्पताल में कमरा नहीं मिल रहा था तो आलोकजी ने सीधे चेयरमैन रेड्डी साहब को फोन करके न सिर्फ कमरा दिलवा दिया बल्कि डॉक्टरों से भी बात कर ली।

अगले रोज कुणाल के पेट से बोटल भर मवाद निकाला गया। आलोकजी ने इस बीच साहू जैन न्यास से भुगतान की व्यवस्था करवा दी थी। न्यासियों में बहुधा वह अकेले पड़ जाते थे, मगर अपनी ठसक और जिद से काम निकलवा लेते। ज्यादातर लोग उनसे उलझने में कतराते थे। अगर किसी की कोई बात उन्हें खटक जाती तो वह आसानी से मुआफ नहीं थे। वह बात उनके लिए जीवन मरण का प्रश्न बन जाती। वह शर्ख्स अगर उनसे बात करने की कोशिश करता तो तुरंत टोक देते मैं आप से बात नहीं करना चाहता। ज्यादा नाराज होते तो यह कहने में संकोच न करते कि मैं आपका चेहरा भी नहीं देखना चाहता। जिसे चाहते थे, उसे बेपनाह चाहते थे, जिसे नापसंद करते थे, डंके की चोट से इसकी घोषणा करते रहते थे मैं उसे भस्म कर दूंगा।

रचनाकारों के प्रति उनका व्यवहार मित्रतापूर्ण था। मैंने किसी भी लेखक के बारे में उन्हें अशोभन टिप्पणी करते नहीं सुना। ओमप्रकाश बाल्मीकि से जीवन में कभी नहीं मिले होंगे, जब मालूम

चला कि वह लाइलाज रोग की चपेट में आ चुके हैं और वह आर्थिक संकट से जूझ रहे हैं तो साहू जैन ट्रस्ट से तुरत फुरत दो लाख रुपए की तत्काल सहायता का प्रबंध करा दिया। अमरकांत संकट में थे तो उनके लिए कुछ धनराशि भिजवा दी। कोई रचनाकार बीमार हुआ तो उसकी खोज खबर लेते रहते। अस्वस्थ होते हुए भी मिजाजपुरी के लिए पहुंच जाते। अपनी तबीयत खराब होती तो चुपचाप अस्पताल में भर्ती हो जाते। अक्सर नेशनल हार्ट इंस्टीट्यूट में। यह प्रतिष्ठित अस्पताल उनके परिवार ने ही बनवाया था। वहां भी वह किताबों की संगत में रहते। बीमारी में वह अपने बिस्तर के आसपास जैन पूजांजली नामक पुस्तक जरूर रखते। कैलाश वाजपेयी उनके बहुत पुराने मित्र थे और उन्हें ज्योतिष का भी ज्ञान था। शायद उन्हीं के परामर्श से लगातार महामृत्युंजय का पाठ सुनते रहते। किताबें पढ़ने पर उनकी आंखों पर बहुत स्ट्रेन पड़ता था, उनकी कोशिश रहती थी कि कोई उन्हें पढ़ कर सुनाता रहे।

किताबें सुनाने के लिए वह किसी न किसी को पार्ट टाइम काम पर भी रख लेते। सुनाने वाला कोई उच्चारणगत भूल कर बैठता तो तुरंत उसकी छुट्टी कर देते। जब उनके पास सुनाने के लिए कोई न होता तो वह ज्ञानपीठ से कुमार अनुपम को बुलवाते। उन्होंने दो एक व्यक्ति इस काम के योग्य पाये थे, जो पाठ के साथ साथ उन्हें यह भी बता सकते थे कि कौन सी किताब ए प्लस है और कौन सी बी प्लस। यदि पढ़कर सुनाने के लिए कोई न मिलता तो एक आंख बंद कर बहुत नजदीक से पढ़ते। खाली वह एक मिनट नहीं बैठ सकते थे। करने को कुछ न होता तो फोन पर जुट जाते। उनका मन होता तो किसी मंत्री से भी बात कर लेते। नये से नये लेखकों से उनका सम्पर्क रहता। उन्हें खबर रहती कि कौन युवा रचनाकार क्या लिख रहा है। मैं 'ज्ञानोदय' का सम्पादन करता था, मगर कई बार उनकी जानकारी मुझसे अधिक अद्यतन होती। कई बार उनका कोलकाता जाने का कार्यक्रम होता, सीट कन्फर्म होती, मगर वह फ्लाइट छोड़ देते कि आज जाने का मन नहीं है। कई बार तो हफ्ता दस दिन लगा कर किसी अतिविशिष्ट व्यक्ति से मिलने का समय लेते और ऐन मौके पर फोन करवा देते कि आज आलोकजी नहीं आ पायेंगे।

एक बार जेठ की दुपहरी में किसी एस्टेट एजेण्ट से मुलाकात करने नोएडा गये। गर्मी इतनी उग्र कि गाड़ी से निकल कर उसके दफ्तर तक पहुंचने में बेहाल हो गये। पहुंचने पर मालूम हुआ कि लिफ्ट में भी कोई खराबी आ गयी है। किसी तरह हांफते हांफते और बीच में रुकते रुकते दूसरे तल्ले तक पहुंचे। रिसेप्शन पर पहुंचते ही चिल्लाये "ए.सी. क्यों नहीं चल रहा?"

"चल रहा है सर।" रिसेप्शनिस्ट बोला।

"और तेज करो।" उन्होंने कहा और सोफे पर लेट गये। उनका सेवक घबरा गया। इस प्रकार अचानक सोफे पर तो वह कभी निढाल नहीं होते थे। मालूम हुआ, मूर्छित हो गये हैं। मुंह पर ठंडा पानी छिड़का गया। ठंडे पानी से होंठ तर किये गये। डॉक्टर को बुलवाया गया। मगर जब तक डॉक्टर आता, वह होश में आ चुके थे। तब तक दफ्तर के दूसरे लोग भी जमा हो गये थे। आंख खोलते ही उन्होंने लेटे लेटे बहुत सादगी से पूछा "मैच का स्कोर क्या है?" उस समय यू.के. में भारत और ऑस्ट्रेलिया का एकदिवसीय क्रिकेट मैच चल रहा था।

उनके इस प्रश्न पर आसपास खड़े लोग अचम्भे में आ गये। वह उठ कर बैठ गये और बोले "भीतर चौधरी साहब किस फ्लोर पर हैं, मेरा इंतजार रहे होंगे। लिफ्ट ठीक हुई कि नहीं?" उठ कर वह खरामा खरामा लिफ्ट की तरफ चल दिये।

वे बीसियों बरस से दिल्ली में रह रहे थे। उनका ड्राइवर भी बरसों में उनके साथ था। दिक्कत तब आती जब वह छुट्टी पर चला जाता। नया ड्राइवर उनके यहां टिक न पाता। उनका स्वभाव

ऐसा था कि उनका साथ निभाना हर किसी के बस की बात न थी। तपन और संजय (झाड़वर) साथ रहते तो कम से कम एक मोर्चे पर निश्चिंत रहते। वर्ना उनकी जान को इतना बवाल था कि कोई सामान्य आदमी रण छोड़ कर भाग जाता। बहुत से जलालत भरे क्षणों का मैं अनायास गवाह बन जाता। एक रोज मेरे ही कक्ष में एक सरदार जी बड़े तैश से दाखिल हुए। सबके रोकते रोकते वह भीतर घुस आये थे। आते ही वह बहुत बेअदबी से आलोक जी से बोले कि आज तो वह अपने पैसे लेकर ही जायेंगे।

वह वहीं सोफे पर बैठ गया और निहायत बदतमीजी से बोलने लगा “हैसियत नहीं थी तो क्यों बुलवाते थे मेरी गाड़ियां।” वगैरह वगैरह। आलोक जी चुप, निःशब्द।

“कितने पैसे हैं बकाया?” मैंने पूछा।

“इन्हीं से पूछिये, जो शिमला, नैनीताल और न जाने कहां कहां के लिए लग्जरी गाड़ियां मंगवाते थे। अब चुप हैं, जैसे मुंह में जबान नहीं। डेढ़ साल से परेशान हूं। अब मेरा फोन भी नहीं उठाते। आज खबर मिली कि यहां हैं तो सारा कामकाज छोड़ कर भाग आया हूं। दो बार चैक बाउंस हो चुका है। मेरी शराफत देखिये केस तक फाइल नहीं किया। आज पूरा भुगतान लिए बिना टलूंगा नहीं। मुझे भी भुगतान करने होते हैं।”

“कितने रुपये हैं?” मैंने फिर पूछा।

वह जेब से रुक्के निकालने लगा “एक लाख बयालिस हजार के पर्चे तो मेरी जेब में हैं।”

वह अपशब्दों का इस्तेमाल करने लगा।

“आप मेरे दफ्तर में नहीं घुस सकते।” मैंने कड़ाई से कहा “अभी पुलिस बुलवा लूंगा। आप जानते नहीं आप किन्हें परेशान कर रहे हैं।”

“सब जानता हूं। आप क्यों कष्ट करते हैं, पैसे न मिले तो मैं खुद ही थाने चला जाऊंगा।”

आलोक जी चुप। एकदम शांत। सरदार तमाशा खड़ा करने का इरादा रखता था, मगर तभी उसे खबर मिली कि उसकी एक गाड़ी का कहीं खतरनाक एक्सीडेंट हो गया है। वह फोन सुनते सुनते खुद ही कमरे से लगभग भागते हुए निकल गया।

इसी तरह एक दिन एक फूल वाला भी नमूदार हुआ था। उसका भी लम्बा चौड़ा बकाया था। मित्रो, ज्ञानपीठ पुरस्कार विजेताओं, परिचित मंत्रियों वगैरह को देशी विदेशी फूलों के बुके भिजवाना भी उनका शौक था। उनकी सलतनत तबाह हो गयी थी, मगर शौक अब भी राजसी थे।

उनकी तबीयत कितनी भी नासाज क्यों न हो, ज्ञानपीठ पुरस्कार समारोह के अवसर पर सम्मानित रचनाकार की पुष्पगुच्छ से अगुवाई करने हवाई अड्डे पर जरूर पहुंचने की कोशिश करते और सम्मानित रचनाकार और उनके साथ पधारे उनके स्वजन जब तक इंडिया इंटरनेशनल सेण्टर में स्थापित न हो जाते, उनके साथ रहते। उनकी विदाई के समय में भी वह उपस्थित होते। वह लगातार निर्देश देते रहते कि उनके आतिथ्य में कोई कमी न रह जाये।

सौन्दर्य उन्हें आकर्षित करता था, वह फूलों का ही क्यों न हो। फूलों के इतिहास भूगोल के वह विश्वकोश थे। दिल्ली में कौन फूल किस मार्केट में उपलब्ध हो सकता है, इसकी उन्हें सही जानकारी रहती। किसी को याद करते तो उनके जेहन में फूल खिल उठते। मैं अस्पताल में भर्ती था, कोई दूसरा मिजाजपुरसी के लिए आये न आये, आलोकजी पहली फुरसत में लुढ़कते पुढ़कते वीलचेयर पर ही क्यों न आना पड़े, पुष्पगुच्छ सहित मेरी सुध लेने अवश्य आ जाते। सप्ताह में दो एक बार मेरा बेटा भी मुम्बई से भाग भाग आता था। एक दिन उससे बोले “बेटा मुम्बई में मेरा एक काम कर दोगे?”

“जी जरूर, बतायें।”

“मैं एक असाधारण और विरल बुके (पुष्पगुच्छ) तैयार करवा रहा हूँ। मुम्बई में अमिताभ बच्चन का घर हवाईअड्डे से ज्यादा दूर भी नहीं। मैं उसे फोन कर दूंगा, तुम बुके उस तक पहुंचा देना।”

अन्नू जैसे आसमान से गिरा, यह प्रस्ताव उसे बहुत नागवार गुजरा। उसने अपनी मार्केटिंग क्षमता का इस्तेमाल करते हुए कहा “आलोकजी, आजकल विमान में बुके क्या पानी तक ले जाने में पाबंदी है।”

“पिछली बार मुझे भी पानी नहीं ले जाने दिया था।” आलोकजी बोले। मैं जानता था, पाबंदी न भी होती तो अन्नू कभी भी यह काम हाथ में न लेता।

आलोकजी बताया करते थे कि कोलकाता में अमिताभ बच्चन कई बार खुद ड्राइव करके उन्हें दफ्तर पहुंचा आता था।

वर्ष 2011 में एक प्रयोग के तहत हम लोगों ने प्रसिद्ध कवि शहरयार के पुरस्कार वितरण समारोह में मुख्य अतिथि के रूप में अमिताभ बच्चन को आमंत्रित किया था। इस अवसर पर गुलजार ने शहरयार की कविताओं का एक संकलन सम्पादित किया था, वह भी मंच पर आसीन थे। बाद में सुप्रसिद्ध फिल्मकार मुजफ्फरअली जनता के बीच अंतिम पंक्तियों में नजर आये। आलोकजी मंच पर पधारे तो अमिताभ बच्चन ने उनके घुटनों तक झुक कर आदरपूर्वक अपने पार्श्व में आलोकजी को बैठाने में विनम्रता का परिचय दिया था। इससे पूर्व मंच के पीछे मैं देख चुका था, आलोकजी अपना ‘विरल और विलक्षण’ बुके अमिताभ को सौंप कर दायित्वमुक्त हो चुके थे। वह बहुत भव्य नजर आ रहे थे। आलोकजी सिल्क का कुरता पायजामा और कलात्मक कोल्हापुरी चप्पल पहन कर निकलते थे तो उनका कार्यांतरण एक भव्य, तेजस्वी और विराट व्यक्तित्व में हो जाता था। वरना उनकी धजा पिछली सदी के किसी शायरी के उस्ताद की तरह रहती थी, जो अपने लिबास के प्रति निहायत बेन्याज रहते थे। हालांकि उनकी रुचियां बहुविध थीं वह इतिहास, पुरातत्व, धर्म, दर्शन, साहित्य पर घंटों सार्थक बहस कर सकते थे।

एक बार उनका ड्राइवर छुट्टी पर गया हुआ था और गाड़ी सर्विस में थी। उन्होंने फोन करके गाड़ी मंगवायी। अपनी पोटियों से बहुत जुड़े थे। उनके साथ कुछ समय बिता कर एकदम तनावमुक्त हो जाते। रास्ते में एक फलों का बाजार दिखायी दिया। उन्होंने गाड़ी रुकवायी और मेरे ड्राइवर से कहा “चैरी, लुकाठ, लीची, अंगूर, आलूचे एक एक किलो ले आओ।”

दुकानदार खुद आकर कार की अगली सीट पर फलों की खूबसूरत डलिया रख गया और खड़ा रहा।

“चलो।” उन्होंने ड्राइवर से कहा।

“पैसे?”

“दे दें।”

“मेरे पास तो सिर्फ दस बीस रुपये हैं।” ड्राइवर ने बताया।

आलोक जी का पारा चढ़ गया “बदतमतीज। पैसे नहीं हैं तो मेरे साथ क्यों चलते हो? मुझे जलील करने के लिए यहां आये हो?”

“जी दो ढाई हजार का बिल है।”

“तो भाड़ में जाओ। मैं कालिया जी से शिकायत करूंगा, किस फटीचर को मेरे साथ भेज दिया। जाओ टोकरी छोड़ कर आओ।”

तपन के न रहने पर ऐसी परिस्थितियां अक्सर पैदा हो जाती थीं। उनका प्रबंधन वही कर सकता था। उसे दिल्ली की, सड़कों की भी अच्छी जानकारी थी। किस सड़क पर किस तरफ मुड़ना है वह अनजान ड्राइवर को भी निर्देशित करते हुए चलता। एक दफा संजय और तपन दोनों छुट्टी

पर थे। एक अस्थायी ड्राइवर मिला, वह नोएडा का था, दिल्ली की उसे कम जानकारी थी। वह कुतुब से लौट रहे थे, जहां दिल्ली सरकार से प्राप्त इंस्टीट्यूशनल एरिया में ज्ञानपीठ ने सांस्कृतिक गतिविधियों के लिए विशाल भवन का निर्माण कराया था। तमाम सुख सुविधाओं से लैस और सेण्टरली एयरकंडिशन। लौटते समय ड्राइवर रास्ता भटक गया। अचानक आलोक जी को लगा कि वह रास्ता भटक गया है। एक ऑटो स्टैण्ड पर वह गाड़ी से उतर गये और उन्होंने महारानी बाग के लिए ऑटो तय किया और उससे बोले “तुम आगे आगे चलो, हम गाड़ी में तुम्हारे पीछे चलेंगे।”

“मैं ड्राइवर को रास्ता समझा देता हूँ।” आटो वाले ने कहा।

“नहीं तुम्हीं चलो। मैं तुम पर भरोसा नहीं कर सकता।”

आलोक जी ने उसे सौ का एक नोट थमाया और बोले “बहस मत करो और चलो।”

अब आगे आगे ऑटो और उसके पीछे पीछे आलोक जी की सवारी। यू टर्न ही दो ढाई किलोमीटर बाद मिला। घर पहुंच कर न सिर्फ ऑटो का हिसाब किया, ड्राइवर का भी हिसाब साफ कर दिया। वह बहुत प्रसन्न थे कि एक मामूली सी गलती पर उनकी अमूल्य उर्जा नष्ट नहीं हुई और बगैर चीखे चिल्लाये, शांति से घर पहुंच गये। ऐसे सुनहरे अवसर उनके जीवन में कम ही आते थे। देखा गया था कि वह किसी भी छोटी सी बात को प्रतिष्ठा का प्रश्न बना लेते थे। एक बार एक सम्पादकीय सहयोगी, जो एक बैंक से अवकाश ग्रहण करने के बाद ज्ञानपीठ परिवार में सम्मिलित हुआ था और जिसके चाचा हिन्दी के सुपरिचित कथाकार थे, छुट्टी के दिन दोपहर के भोजन के बाद सौजन्य भेंट के लिए आलोक जी के यहां पहुंचा। उसने एक बार घंटी बजायी, कोई सुगबुगाहट न हुई, दोबारा घंटी पर हाथ रखा। आलोक जी सपरिवार दोपहर का भोजन कर रहे थे, उन्होंने संजय को दौड़ाया, देखो कौन बदतमीज घंटी पर घंटी बजा रहा है।

संजय उन्हें पहचानता था, आदरपूर्वक भीतर ले आया। आगंतुक ने हाथ जोड़ कर अभिवादन किया।

“आप कौन हैं? भीतर आने का दुःसाहस कैसे किया। जाइये, फौरन सामने से हट जाइये।”

“जी ज्ञानपीठ से आये हैं।” संजय ने परिचय दिया।

“जी मैं अमुक जी का भतीजा हूँ। आप उनसे परिचित हैं।

“मैं ऐसे गैर लोगों को नहीं जानता। तपन तपन।” आलोक जी ने पुकारा और कहा “इन्हें धक्के देकर बाहर निकाल दो।”

उन्होंने भोजन भी छोड़ दिया और उठ कर अपने कमरे की ओर चल दिये।

सहायक सम्पादक किसी तरह जान बचा कर वहां से निकला। आलोक जी का इतना आतंक रहता कि जब वह क्रोध में हों तो घर के लोग भी चुप्पी साधने में खेरियत समझते थे।

अगले रोज मैं दफ्तर पहुंचा तो आलोक जी मुझसे भी पहले मेरे कक्ष में बैठे थे।

“आपको मेरा एसएमएस मिला?”

मैंने एसएमएस चेक भी किये थे। उनके सामने ही खोल कर पढ़ने लगा “कल आपके एक सहयोगी ने भोजन के समय बगैर इजाजत मेरे घर आकर मेरा और मेरे परिवार का अपमान किया है। उसे आज की तारीख में ही सेवामुक्त कीजिये।”

“आपका संदेश मैंने पढ़ लिया है।” मैंने कहा।

वह रात के ही कपड़ों में स्लीपर पहने चले आये थे। उठे और उठ कर चल दिये। यह कोई नयी बात नहीं थी, वह बीसियों बार ऐसी वेशभूषा में आ चुके थे। मैं समझ रहा था, इस मुद्दे को उन्होंने प्रतिष्ठा का प्रश्न बना लिया था। थोड़ी देर बाद प्रबंध न्यासी का फोन आया कि किसने आलोक जी को इतना आहत कर दिया है कि वह अत्यंत अपमानित महसूस कर रहे हैं? मैंने बताया। उन्होंने

उक्त कथित आरोपी से बातचीत की। वह मासूमियत में चला गया था, वास्तव में उसके चाचा ने कभी आये आलोक जी के फोन से भ्रम पाल लिया था कि वह उनके प्रिय लेखकों में से रहे हैं। वास्तविकता यह थी कि उन्हें कोई रचना पसंद आ जाती तो फौरन फोन मिला कर बात कर लेते। आधे घंटे बाद वह उस लेखक का नाम तक भूल जाते थे।

“मां कसम मैं तब तक ज्ञानपीठ नहीं आऊंगा, आप जब तक उस असभ्य व्यक्ति को बर्खास्त नहीं करते।” आलोक जी मुझे और प्रबंध न्यासी को बार बार चेतावनी दे रहे थे। हालांकि उनके आने या न आने का ज्ञानपीठ के कामकाज में कोई अंतर न पड़ता था, बल्कि उनके आने से कुछ दुश्वारियां जरूर बढ़ जाती थीं। उन्हें ज्ञानपीठ के न्यासमंडल की बैठकों में ही अपनी बातें रखनी चाहिए थीं, मगर उसे वह महज एक औपचारिकता से अधिक महत्व देना नहीं चाहते थे, जबकि वहां लिए गये निर्णयों पर ही अमल होता था। न्यासमंडल में वह हमेशा अकेले पड़ जाते थे। वह अकेले दम पर ही कई बार अपनी बात मनवा लेते। उनकी किसी मामूली सी बात पर तुरंत रजामंदी हो जाती। वह अंत तक इस मुद्दे को लेकर जमीन आसमान एक करते रहे कि न्यास में पारिवारिक संतुलन कायम रखने के लिए उनकी पत्नी को न्यासमंडल में लिया जाना तर्कसंगत है, पर अपने इस अभियान में वह मृत्युपर्यंत सफल न हो पाये।

उनका पर्यवेक्षण कई बार चौंकाता था। वह बहुत दिनों से एक व्यक्ति को बहुत ध्यानपूर्वक देखा करते थे। एक दिन अचानक बोले “मैं बहुत दिनों से उसे देख रहा था कि एक दिन अचानक महसूस हुआ कि चेहरे से वह समलैंगिक नजर आता है।”

मैं मुस्कराये बिना न रह सका। मुझे इस बात की भनक थी।

अक्सर उन्हें फुर्सत मिलती तो अपने एक बहुत पुराने मित्र के कार्यालय चले जाते थे। एक दिन लौटे तो हस्वेमामूल पेट पर हाथ रख कर कुछ देर हांफते रहे, फिर तपन को बुला कर पानी मांगा। उनका पानी हमेशा हरे रंग का होता। मुझे हर बार यह जानने की जिज्ञासा होती कि वह हरे रंग का पानी क्यों पीते हैं? उस दिन मैंने पूछ ही लिया।

वह मुस्कराये। उन्होंने तपन की तरफ देखा, जैसे कह रहे हों, तुम बताओ हम बतलायें क्या? तपन बोला “बाबू जी, घर से चलने से पहले पानी में एक चम्मच पुदीनहरा मिलवा लेते हैं, ताकि पेट में एसिडिटी न हो।”

“किसने बताया यह विधि?” आलोक जी आंखें बंद किये, मुस्कराते रहे।

“यह इन्हीं की रेसिपी है।”

एक दिन अपने मित्र के कार्यालय से लौटने पर बहुत परेशान हाल लग रहे थे, बोले “अब अपने मित्र से मिलने उसके दफ्तर नहीं जाऊंगा।”

“ऐसा क्या हो गया?”

“मेरे देखते देखते, वह दफ्तर कम हरम बनता जा रहा है। उसकी पत्नी थीं वहीं वर्ना मैं भाभी को भड़का देता। बहरहाल, किसी दिन ऐसा डांट दूंगा कि घिग्घी बंध जायेगी।”

इन वर्षों में उनकी अपनी क्षमताओं से मैं अवगत हो चुका था। किसी को रुलाना, अपमानित करना, जलील करना उनके बायें हाथ का काम था। आये दिन मैं यह चमत्कार देखता रहता था। किसी को आसमान पर बैठा देते और किसी को धूल चटा देते।

एक दिन हिन्दी की एक सुपरिचित और सभ्य लेखिका का लगभग क्रंदन करते हुए फोन मिला। मैं उस लेखिका की समृद्ध और समादृत पृष्ठभूमि से परिचित था। पति बिहार प्रशासन में ऊंचे पद पर थे, बच्चे भी सिविल सेवा में सम्मानजनक पदों पर थे और वह अत्यंत शालीन महिला थी।

मालूम हुआ आलोक जी के परिवार से उनके पारिवारिक सम्बंध थे। एक दूसरे के घरों में आना जाना था। आज उन्होंने आलोक जी को अत्यंत उत्साह से फोन किया तो वह फोन पर डांटने लगे “आपने मुझे फोन क्यों किया? क्या चाहती हैं मुझसे? मैं नहीं जानता, आप कौन हैं और मुझसे और मेरे परिवार से क्यों रिश्ता जोड़ रही हैं?”

यह सब बताते हुए वह इतना विह्वल हो गयीं कि फोन रख दिया। यह सुन कर मेरे भी होश फाख्ता हो गये। मुझे बहुत खराब लग रहा था कि वह सुशिक्षित महिला इस कदर आहत हो गयी हैं। थोड़ी देर बाद मैंने उन्हें फोन मिलाया। वह कुछ संयत लग रही थीं। मैंने बताया कि आलोक जी अपनी निजी समस्याओं से इतना घिरे रहते हैं कि उन्हें महसूस होता है कि हर फोन कॉल कोई नयी मुसीबत लेकर आने वाली है। आप एकदम सामन्य हो जायें। वह आपसे ही नहीं किसी से उस क्षण ऐसा ही व्यवहार करते। कोई बात हो तो मुझसे कहिये। आपकी शुभकामनाएं उनके परिवार तक जरूर पहुंचा दूंगा। वे लोग सुन कर खुद ही आपसे सम्पर्क करेंगे।

कितने किस्से बयान करूं। मैं अक्सर सोचा करता था कि जीवन में कभी अवसर मिला तो आलोक जी को केन्द्र में रख कर एक उपन्यास लिखने की कोशिश करूंगा। जिन्दगी मुझे खुद ऐसे मोड़ पर ले आयी है कि मैं किसी लम्बी रचना की योजना बनाना नहीं चाहता। कांग्रेस कल्चर पर एक उपन्यास दिल की तरह टुकड़े टुकड़े कोई यहां पड़ा कोई वहां पड़ा है।

मैं लगभग दस वर्ष तक उनके साथ में रहा। इन दस वर्षों में उन्होंने कभी अपने बारे में, अपने अतीत के बारे में, अपनी समृद्धि या अपनी गर्दिश के बारे में भूले भटके भी जिक्र तक न किया। पचास बरस पूर्व वह औद्योगिक जगत के सबसे चमकदार सितारे थे। भारत के मुट्ठी भर धनवान व्यक्तियों में प्रमुख स्थान रखते थे। विदेश का कोई ऐसा खर्चीला स्थान या शहर न होगा, जहां वह न गये हों, पानी के जहाज से नहीं हवाई जहाज से। वह दिलचस्पी से लोगों के यात्रा वृत्तांत सुनते, परंतु कभी अपनी यात्राओं का उल्लेख तक न किया। जीवन के अंतिम कठोर दिनों से भी गुजरते हुए कभी अपने अतीत की महिमा का गान तो क्या स्मरण तक नहीं किया। वह वर्तमान में डटे रहते थे और भविष्य के ख्वाब बुनते थे। उनके ये ख्वाब उनके साथ ही दफन हो गये। देश के तमाम समाचार पत्रों और इलेक्ट्रॉनिक चैनलों में उनके मित्रों, अनुयायियों और कृपापात्रों की अच्छी खासी जमात थी, वह दुनिया से रुखसत हुए तो अधिसंख्य तमाम समाचारपत्र, चैनल खामोश थे। उनके निधन से अगर कोई आंदोलित था तो वह था सोशल मीडिया, जिसकी तरफ उनका अधिक रुझान न था। उनकी मृत्यु के कुछ ही क्षणों बाद सोशल मीडिया सक्रिय हो गया। सैकड़ों आम और विशिष्ट लोगों ने शोक संवेदनाएं प्रेषित कीं। यह सिलसिला कई दिनों तक चलता रहा। एक शुरुआती ‘पोस्ट’ के साथ विराम देता हूं। युवा समीक्षक राहुल सिंह ने उन्हें याद करते हुए लिखा था

अप्रैल 27, 2015, 11:30

फेसबुक के मार्फत ही जानकारी मिली कि ज्ञानपीठ के न्यासी आलोक जैन नहीं रहे। दिल्ली प्रवास के दौरान ज्ञानपीठ आना जाना लगा रहता था। युवा पीढ़ी की कहानियों पर केन्द्रित दो अंकों में शामिल कहानियों पर एक प्रतिक्रिया मैंने दी थी, जो ‘युवा पीढ़ी का एलबम’ शीर्षक से जुलाई 2007 के नया ज्ञानोदय में प्रकाशित हुई थी। दरअसल इसके पीछे की कहानी यह थी कि एक दिन रवीन्द्र कालिया जी के चैम्बर में बैठा था, तब आलोक जैन आये। और उन्होंने मुझसे पूछा कि आप कौन? फिर उन्होंने पिछले दो अंकों में छपी कहानियों के बारे में बारी बारी से पूछना शुरू किया कि इस कहानी को दस में से कितने अंक दोगे? यकीन मानिये उन्होंने वे सारी कहानियां बहुत ढंग से पढ़ रखी थीं। पंखुरी सिन्हा की कोई कहानी थी, जिस पर मेरी राय से वे सहमत नहीं थे। और उन्होंने उस कहानी में यू

टर्न की जो व्याख्या की थी वह मेरी समझ से ज्यादा बेहतर थी। बहरहाल, उसके बाद उन्होंने कहा कि तुम पहले हो जिसने इनके (रवीन्द्र कालिया) सामने कहानियों के बारे में सच कहने का काम किया है। फिर उन्होंने पूछा कि फलाने की और कौन कौन सी कहानी पढ़ी है। मैंने कहा कि ज्यादा नहीं दो एक पढ़ी हैं। तब उन्होंने युवा रचनाकारों के तब तक प्रकाशित कहानी संग्रहों का एक पूरा सेट मुझे उपहार में दिलवा दिया। युवा कहानीकारों को पढ़ने की शुरुआती सामग्री उन्हीं की दी हुई है। बाद के दिनों में जब कभी मिलते, हमेशा इसी सवाल से शुरुआत होती आप कौन? मुझे बेहद अजीब लगता कि हर दफा कुछ किताबें पढ़ने को दे देते हैं, दिला देते हैं, पर मिलो तो पूछते हैं आप कौन? बाद में दो एक दफा कहा कि ऐसा किया करो तुम आकर मुझे कहानी पढ़ कर सुना जाया करो, बदले में मैं तुम्हें कुछ महीने में दे दिया करूंगा। यह फकत मेरी बेरोजगारी के मददेनजर उनकी मदद की सदाशयता थी। एनएसडी में बाणभट्ट की आत्मकथा का मंचन होना था, वे अपनी कार में ड्राइवर के संग आये थे। जब ड्राइवर ने बताया कि अभिमुख या सम्मुख में होना है, तो बोले उतनी दूर नहीं जा सकता वापस चले गये। कुंवर नारायण जी को ज्ञानपीठ मिला था। उस समारोह में भी उन दिनों दिल्ली रहने के कारण अपने दोस्तों के संग गया था। वहां भी आलोक जी आप कौन वाली मुद्रा में ही मिले। लेकिन कहा कि कल 1 बजे घर पर आ जाओ। घर पहुंचा तो पहली बार बोले मैं इंतजार कर रहा था। फिर भीतर चले गये। भीतर से उनके घर का रसोइया एक प्लेट में खाना सजा कर ले आया बेहद सादा खाना। पर उतने नर्म और लजीज पराठे मैंने जीवन में दोबारा नहीं खाये। जीवन में कुछ जायके जिनको कभी भी आंख बंद कर जबान में जिन्दा किया जा सकता है, वह उन जायकों में से एक है। फिर अचानक आये और पूछा कि पापड़ लोगे? मैंने कहा कि ले लूंगा। बोले उड़द का, मूंग का और न जाने किस किस का। उस दिन मुझे लगा कि यार पापड़ भी इतनी तरह के होते हैं। मैंने कहा कोई सा भी। खाना खत्म करने के बाद बोले कि ठीक है फिर मिलते हैं। बस इतना ही कोई बात नहीं। चलने को हुआ तो बोले कि रुको कुछ किताबें लिये जाओ। जैन धर्म दर्शन और कई विषयों पर जिनमें मेरी कोई दिलचस्पी नहीं थी, यह कहते हुए जबरदस्ती दे दिया कि इन्हें भी कभी वक्त निकाल कर पढ़ो। उन्हें जानने वाले लोग उन्हें खबती, सनकी और झक्की तक माना करते थे। पर उनकी खब्त, झक्क और सनक आज के बहुत से विचारवान, सुसंस्कृत और पेशेवर लोगों से कहीं ज्यादा पवित्र और सात्विक सी थी। उनके निधन से सच में किसी सगे को खो देने जैसा अहसास हो रहा है। हालांकि वे अब भी इसे पढ़ रहे होंगे कहीं तो यही सोच रहे होंगे कि यह राहुल सिंह कौन?

‘बनमाली गो तुमि पर जनमे होइयो राधा’*

गरिमा श्रीवास्तव

दिल्ली से मास्को की हवाईयात्रा बहुत सुखद नहीं रही है, शेरमेट हवाईअड्डे पर बर्फ की मोटी चादर ने ज्यों दृष्टि बाधित कर दिया है जहाज के चौड़े पंखों पर जमी बर्फ को लगातार गर्म पानी की बौछारों से पिघलाया जा रहा है। बर्फ की सफेदी और विस्तार भयकारक सा है। ढेर सारे टर्मिनल और उनके बीच की लम्बी दूरियां जो अपने पैरों ही तय करनी हैं प्रतीक्षा पंक्तियां, सम्प्रेषण की भाषा रशियन, अब तक की सीखी भाषाएं दामन छुड़ा असहाय कर गयी हैं कदम कदम पर कड़ी सुरक्षाजांच आपकी मनुष्यता पर विश्वास करने को कोई तैयार नहीं। जाग्रेब के लिए यहीं से दूसरी उड़ान लेनी है, पर अभी तक मालूम नहीं कि पहुंचना किस टर्मिनल पर है, यूरोप जाने का उत्साह मंद हो चला है जबकि यात्रा तो अभी शुरू ही हुई है। टी.एस. इलियट ने कभी पूछा था डू आई डिस्टर्ब द यूनिवर्स, वही बात खुद से पूछती हूं मेरे लिखने न लिखने से क्या फर्क पड़ता है। दुनिया में सैकड़ों लोग अपने अनुभव, सुख दुख, उपलब्धि, संघर्ष, राग द्वेष की गाथाएं लिख कर चले गये उन्हें यह कभी मालूम ही नहीं चला होगा कि उनका लिखा किसने पढ़ा, किसका जीवन उससे बना बिगड़ा या किसी को जीवन पाथेय मिला। जो भी हो अनुभूतियां बांटने के लिए ही होती हैं लेकिन उन्हें व्यवस्थित और तरतीबवार ढंग से रख पाना सम्भव होता है क्या? क्योंकि तरतीब तो उनके आने में भी नहीं होती।

पिछले डेढ़ महीने से यहां हूं। दक्षिण मध्य यूरोप के एड्रियाटिक समुद्र के किनारे छोटे से शहर जाग्रेब में। परिचितों, मित्रों में से कुछ क्रोएशिया को एशिया समझते हैं, उनका कहना है इतनी ठंड में यूरोप जाने की जरूरत भी क्या है? कैसे बताऊं कि अपने ही कदमों से दुनिया को नाप लेने की

*ओ कृष्ण तुम अगले जन्म में राधा बनना'- बाउल गीत की पंक्ति

तमन्ना मुझे यहां ले आयी है। बचपन में चार साल बड़ी बहन को स्कूल ड्रेस, जूते बस्ते समेत स्कूल जाता देख मेरा मन मचल जाता, मां ने ढाई साल की उम्र में स्कूल भेजना शुरू कर दिया था। समय के पहले, पांच में पहने कद से बड़े जूतों ने स्कूल के बंद अनुशासन के बीच खड़ा कर दिया। बचपन का खेल तो ही नहीं पाया। भारतीय सांस्कृतिक सम्बंध परिषद्, जाग्रत विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग खोलना चाहता था मुझे वही अवसर मिला है कि मैं दो वर्ष तक यूरोप में रह सकूँ। छात्र उत्साहित हैं। अतिथिगृह से विश्वविद्यालय सिर्फ दो किलोमीटर पर है इसलिए पैदल चलना अच्छा लगता है। यातायात और संचार सुविधा काबिलेतारीफ है, समूचा क्रोएशिया आंतरिक तौर पर आठ राष्ट्रीय राजमार्गों से सम्बद्ध है। विश्वविद्यालय इवाना चेलाचीचा में है और भारतीय दूतावास कुलमरेस्का पर। गनीमत है कि दूतावास बार बार जाने की जरूरत नहीं पड़ती। राजदूत प्रदीप कुमार विनम्र और अनुशासनप्रिय हैं, जो अकसर भारत के दौरे पर रहते हैं और द्वितीय सचिव दूतावास की व्यवस्था देखते हैं। कर्मचारी और अधिकारी शालीन हैं श्रीमती पासी हैं, आर्यन हैं, जिनसे हिन्दी में बात करने का सुख है। तीन मंजिला सफेद इमारत, साफ सुथरी सजी संवरी लेकिन जिन्दगी ज्यों धड़कना भूल गयी हो यहां, इसलिए इंडोलॉजी विभाग के मुखिया प्रो. येरिच मिस्लाव से अनुरोध किया है कि वे मेरी व्यवस्था विश्वविद्यालय के नजदीक ही करें। सिएल्ना सेस्ता (फूलों की गली) की पांचवी मंजिल पर एलविश मेस्त्रोविच के फ्लैट में मुझे ठहरने को कहा गया है फ्लैट सुंदर और सुख सुविधा वाला है। यह पर्याप्त है मेरे लिए। भारत से लायी सभी चीजें जमा ली गयी हैं। लैपटॉप को विशेष जगह दी गयी है क्योंकि आने वाले दिनों में वही एकमात्र दोस्त बचा रहने वाला है। अकसर तापमान शून्य से चार छह डिग्री कम रहता है। धूप कभी कभी निकलती है वो भी थोड़ी देर के लिए। धूप में भी कंपा देने वाली ठंड होती है। रविवार का दिन है। घड़ी को अभी मैंने भारतीय समय पर ही रहने दिया है। भारतीय समय से साढ़े चार घंटे पीछे नाश्ता लिया है दलिया और फ्रूट कर्ड। थोड़ा सोने को जी चाहा है। नींद में अपने देश में हूँ, कभी भाई बहनों के साथ, कभी शांतिनिकेतन में मंजू दी के साथ। रतनपल्ली वाले घर में चैताली दी के साथ साईं बाबा को लेकर उनकी शाश्वत अडिग आस्था का मजाक उड़ाना चल रहा है। दूध के पतीले में अचानक उबाल आने पर वे 'जयसाईं', 'जयसाईं' कहते हुए फूंक मारने लगतीं, मेरे कहने पर कि गैस की नॉब बंद कीजिए, उसके लिए साईं बाबा अवतार नहीं लेंगे, वे मुझ पर नाराज हो जाया करती हैं। दिल्ली में मां होली पर पुए बना रही है मैदा, घी, चीनी, दूध, मेवे के घोल को खूब फेंट कर सधे हाथों से गर्म घी में छोड़ती है छन्न की आवाज के साथ फूल जैसा पुआ आकार लेने लगता है, उसके बाद बारी आती है गर्म मसाले में पके कटहल के सालन की। और लिट्टी वह जो दादी बनाती हैं, उसका कोई जवाब नहीं। बैंगन के चटखदार चोखे के साथ खूब सत्तू, लहसुन और अजवायन से भरीपुरी जवां लिट्टी ये सारे व्यंजन अपने रूप रस गंध के साथ आंखों के आगे परसे चले आ रहे हैं। मंजू दी शांतिनिकेतन में मटर की कचौड़ी बनाती थीं, गांधी पुण्याह पर हरिश्चंद्र जी का बनाया सुगंधित सूजी का हलवा... जुबां पर स्वाद के कण अभी बाकी हैं... जोर की घरघराहट के साथ चौंक कर आंखें खुलती हैं कमरे में घुप्प अंधेरा कहीं कोई नहीं, अपना होना ही शंकालु बना रहा है

काबे की है हवास कभी कुए बुतां की है
मुझको खबर नहीं, मेरी मिट्टी कहां की है

दाग देहलवी

कहां हूं मैं? मेडिकल की तैयारी कर रही दीदी ने कहीं बत्ती तो नहीं बुझा दी, वो दिन में सोती है, सारी रात पढ़ती है, मुझे पुकार कर कहती है सोनी तू सोती ही रहेगी पढ़ेगी कब? उक्की कहां

है? अमरुद के पेड़ के नीचे सहेली के साथ लकड़ी का स्कूल उल्टा करके गुड़िया का खेल रच रही होगी... देखो उसने फिर उल्टी चप्पल पहन ली, इतनी छोटी है लेकिन बहुत स्वाभिमानी और स्वतंत्र चेता, किसी के साथ नहीं सोती... मम्मी के जाने के बाद बुआ के साथ भी नहीं। चार साल की उम्र में ही उसकी अकेली दुनिया है। चप्पल पहनूं, उठूं कि हिन्दू कॉलेज के दोस्त बुलाने चले आये हैं दो अध्यापकों डॉ. हरीश नवल और सुरेश ऋतुपर्ण ने अपने घर बुलाया है खाना पीना, मौज मस्ती करके शाम ढले स्मिता दी के साथ घर लौटती हूं। लो आज आ गयी शामत डॉ. कृष्णदत्त पालीवाल की क्लास है उन्होंने दुर्वासा सी भविष्यवाणी कर दी है तुम सब कहीं नहीं पहुंचोगे... कहीं नहीं.. . कहीं नहीं... तो पहुंची कहां हूं... करवट बदल कर, जोर लगा कर उठने की कोशिश में आंखें मुंदी चली जा रही हैं टोंस वैली से लगातार बंदूक की गोलियां दागने की आवाजें आ रही हैं। यह मेरी पहली नौकरी है भारतीय सैन्य अकादमी में अफसर बनाने के लिए जेंटिलमैन कैडेट्स को पढ़ाना है सुबह का सायरन बज रहा है, बैरक से निकल कर आर्मी कैडेट कॉलेज विंग की ओर जाने वाली गीली सड़क पर अंधेरे में चल रही हूं। सड़क के किनारे लैम्प पोस्ट टिमटिमा रहे हैं। बारिश की बूंदें पोस्ट पर चिपक सी गयी हैं। कैडेट्स सस्वर कदमताल करते हुए सैल्यूट देकर आगे बढ़ जाते हैं। झुंड के झुंड गुजर रहे हैं... कहां हूं मैं, घंटी की आवाज है, उठ कर दरवाजा खोलना पड़ता है। मुझे भौंचक देख मुस्करा कर केशो कर्नल हाथ मिलाते हैं यह दोस्ती की गर्माहट से भरा पुरसुकून स्पर्श है वे जाग्रेब विश्वविद्यालय में संस्कृत पढ़ाते हैं कंट्रिक्ट पर। दरवाजे के खुलने से ठंडी बर्फीली हवा का झोंका भीतर आ गया है, जिसने अवचेतन से चेतन में ला पटक है केशो मेरी छोटी मोटी दिक्कतें समझते हैं, लैपटॉप पर स्काइप इंस्टाल कर रहे हैं और भारत में फोन पर बात करने के लिए व्हाइप भी। अभी दिन के सिर्फ तीन बजे हैं लेकिन अंधेरा घिर आया है, कौआनुमा एक बड़ा सा पक्षी लैम्प पोस्ट पर आ बैठा है। ओवरकोट में ढंके लिपटे इक्का दुक्का लोग सड़क पर दीख रहे हैं मैं जाग्रेब में हूं और यहीं रहना है दो साल तक। सोचती हूं दो साल बहुत लम्बा समय है मौसम हमेशा धुंधलाया सा रहता है कैण्टीन में शाकाहारी भोजन की दशा ठीक नहीं। यहां के लोगों को भारतीय व्यंजन बहुत पसंद हैं। कहते हैं कभी तुर्कबाना येलाचीचा (जाग्रेब का केन्द्र) में किसी ने भारतीय रेस्टोरेण्ट खोला था किसी वजह से कालकवलित हो गया। वैसे मांसाहारी भोजन के लिए क्रोएशिया पूरे यूरोप में प्रसिद्ध है। ताजा पानी की मछली, गोमांस, सुअर का मांस और मेडिटेरियन ढंग से बनी सब्जियां यहां की खासियत हैं। ठंडे मौसम में पशु मांस के बड़े बड़े टुकड़ों को लोहे के हैंगरों में टांग दिया जाता है। बंद कमरे में जलती लकड़ियों के धुएं में वह टंगा मांस पकता है। धुएं की परत संरक्षक का काम करती है। इसे 'स्मोक्ड मीट' कहा जाता है। इसकी पाक विधि काफी प्राचीन है और लोकप्रिय भी। जैतून का तेल भी यहां काफी प्रयोग होता है।

सिएल्ता सेस्ता में घरों के दरवाजे काफी चौड़े और मोटे हैं, मुख्यद्वार स्वतः बंद हो जाते हैं। अभ्यास न होने के कारण फ्लैट का दरवाजा बाहर से दो बार लॉक हो चुका है। सामने के फ्लैट में द्रागित्सा रहती हैं जिन्हें अंग्रेजी नहीं आती और मुझे क्रोएशियन। उनका लम्बा समय इटली में बीता है, जर्मन और इतालवी जानती हैं, वे क्रोएशियन, अंग्रेजी शब्दकोश खरीद लायी हैं, लगभग सत्तर वर्ष की चाक चौबंद युवा हैं। हां युवा ही, क्योंकि जीवन के इस पड़ाव पर ही पहली बार तनावमुक्त, उन्मुक्त जीवन जी रही हैं। सुंदर गोल चेहरा, रोमन नाक और कटे हुए सुनहरे बाल हमेशा व्यस्त रहती हैं। उन्होंने फ्लैट के सामने फूलों के पौधे लगा रखे हैं, बेटी तान्या और नातिन नादिया सप्ताहांत में आती हैं। पैंतीस वर्षीय बेटा इगोर कलाकार है जिसे बेरोजगारी के आलम ने उदास और तिक्त बना दिया है। द्रागित्सा के पास फ्लैट की अपनी चाभी है, इगोर की अनियमित दिनचर्या का ज्यादा

प्रभाव उस पर नहीं पड़ता। ऐसा वे कहती हैं लेकिन आंखें कुछ और कहती हैं ये धुर पश्चिम है जहां माता पिता 17 वर्ष की उम्र के बच्चों को मित्र मानते हैं। देख रही हूं, दिनोंदिन यह अंतराल कम ही होता जा रहा है। नादिया के ऊपर इस्तहान पास करने का तनाव इतना है कि सिगरेट के बिना नहीं रह पाती। इस्तहान में फेल होने पर क्या करेगी, वह जानती नहीं। कहती है “आप क्या सोचती हैं, सिर्फ बड़े लोग ही तनावग्रस्त होते हैं। मुझे घर में रहना, पढ़ना बिल्कुल पसंद नहीं, सोचती हूं कब बड़ी होकर संगीतकार बनूं या फिल्म में काम करूं।” उसकी मां तान्या बेटी के लिए बहुत चिन्तित रहती है। वह दुबरावा के सरकारी अस्पताल में रेडियोलॉजी विभाग में तकनीकी सहायक है। दो तलाक हो चुके हैं और ‘रिएका’ के म्लादेन नाम के व्यक्ति से भावनात्मक जुड़ाव है। अपने सम्बंध को लेकर सदैव सशंकित रहती है, नौकरी से छुट्टी मिलते ही ‘रिएका’ चली जाती है। इधर उसकी बेटी नादिया रात भर घर से गायब रहने लगी है। तान्या कहती है जो गलतियां मैंने कीं, चाहती हूं मेरी बेटी न करे, तुम्हारा देश अच्छा है जहां बच्चों पर अभिभावकों का कठोर नियंत्रण रहता है। वह नादिया को डांटने फटकारने से डरती है।

हम समुद्र के किनारे किनारे लांग ड्राइव पर जा रहे हैं। बायीं तरफ ड्राइविंग स्वील अटपटा लगता है। पास में अंतरराष्ट्रीय लाइसेंस भी नहीं है। तान्या लगातार अपनी व्यथा कथा कह रही है, उसे अंग्रेजी में बात करना सुहाता है, कई बार क्रोएशियन शब्दों के अंग्रेजी पर्याय ढूंढने के चक्कर में बातचीत बाधित भी होती है। समुद्र के किनारे किनारे लैवेंडुला (लैवेंडर) की झाड़ियां हैं। पौधे दो से ढाई फुट ऊंचे। लैवेंडर की गंध समुद्र की नमकीन गंध के साथ मिल कर पूरे दक्षिणी यूरोप की हवा को नम बनाये रखती है। फ्रांस में तो लैवेंडर को भोजन में भी प्रयुक्त किया जाता है। कीटाणुनाशक सुगंधित लैवेंडर क्रोएशिया और यूरोप के अन्य भागों में निद्राजनित रोगों की औषधि है। जैसे क्रोएशिया पर्यटन और शराब उत्पादन के लिए मशहूर है। तान्या ने यह सूचित करते हुए पीने की इजाजत मांगी है कि उसका गला सूख रहा है। लगभग 641.355 वर्गमील में फैला जाग्रेब क्रोएशिया का सांस्कृतिक प्रशासनिक केन्द्र है जो मूलतः एक रोमन शहर था जो सन् 1200 में हंगरी के नियंत्रण में आ गया। सन् 1094 ई. में पहली बार पोप ने जाग्रेब में चर्च की स्थापना कर जाग्रेब नाम दिया। जर्मन में इसे ‘अग्रम’ कहा जाता है।

जाग्रेब और क्रोएशिया का इतिहास युद्ध का इतिहास है, सन् 1991 तक संयुक्त यूगोस्लाविया का अंग रहा क्रोएशिया अपने भीतर युद्ध की अनगिन कहानियों को लिए हुए मौन है। स्लोवेनिया, हंगरी, सर्बिया, बोस्निया, हर्जगोविना और मांटेंग्रो से इसकी सीमाएं घिरी हैं। आज के 21,851 वर्गमील में फैले क्रोएशिया ने एक तिहाई भूमि युद्ध में खो दी। 15 जनवरी 1992 को यूरोपीय आर्थिक संगठन और संयुक्त राष्ट्रसंघ ने इसे लोकतांत्रिक देश के रूप में मान्यता दी। इसके बाद भी तीन वर्ष तक अपनी भूमि वापस पाने के लिए 1 अगस्त 1995 तक उसे सर्बिया से लड़ना पड़ा और यूरोपीय यूनियन की सदस्यता तो उसे अभी हाल में 1 जुलाई 2013 को मिल पायी। इतने लम्बे युद्ध के निशान अभी तक धुले पुंछे नहीं हैं। उनकी शिनाख्त के लिए मुझे दूर नहीं जाना पड़ा। इटली और फ्रांस घूमने की इजाजत मिलने पर दूतावास ने मुझको दुशांका सम्राजिदेता की दूरिस्ट कम्पनी का पता दिया।

दुष्का का जीवन क्रोएशियाई सर्व युद्ध का जीता जागता इतिहास है। कहीं पढ़ा था, युद्ध कहीं भी हो, किसी के बीच हो, मारी तो औरत ही जाती है। युद्ध ने दुष्का के जीवन को ही एक युद्ध बना दिया। युद्ध में सबों ने क्रोआतियों को मारा उनके घर जला दिये, बदले में क्रोआतियों ने पूरे क्रोएशिया को सर्वविहीन करने की मुहिम छेड़ दी। लोग भाग गये या मारे गये। दुष्का के मां बाप युद्ध के दौरान बेलग्रेड होते हुए अपनी बेटियों के पास पहुंच नहीं पाये। दुष्का को बिना नोटिस दिये नौकरी से निकाल

दिया गया। अब वह केवल 'सर्ब' थी मनुष्य नहीं, अड़ोसी पड़ोसी घृणा से इन दो सर्ब बहनों को देखते थे। जंग जोरों पर थी, अमेरिका की पौ बारह थी ऊपर से युद्धविराम और भीतर से घातक हथियारों की आपूर्ति युद्धविराम होते थे, वायदे किये जाते जो तुरंत ही तोड़ भी दिये जाते। राजधानी होने के नाते जाग्रेब शहर में पुलिस और कानून व्यवस्था कड़ी थी, लेकिन लोगों के लिए दिमाग से घृणा और नफरत को निकालना असम्भव था। बसों में, ट्रामों में लोग सर्बों को देखते ही वाहीतबाही बकते, थूकते, घृणा प्रदर्शन करते। दुष्का ने कई साल पहले अपनी ट्रेवल एजेंसी का सपना पाला था। युद्ध ने दुनिया बदल दी। कुछ लोग रातोंरात अमीर हो गये और कुछ सड़क पर आ गये। युद्ध के थमने और गर्भ ठहरने दोनों की सूचना दुष्का को एक साथ मिली। दौड़ी थी उस दिन वह त्रयेशंवाचकात्रा से यांकोमीर तक, पैदल चल कर गयी सेवेस्का तक, कोई डाक्टर सर्ब लड़की का केस हाथ में लेने को तैयार नहीं हुआ। क्रोएशियन प्रेमी ने दुष्का को पहचानने से इनकार कर दिया। सर्ब कह कर गाली दी और उससे बात तक न की। दुष्का अविवाहित मां बनी और पिछले पंद्रह वर्षों में अपने मां बाप का सहारा भी।

इवाना, मिरता, वैलेंटीना, बोजैक अक्सर मिलने जुलने वाले विद्यार्थी हैं। लेकिन सप्ताहांत में जब चारों ओर बर्फीला सन्नाटा पसर जाता है, इनमें से कोई फोन नहीं उठाता। वृहस्पतिवार की शाम से 'वीकएंड' की तैयारी शुरू हो जाती है। भारत की अपेक्षा लड़कियां यहां ज्यादा स्वतंत्र और उन्मुक्त हैं। रोजगार के अवसर सीमित हैं, ये आर्थिक तंगी के दौर का यूरोप है, बहुराष्ट्रीय कम्पनियां अपने पूरे तामझाम के साथ मैकडोनाल्ड्स, रीबॉक, वॉन हुसैन, एडीडास जैसे ब्रांडों में मौजूद हैं, सप्ताह के पांच दिन यूनिवर्सिटी में पढ़ने वाले छात्र सप्ताहांत में दुकानों के कर्मचारी बन जाते हैं। पचीस तीस कूना (मुद्रा) प्रति घंटे के हिसाब से। उनसे खूब जम कर काम लिया जाता है। मेरी प्रतिभाशाली छात्रा कार्मेन युग्रिन मैकडोनाल्ड्स में सप्ताहांत और ग्रीष्मावकाश में बर्तन धोती, झाड़ू पोंछा कर खाना पकाती है। मरियाना जिसके घर में अभिभावक के नाम पर सिर्फ एक नाशपाती का पेड़ है, नाक कान में असंख्य बालियां पहने, बालों में बहुरंगी रिबन बांधे दुब्रोवा और तुर्केबाना येलाचीचा की गलियों में गिटार बजाती है। उसने कई भारतीय गाने सीख रखे हैं, धुन बजाती है, आने जाने वाले लोग सड़क पर बिछे कपड़े पर कुछ सिक्के डाल कर आगे बढ़ जाते हैं। अंद्रियाना और बोजैक तरह तरह की पोशाकें पहन कर, नकली नाम लगा कर पर्यटकों को रिझाते हैं। बोजैक तुर्केबाना में मुझे देख कर चौंकाता है फिर लजा कर गलियों में गायब हो जाता है। यहां 'क्रेशो' नाम बहुत आम है जो यहां के राजा क्रेशीमीर के नाम का संक्षिप्त रूप है। रोमन नाक नक्श, गोरा रंग, लम्बी स्वस्थ कद काठी और सीधी सतर चाल क्रोएशियंस का वैशिष्ट्य है। हम भारत में रहते हुए यूरोप की समृद्धि की कल्पना से कुंठित होते रहते हैं, यहां आकर देखती हूं बाजार है, खरीददार नहीं, बड़ी बड़ी दुकानें, जिनमें जूते की दुकानें बहुतायत में हैं, वे वीरान हैं। सामान है, सजावट भी... खरीदने वालों से निहारने वालों की संख्या कई गुना ज्यादा है। आम आदमी की क्रयशक्ति कमजोर हो चली है। छात्र छात्राएं 'सेल' के मौसम की प्रतीक्षा करते हैं। पुराने कपड़ों को खूब जतन से पहनते हैं, जाग्रेब के बाहरी हिस्से में पूर्व की रेलवे लाइन के किनारे 'सेकेण्ड हैंड' मार्केट लगती है, जिसे देख कर लालकिले के पीछे का बाजार याद आता है। मृतकों के इस्तेमाल किये हुए कपड़े, बैग, जूते, बेल्ट, चादरें, तकिये सब मिलते हैं। अच्छी अच्छी कमीजें पांच कूना में उपलब्ध हैं, देखती हूं इस बाजार में खरीददारों की संख्या बहुत बड़ी है। काला, सफेद और सलेटी यहां के प्रचलित रंग हैं, विशेषकर सर्दियों में, जो वर्ष के लगभग सात महीने रहती हैं।

यूरोप के आंतरिक भागों में सफर के लिए रेल अपेक्षाकृत सस्ता और सुरक्षित माध्यम है।

जाग्रेब स्लोवेनिया से सटा हुआ है लेकिन वहां जाने के लिए शेनसंग वीसा की जरूरत है। मैंने दूतावास में वीसा की अर्जी दे दी है। तान्या के साथ मुझे स्लोवेनिया जाना है, लेकिन उससे भी पहले 'रिएका' शहर जहां क्रेशो कर्निट्स और उनकी पत्नी साशा के प्रकाशनगृह से रवीन्द्रनाथ टैगोर के नाटक 'चित्रा' का क्रोएशियन रूपांतरण छपा है।

हमें कार से दिन भर का सफर करना पड़ा। समुद्र तट पर धूप खिली हुई है और तट के समानांतर चौड़ी सड़क 'रिएका' की ओर जा रही है। साशा और क्रेशो बारी बारी से कार चला रहे हैं। एक दो जगह हम पेट्रोल लेने के लिए रुकते हैं, साशा दुबली पतली हैं, निरंतर सिगरेट पीने से उन्हें भूख भी कम ही लगती है। उनके पास कार में वाइन है, लेकिन मुझे तेज भूख लगी है, पेट्रोल स्टेशन पर ही मैंने सैंडविच खरीदा है। कभी कभी घर की सूखी रोटी और आलू की भुजिया अपनी साधारणता में भी कितनी असाधारण और दुर्लभ हो जाती है। राजा क्रेशीमिर का किला रास्ते में पड़ा है और किले के भीतर बाजार लगा है। गहने, तस्वीरें, मदर मेरी की मूर्तियां, खूब मोटी मुगदरनुमा जंघाओं वाले मध्यकालीन सैनिकों के बुत, किताबें, कैसेट्स, गीत संगीत और पर्यटक। यहां 'बैंक वाटर' पोर्ट है जहां से 'वेनिस' के लिए नावें चलती हैं, जहां कुछ ही घंटों में पहुंचा जा सकता है। दोपहर तीन बजे हम लोग विमोचन स्थल पर पहुंचते हैं, पुस्तक के विमोचन के साथ नाश्ते का भी इंतजाम है। लोग पंक्ति में खड़े होकर प्लेटों में नाश्ता ले रहे हैं, सबकी आंखें व्यंजनों पर केन्द्रित हैं, मिलना जुलना बाद में पहले पेटपूजा। नाश्ते का इंतजाम न होता तो इतनी भीड़ जुट पाती यहां पता नहीं। भीड़ में एक बुजुर्ग ललछौंहे चेहरे और चौड़ी नाक लिए इधर उधर देख कर जब में बिस्किट के टुकड़े छिपाते जा रहे हैं। कोट की जेबें फूलती चली जा रही हैं, मैंने जल्दी से, उधर से नजर हटा ली है। मन करुणा से भर आया है।

'रिएका' या 'रिजेका' क्रोएशिया का तीसरा बड़ा शहर है। समुद्र के किनारे बसा यह शहर बड़े बड़े पानी के जहाज बनाने के लिए प्रसिद्ध है, अपने भीतर बड़ा दिलचस्प बहुभाषिक इतिहास लिए हुए है। पांचवीं शताब्दी से ही यहां ऑस्टोगोथ, लॉबार्ड, अवार, फ्रैंक और क्रोआत रहे हैं, इसलिए रिएका में बहुत सी भाषाएं और बोलियां बोली जाती हैं। द्वितीय विश्वयुद्ध के पहले तक यह पूरी तरह इतालवी शहर था। गोरिल्ला युद्ध और छापामार झड़पों में बहुत से नागरिक हताहत हो गये, और लगभग 800 लोगों को यातनाशिविरों में बंद कर दिया गया। आज इस शहर में लगभग बयासी प्रतिशत क्रोआत, छह प्रतिशत सर्ब, दो ढाई प्रतिशत बोस्नियाई और दो प्रतिशत इतालवी रहते हैं। 'चित्रा' के विमोचन का कार्यक्रम रिएका के सार्वजनिक पुस्तकालय में है, पुस्तकालय बड़ा और व्यवस्थित है, लेकिन ऊपरी मंजिल पर कई कमरे बंद हैं जिनमें प्राचीन पांडुलिपियां सुरक्षित हैं। पुस्तकालयाध्यक्ष का कहना है कि सरकारी अनुदान इतना कम है कि सभी कमरों का रखरखाव सम्भव नहीं। विमोचन कार्यक्रम की भाषा क्रोएशियन है, इतना तय है कि टैगोर यहां बहुत लोकप्रिय हैं। मुझे बताया गया है कि सन् 1926 में टैगोर जब जाग्रेब आये थे तब उन्होंने 'रिएका' का दौरा भी किया था। दार्शनिक पावाओ वुक पाब्लोविच (1894-1976) ने 'गीतांजलि' का क्रोएशियन में अनुवाद किया था जो जाग्रेब के दैनिक 'भोर का पत्ता' में 1914 की जनवरी में धारावाहिक रूप में छपा था। बाद में पावाओ ने 'चित्रा', 'मालिनी' और 'राजा' का भी अनुवाद किया। 'चित्रा' का मंचन क्रोएशियन नेशनल थियेटर में 1915 में कई बार हुआ। यहां के उदारवादी बौद्धिक प्रथम विश्वयुद्धोत्तर अवसानकाल में टैगोर को आध्यात्म और शांति के प्रतिनिधि के रूप में देखते थे। विमोचन समारोह में 'चित्रा' के पहले प्रदर्शन में अभिनय करने वाले क्रेशीमीर बारनोविच (1894-1975) का स्मरण किया जा रहा है। टैगोर की लोकप्रियता के जो भी कारण रहे हों एक बात तो तय है कि प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान उन्हें नोबेल

मिलना और स्काटलैण्ड में नोबेल के लिए जर्मन राष्ट्रवादी लेखक पीटर रोसेगर का नाम चलना ये दो कारण थे जिन्होंने टैगोर को इस क्षेत्र में लोकप्रियता दिलायी। भले ही टैगोर इस बात से अनभिज्ञ रहे हों, फिर भी यहां के लोग बताते हैं कि नोबेल की घोषणा के बाद जर्मन प्रेस ने टैगोर पर हमला बोल दिया था। आज क्रोएशियंस पीटर को भूले से भी याद नहीं करते और उनकी पूरी सहानुभूति के पात्र रवीन्द्रनाथ टैगोर हैं। ईसाई बौद्धिकों में से बहुत कम ऐसे थे, जो 'गीतांजलि' को केवल एक साहित्यिक कृति के रूप में सराहते थे, वे तो टैगोर के रहस्यवाद से प्रभावित थे। सन् 26 में यूरोप की यात्रा के दौरान रवीन्द्रनाथ टैगोर को क्रोएशियंस ने युद्धोत्तर क्षत विक्षत मानस को आध्यात्मिक नेतृत्व देने वाले व्यक्ति के रूप में देखा, उनकी कई कृतियों, मसलन 'घरे बाइरे', का क्रोआती में अनुवाद इसी दौर में हुआ, क्रोएशियन म्यूजिक कंजरवेटरी के सभागार में उन्होंने दो दिन भाषण दिये, जिनका आशु अनुवाद क्रोआती में किया गया, लेकिन रवीन्द्रनाथ को यह नागवार गुजरा। ये प्रसंग इसलिए क्योंकि यहां मुझे जो बातें कहनी हैं, उनका क्रोआती में सतत आशु अनुवाद होगा। गुरुदेव के रचनाकर्म और क्रोएशिया से उनके सम्बंधों पर टिप्पणी करते हुए मुझे बार बार रुकना पड़ रहा है। मेरे वक्तव्य पर श्रोताओं के चेहरे निर्विकार और भावशून्य हैं, आशु अनुवादक की बात पर ही उनकी आंखें झपकती और कभी चौड़ी होती, कभी सिकुड़ती हैं। श्रोता वक्ता का सम्बंध उचित सम्प्रेषण पर टिका होता है। मुझे मालूम ही नहीं चल रहा था कि मेरी बातें कहां और किस सीमा तक सम्प्रेषित हो रही हैं। साशा मंच संचालन कर रही हैं और मुझे बताया जाता है कि श्रोता टैगोर की कविता सुनना चाहते हैं। मालूम नहीं टैगोर के कई गीतों को छोड़ कर मुझे 'ध्वनिलो आह्वान' सुनाने की इच्छा ही क्यों हो आयी है

*ध्वनिलो आह्वान मधुर गम्भीर प्रभात अम्बर माझे
दिके दिगंतरे भुवन मंदिरे शांतिसंगीत बजे
हेरो गो अंतरे अरूपसुंदरे - निखिल संसार परमबंधुरे
ऐशो आनंदित मिलन - अंगने शोभन - मंगल साजे
कलुष - कल्मष विरोध विद्वेष होउक निःशेष
चित्ते होक जोतो विघ्न अपगत नित्य कल्याणकाजे
स्वर तरंगिया गाओ विहंगम, पूर्व पश्चिम बंधु संगम
मैत्री - बंधन पुण्य मंत्र पवित्र विश्वसमाजे।*

ये फरवरी का अंतिम सप्ताह है, धूप खिली हुई है, रात को गिरी बर्फ के फाहे सड़कों के किनारे किनारे रुई से रखे हुए हैं, हवा में नर्माहट की जगह तुर्शी है, बिल्कुल ठंडी, बर्फीली हवा जो एड्रियाटिक सागर को छूने के पहले पाइन वृक्षों की टहनियों पर जमी बर्फ को थोड़ा हिला भर देती है, सफेदी को झाड़ती नहीं। अंजीर और चेरी वृक्षों की सारी पत्तियां झड़ चुकी हैं, असमय ही बुढ़ापे टूटों को बर्फ ने नीचे से ऊपर तक ढंक लिया है, खिली धूप में 'सिएल्ना सेस्ता' के सामने की सड़क के दोनों किनारों पर खड़े पेड़ बेजान से दीख रहे हैं। जब तक हम बर्फ से रूबरू नहीं होते, वह हमारे भीतर अपनी पूरी सफेद मोहकता के साथ पिघलती है, रग रेशों में उतर कर रोमांटिक कल्पना के सहारे, बर्फ के 'जूते बड़ी जैकेट' पहने हम उसकी सफेद फिसलन पर उठ गिर रहे होते हैं और जब वही बर्फ दिन रात, सुबहो शाम का हिस्सा बन जाती है, सारे चिड़िया चुरंग न जाने कहां छिप जाते हैं तो उसकी मोहकता को सन्नाटे में तब्दील होते कतई देर नहीं लगती। खिड़की के पर्दे हटाते ही दिल बैठ जाता है इतनी अफाट, निरभ्र सफेद परत पांचवी मंजिल से नीचे देखती हूं पाकिंग में खड़ी गाड़ियां बर्फ में एकसार हो गयी हैं। एक आदमी हाथ में फावड़ा लिए बर्फ हटाने में जुटा

है, बर्फ खखोर खखोर कर सड़क के किनारे डालता है। जहां भूमिगत नाली का मुहाना है, बर्फ के थक्के बड़े बड़े हो जाते हैं। निचली सड़क गीली हो गयी है, पर बर्फ पिघलाने भर का ताप सूरज में अभी आया नहीं है, और पहर ढलने का समय भी हो गया। 'सिएल्ना सेस्ता' और सभी बहुमंजिली इमारतों के पिछवाड़े कतार में लोहे के पहिएदार कंटेनर रखे हुए हैं, ये कूड़ेदान हैं। नगरनिगम शहर के रखरखाव के लिए नागरिकों से कर वसूलता है जिसके निवेश में व्यवस्था और ईमानदारी दोनों हैं, भारत में जिसका अभाव सिरे से महसूस किया जाता है। अलसुबह बड़े ट्रकों में पिछले दिन का कूड़ा खाली कर दिया जाता है, खाली कंटेनर दिन भर पेट भरने के इंतजार में वहीं खड़े रहते हैं जिन पर क्रोआती में सूखे और गीले अवशिष्ट पदार्थों के संदर्भ में निर्देश लिखे हुए हैं।

विश्वविद्यालय में सुबह आठ बजे कक्षाएं शुरू हो जाती हैं। प्रोफेसर येरिच ने मुझसे कहा था कि या तो मैं सुबह आठ बजे कक्षा लूं या रात के आठ बजे। रात आठ बजे कक्षा पढ़ाने की अवधारणा ही मुझे अजीब सी लगती है, दिन भर की थकान के बाद अंत में कक्षा पढ़ाना, उफ। मैंने भारत में भी हमेशा सुबह सुबह ही पढ़ाया, दोपहर होते होते कक्षा पढ़ाने का उत्साह मंद हो जाया करता है। शांतिनिकेतन में तो सुबह साढ़े छः बजे ही वैतालिक की प्रार्थना के तुरंत बाद कक्षाएं शुरू हो जाती थीं। दिन का एक बजा नहीं कि कक्षाएं समाप्त। आधा दिन अपना था पुस्तकें पढ़ना, पुस्तकालय जाना, कंकाली तल्ला, अजय नदी का पुल, खोवाई, आमार कुटीर जैसी जगहों पर जाना और शाम ढले लौट आना, उसी अवकाश का सुफल था। भारतीय विश्वविद्यालयों विशेषकर मानविकी और समाज विज्ञान में शाम पांच छः बजे तक पढ़ाई समाप्त हो जाया करती है। सूरज अस्त, अध्यापक मस्त और विद्यार्थी पस्त। अभ्यास ही संस्कार बन जाया करता है। रात देर तक पढ़ना और सुबह उठ कर पढ़ाने को तैयार होना, इससे लगता है एक नया खूबसूरत सा दिन आप शुरू करने जा रहे हैं। सुबह एक नयी ऊर्जा और मुस्तेदी देती है इसलिए मैंने जाग्रैब में भी सुबह आठ बजे की कक्षाएं ही चुनी हैं। नब्बे मिनट की एक कक्षा, बीच में अवकाश, फिर कक्षा। अक्सर दिन के डेढ़ बजे तक मैं अपने आवास में लौट आती हूं। शाम में अक्सर पुस्तकालय, आजकल वहीं देर हो जाया करती है। पुस्तकालय खूब व्यवस्थित है अंग्रेजी, क्रोआती (हरवास्की) और फ्रेंच पुस्तकें लाल, नीली जिल्द चढ़ी विपुल, खूबसूरत किताबों का वृहत संसार। तापमान नियंत्रित किया रहता है 20 से 22 डिग्री से. आरामदेह, पुरसुकून माहौल। लगता है इसके बाद कोई दुनिया नहीं, कई विद्यार्थी 'अर्न ह्वाइल लर्न' परियोजना के तहत घंटे के हिसाब से काम करते हैं, कैटलॉग बनाते हैं, किताबें झाड़ते पोंछते हैं बदले में उनका जेबखर्च निकल आता है। सन् 1669 में स्थापित 'स्वेस्लिस्ते उ जागरेबु' दक्षिण मध्य यूरोप के प्राचीनतम विश्वविद्यालयों में से एक है। इवाना उलीचीचा के दसवें मार्ग पर यही पुस्तकालय मेरी शरणस्थली है। धूप की हल्की किरणों को, दिन के किसी भी समय घेर कर बादल दिन में अंधेरा कर देते हैं, बर्फीली बारिश बेआवाज टपकती रहती है। सब शांत पेड़ पौधे स्वच्छ और श्वेत बर्फ की चादर तले दिन और रात का फर्क कहीं गुम हो जाता है। आजकल मैंने 'सीमोन द बोउवार' को नये सिरे से पढ़ना शुरू किया। उसका लिखा घर से दूर होने की बेचैनी को कभी बढ़ाता तो कभी शांत करता है। उसके उपन्यासों और आत्मकथाओं से गुजरना मधुर त्रासदी से होकर गुजरना है। पुस्तकालय की गर्माहट, सीमोन की किताबें इन्हें छोड़ कर फ्लैट के सन्नाटे की ओर लौटने का जी नहीं करता। काफी हाउस का अपरिचित शोर समझ में आने लगा है धुएं के छल्लों के बीच टेबल पर सिर झुकाये, चाइना क्रेप की फ्रॉक पहने सीमोन लिखती दीखने लगी हैं। मैंने सेर्गेई के कहने से आत्मकथात्मक उपन्यास 'ए वेरी इजी डेथ' का हिन्दी अनुवाद शुरू किया है। सीमोन को पढ़ना एक ऐसे अनुभव लोक से गुजरना है जहां से स्त्रीवाद का वैचारिक और राजनीतिक उत्स देखने को

मिलता है। जहां 'सेकेण्ड सेक्स' मनुष्य की स्वतंत्रता की, मनुष्य के रूप में स्त्री पराधीनता के कारणों की पड़ताल करता है, वहीं 'ए वेरी ईजी डेथ', प्राइम ऑफ लाइफ, ऑल सेड एंड इन स्त्रीवाद के व्यावहारिक पक्ष की पड़ताल करती हैं। सीमोन ने सन् 1964 में 'ए वेरी ईजी डेथ' की रचना की जिसका प्रकाशन उसकी मां की मृत्यु के साल भर बाद हुआ था। छह सप्ताह के कालखंड में मरणशय्या पर मामन और सीमोन के साथ बातचीत में यह आत्मकथा गहरे निजत्व, दुख, पश्चाताप, पीड़ा के क्षणों का आख्यान है। मां बेटी की बदलती भूमिकाएं, स्त्री की यातना में उसकी निज की भूमिका, पति पत्नी सम्बंध, डाक्टर और मरीज का सम्बंध, अस्पतालों की आंतरिक राजनीति के विविध पड़ावों से गुजरती हैं। मामन पिछले चौबीस वर्षों से विधवा और एकाकी है। सीमोन भी अपने स्वतंत्र लेखन और जीवन में व्यस्त है। मामन को अंत तक मालूम नहीं कि उसे 'प्राणघातक कैंसर' है। वह मरना नहीं चाहती। ठीक होकर 78 वर्ष की अवस्था में, फिर से जीवन को नये सिरे से जीना चाहती है। सीमोन को पढ़ने और अनुवाद करने की प्रक्रिया मुझे भीतर से कभी कभी बहुत अकेला कर देती है। भीतर कभी कभी घुप्प अंधेरों के साये चहलकदमी करते हैं, कभी सीमोन ही हाथ में कलम पकड़ा कर लिखवाती चलती हैं। नित्यानंद तिवारी जी से बात हुई है। अनुवाद के कुछ अंश भेजे थे उन्हें। वे बहुत प्रभावित हैं लेकिन रचनात्मक अवसाद से बचने की सलाह देते हैं। विश्वनाथ त्रिपाठी ने भी अनुवाद का प्रथम प्रारूप पढ़ा है। ए वेरी ईजी डेथ उन्हें मर्मस्पर्शी लगा है और सिन्धु आंटी तो पढ़ कर रो ही दी हैं।

शाम ढले सिएल्ला सेस्ता पहुंचती हूं, पिछवाड़े का रास्ता छोटा है। शाम का झुटपुटा है अभी, थोड़ी ही देर में गलियों की बत्तियां जल जायेंगी। हवा तेज और नम है, आकाश ज्यों झुका चला आ रहा हो, लगता है रात में बारिश होगी। बर्फ वाले जूते पहनने के कारण तेज तेज कदम बढ़ाना सम्भव नहीं हो पा रहा, ओवरकोट और कई स्वेटरों की तहें शरीर को अतिरिक्त बोझिल बना देती हैं। रास्ते में 'माली दुकान' (छोटी दुकान) पड़ती है।, शीशे के दरवाजे बंद हैं, काउण्टर पर बैठी लड़की के बाल ललछौं हैं, शायद 'बरगंडी कलर' से रंगे हैं। लाल नेलपालिश वाली पतली, लम्बी गोरी उंगलियों में सिगरेट फंसी है, दुकान में कोई ग्राहक नहीं, उसने 'दोबरदान' कह कर एक चलताऊ मुस्कान फेंकी है। यह छोटी दुकान है जहां सब्जियां, ब्रेड और वाइन उपलब्ध है। मुझे ब्राउन चाकलेट्स लेनी है, कहीं पढ़ा है कि चाकलेट्स मूड बूस्टर का काम करती हैं। इन दिनों अक्सर चाकलेट्स की जरूरत मुझे पड़ती है। लड़की अंग्रेजी नहीं जानती, मैंने प्लास्टिक ट्रे में फ्रूट कर्ड, रेडवाइन और चाकलेट्स रख ली है। उसने कम्प्यूटर पर हिसाब करके मुझसे कार्ड ले लिया। सामान लेकर 'ख्वाला' (धन्यवाद) कहना अब सीख लिया है मैंने। इस हफ्ते दुश्का मेरे घर आमंत्रित हैं, वाइन के बिना आमंत्रण वैसा ही, जैसे लवणहीन भोजन। जल्द पैर बढ़ा कर मैं घर के पिछले हिस्से में हूं, सन्नाटा पसरा है, पड़ोस के फ्लैट की खिड़की के सफेद पर्दों के भीतर से पीली रोशनी छन कर बाहर आ रही है। कूड़ेदानों के पास हल्की खुरखुराहट है, जिज्ञासावश मेरी नजर वहां चली गयी है। काले बूट और लम्बा फ्रॉकनुमा कोट पहने जो औरत अकसर उस अपार्टमेण्ट में आती जाती दीखती है वो सूखे कूड़ेदान के अंदर लगभग आधी लटकी हुई है। मैं अंजीर वृक्ष की ओट में हूं जहां लगभग अंधेरा है जो दिन के उजाले में, ऊंची एड़ी के जूते चटखाती, तिरछा हैट पहने हाथ में पालतू कुत्ते की चेन पकड़े इठलाती चलती है, वह शाम ढले कूड़ेदान में...? मुझे उत्सुकता है। थोड़ी ही देर में औरत के दस्ताने पहने हाथ बाहर निकलते हैं और नीचे रखे बड़े से पॉलीथीन में इस्तेमाल कर फेंके जूते, पुराने कपड़े, छाते, बर्तन और यूं ही कई तरह का सामान रख देते हैं। कूड़ेदान में अधलटकी औरत बाहर आ चुकी है। हौले हौले, बेआवाज, पॉलीथीन बैग की चुरमुराहट को भरसक नियंत्रित करते हुए बैग उठाती है, बड़ा है, शायद

भारी भी लेकिन संभाल लेती है और सधे कदमों से अपने फ्लैट की ओर। यहां बुजुर्गों को मामूली सरकारी पेंशन मिलती है, बेरोजगारी भत्ता भी लेकिन 'टैक्स' का दबाव, मंहगाई में वह पेंशन कुछ ज्यादा काम नहीं आती। द्रागित्सा से पूछने पर उसने मुस्कराते हुए बात को टाल दिया। क्रोएशियन बहुत स्वाभिमानी होते हैं विदेशी के सामने पड़ोसी के बारे में कुछ कहना उन्हें गवारा नहीं। भारत में आबोहवा के कारण घर में कभी कैद होने की नौबत ही नहीं आयी। स्वेच्छा से घर में रहना और बाहरी दबाव से घर में कैद रहना दोनों में बहुत अंतर होता है। तब आप भीतर होकर भी बाहर ही होते हैं कभी ठंडी खिड़की के पल्ले से नाक सटाये बारिश देख रहे होते हैं, कभी बर्फ से जम चुकी सावा नदी की ओर देखते हुए उसमें बहते पानी की कल्पना करते हैं। सावा के पुल पर गाड़ियों की आवाजाही है। लोग पार्क में पालतू कुत्ते और बिल्लियों को घुमाने ले आये हैं, बेंचों पर लोग अकेले दुकेले बैठे हैं, कोने के मैदान में कुत्तों को पालतू बनाने का प्रशिक्षण चल रहा है। कुत्ते अलग अलग प्रजाति के हैं जिनकी देखरेख और सरंजाम काबिलेतारीफ है लेकिन लोग इस बात का बहुत ख्याल रखते हैं कि उनका पालतू किसी की परेशानी का सबब न बने, शिकायत दर्ज होने पर जुर्माना बहुत कड़ा है। वैसे तो भारत में भी श्वानप्रिय लोग हैं हैदराबाद विश्वविद्यालय परिसर में एक प्राध्यापक इतने श्वानविप्रिय हैं कि अपने क्वार्टर के सामने रात में कुत्तों के लिए सामूहिक भोजन रख देते हैं। परिसर के सारे आवारा कुत्ते अपने भूले भटकते साथियों को समवेत स्वर में आमंत्रित करने लगते हैं। भोजन कभी पर्याप्त नहीं, वंचित रह गये, गुराते, भूंकते हैं। शक्तिशाली भोजन का बड़ा हिस्सा उदरस्थ कर श्वान सिंह हो जाते हैं और अब मध्यरात्रि तक चलने वाला कर्णभेदी श्वानसंगीत शुरू होता है। यहां की 'भौंक' कैम्पस के बाहर वालों को भी भौंकने की कला के प्रदर्शन के लिए प्रेरित उत्तेजित करती है। पशुप्रेमी प्राध्यापक सर्वेभवंतु सुखिनः के भाव से आराम फरमाते हैं, और पड़ोसी संगीत सम्मेलन की समाप्ति की प्रतीक्षा करते हैं क्योंकि श्वानों को प्रताड़ित करना मेनका गांधी की टीम को आमंत्रित करना है। परिसर में श्वानप्रेम 'सुसंस्कृत' होने की पहचान भी है। एक अध्यापिका इतनी श्वानप्रेमी है कि कहीं भी रुक कर उन्हें पुचकारने लगती है। अपरिचयीकरण के दौर में शायद यह व्यावहारिक राजनीति का हिस्सा हो, अपने परिचितों की अनदेखी करने का एक हथियार। उस क्षण हो सकता है कई मनुष्य श्वान रूप धरने को तरस जाते हों। जो भी हो एक सप्ताह से तबियत नासाज है, दूतावास ने जिस डॉक्टर के पास भेजा था उसे तगड़ा बिल बनाने के अलावा सिर्फ मुस्कराना आता है, इसलिए दुबारावा के बड़े अस्पताल जाना पड़ा है। अस्पताल बहुमंजिला, साफ सुथरा, नर्स डाक्टर चाक चौबंद। बाहरी हिस्से में कुछ दुकानें हैं जहां खूबसूरत चीजें बिक रही हैं, खुले आसमान के नीचे बेंचें लगी हुई हैं, क्यारियों में पौधे फूल, लतरें, हवा में लैवेंडर की पत्तियों की गंध फैली हुई है। मैं यहां दो दिनों से हूं। डॉक्टर मिरनोविचि गले छाती के संक्रमण विशेषज्ञ हैं; बताते हैं कि टॉसिलों में सूजन के कारण ज्वर आ रहा है।

अस्पताल का काम खत्म हुआ। अस्पताल की यात्रा मेरे लिए 'ए वेरी ईजी डेथ' की यात्रा भी थी, जिसने मुझे सीमोन और उसकी मां के आपसी सम्बंधों को नयी रोशनी में पहचनवाया। सीमोन के उपन्यास 'शी केम टू स्टे' और 'द मेंडरीन' ने नये दौर के स्त्रीवादी चेहरे को पहचानने में मदद की। उनके आत्मकथात्मक उपन्यासों से होकर गुजरना एक दिलचस्प और ईमानदार अनुभव रहा है। अस्पताल और बीमारी का यह समय मुझे सीमोन के और करीब ले आया है 'मेमोआयर्स ऑफ अ ड्यूटीफुल डॉक्टर' में विश्वविद्यालय में पढ़ने के दौरान 'पुरुष की तरह दिमाग' होने की इच्छा व्यक्त करते हुए अपनी तुलना वह सार्त्र से करती हैं और इस निष्कर्ष पर पहुंचती हैं कि स्त्री के लिए पुरुष जैसी सोच होना सम्भव नहीं। 'प्राइम ऑफ लाइफ' में सीमोन ने होटलों में रह कर लिखने पढ़ने, एक

के बाद दूसरा होटल बदलने का जिज्ञासा किया है। सोचती हूँ सीमोन अपनी आर्थिक जरूरतें कैसे पूरी करती होंगी, यह भी कि होटलों में रहने का अर्थ हुआ कि आप हमेशा मेहमान हैं बिस्तर, परदे, कुर्सी टेबल कुछ भी आपका अपना नहीं। सीमोन के अनुभव पढ़ते हुए पाठक सीखता है कि कैफेटेरिया में कैसे बैठना चाहिए, लोगों से कैसे मिलना चाहिए, बहसों, पढ़ना लिखना और सोचने का सलीका भी। सीमोन कहती हैं कि कैफे में घुसते हुए यदि आप अपने ही दो आत्मीय मित्रों को आपस में बात करते हुए देखें तो उनके निकट बैठ कर बातचीत में बाधा न डालें, बेहतर हो चुपचाप वहां से हट जायें। 'कहवाघर' भी पढ़ने लिखने की जगह हो सकती है इसे सीमोन साबित करती हैं और यह भी कि कैसे वह बिना संग साथ की अपेक्षा के सन् 1930 के आसपास मार्सिले और रोउन जैसे कस्बों में अध्यापन के वर्षों में लम्बी सैरों के लिए निकल जाया करती थीं। सोचती हूँ कि आज भी स्त्रियों के लिए उनका अपना 'स्पेस' खोजना मुश्किल होता है। भारतीय माहौल में कोई स्त्री कॉफी हाउस में बैठ कर लिखे, वो भी अकेली तो न जाने कितनी जोड़ी आंखें उसे बरजने को तत्पर हो जायेंगी। अब मेरी तबीयत बेहतर हो चली है। इन दिनों 'फोर्स टू सरकमस्टेंसेज' पढ़ रही हूँ जिसमें सीमोन द बोउवार ने युद्धोत्तर पेरिस का चित्रण किया है, जिसमें नये और बेहतर समाज के निर्माण का स्वप्न है, स्वतंत्रता के प्रति उत्तरदायित्व का बोध है। आत्मकथा के इसी भाग में उन्होंने नेल्सन एल्डेन से अपने सम्पर्क की चर्चा की है। नेल्सन के साथ फॉयरप्लेस के समक्ष संयोग और फिर पेरिस और शिकागो में दोनों का अलग अलग जीवन बिताना भी वर्णित है। भौगोलिक दूरी अपनी सातव्यता में कैसे आत्मीय सम्बंध का अंत कर देती है यह भी कि लिखने के लिए सीमोन ने पेरिस छोड़ना पसंद नहीं किया। इसके साथ बोउवार की उत्तर अफ्रीका, अमेरिका की वे लम्बी यात्राएं जो उसने अकेले कीं। सीमोन को यह चिन्ता भी खाये जा रही थी कि इतने सारे व्यापक जीवनानुभव, जीवन यात्राएं, ये सब उसके साथ ही खत्म हो जायेंगी। 'आल सेड एंड इन' में अपने मित्र सिल्विए बान के साथ आत्मीय सम्पर्क की चर्चा करते हुए सीमोन का कहना है कि उसने कभी कल्पना भी नहीं की थी कि उम्र के साठवें वर्ष में उसे कोई सहयोगी और मित्र मिलेगा, लेकिन मिला। इन आत्मकथाओं में दो बातें मेरी समझ में आती हैं एक तो आत्मनिर्भरता यानी अपनी जिम्मेदारी स्वयं उठाना, दूसरे अपने को हमेशा बेहतर ढंग से समझने का प्रयास। सीमोन ने सार्त्र के साथ सहजीवन जिया लेकिन विवाह नहीं किया क्योंकि स्वाधीनता के अर्थ दोनों के लिए अलग अलग थे। सीमोन लिखती हैं "अद्भुत थी स्वाधीनता! मैं अपने अतीत से मुक्त हो गयी थी और स्वयं में परिपूर्ण और दृढ़निश्चयी अनुभव करती थी। मैंने अपनी सत्ता एक बार में ही स्थापित कर ली थी, उससे मुझे अब कोई वंचित नहीं कर सकता था, दूसरी ओर सार्त्र एक पुरुष होने के नाते बमुश्किल ही किसी ऐसी स्थिति में पहुंचा था, जिसके बारे में उसने बहुत दिन पहले कल्पना की हो... वह वयस्कों के उस संसार में प्रविष्ट हो रहा था, जिससे उसे हमेशा से घृणा थी।"

वैसे, मैं अब उस खोज में हूँ जिस ओर आंद्रियाना मेस्ट्रोविच ने इशारा किया था। लिलियाना के निजी जीवन के बारे में मुझे विशेष जानकारी नहीं थी, वैसे भी किसी के निज की तफ्तीश असभ्यता ही मानी जाती है। प्रेमचंद ने भी कहा है कि ऐसा कोई भी प्रश्न जो सामने वाले को असुविधा में डाल दे, नहीं पूछा जाना चाहिए। सीमोन द बोउवार के लेखन के साथ सफर करते करते युद्धोत्तर यूरोप ओर उसकी बदली परिस्थितियों के बारे में जानना चाहती हूँ और इसके लिए एक बंद दरवाजा है मेरे सामने लिलियाना का। वह वार विक्टिम है ऐसी सूचना मरीयाना ने भी दी थी। मुझे जो जानना है वह या तो लिली बता सकती है या दुष्का। दुष्का बहुत भावुक है, पता नहीं मेरी बात का क्या अर्थ निकाले। अपने घावों को खुद नखोरना कुरेदना और बात है और दूसरों के सामने खोल कर रख

देना... लिलियाना को विदेशी पसंद हैं। विशेषकर गंदुमी सांवली रंगत। मेरे पास हैदराबाद से लाये हुए कुछ मोती हैं उन्हें 'गिफ्ट रैपर' में लपेट कर मैंने लिलियाना के घर जाना तय किया है। दुष्का साथ है। लिली खूब स्वस्थ लम्बी चौड़ी, लगभग पचास की उम्र छूती महिला है, जो सिर्फ सफेद टायलेट पेपर खरीदती है। रंगीन टायलेट पेपर के इस्तेमाल से कैंसर हो जाता है, ऐसा विश्वास है उसे। सन की तरह सुनहरे सफेद बाल, मैजेंटा रंग की गहरी लिपस्टिक, कड़कती ठंडी शाम में भी वह गर्दन और वक्ष का ऊपरी भाग खुला रखती है। लोगों को देख ढलके वक्ष को थोड़ा सहारा देकर, ऊपर उठा गर्दन अकड़ा कर चलना उसकी आदत में शुमार है। हाई हील और ऊंची स्कर्ट पहने वह सम्भ्रांत लोगों के बीच उठती बैठती है। उसके हाव भाव मेरी अब तक की जानी चीन्ही स्त्रियों से अलग हैं। सन् 1992-95 के दौरान क्रोएशिया बोस्निया हर्जेगोविना में जो स्त्रियां सर्ब सेनाओं के दमन का शिकार हुईं, लिली उनमें से एक है। युद्ध के दौरान बलात्कार, यौन हिंसा के हजारों मामले सामने आये, कुछ मामले सरकारी फाइलों में दब गये, कुछ भुला दिये गये और कुछ शिकायतें वापस ले ली गयीं। कुछ स्त्रियां मार दी गयीं, कुछ अवसाद और अन्य रोगों का शिकार हो गयीं। हालांकि जेनेवा कन्वेंशन में युद्ध के दौरान यौन हिंसा और सैनिकों द्वारा स्त्रियों के एकल या सामूहिक बलात्कार को मानवता के विरुद्ध जघन्य अपराध माना गया लेकिन पूरे विश्व में युद्धनीति के तहत स्त्रियों के प्रति यौन हिंसा एक अलिखित चर्या है। युद्धकाल के बलात्कार सामान्य बलात्कारों से अलग माने जाते रहे हैं, इनमें से बहुत से वाक्यों की तहकीकात भी नहीं हो पाती। कई बार शोषिताएं और घर्षिताएं सामने भी नहीं आतीं। लिलियाना उन 68 बोल्ट औरतों में से एक है जिसने व्यापक सामूहिक बलात्कार की घटना की न सिर्फ रिपोर्ट दर्ज की, बल्कि वक्त और परिस्थितियों के आगे हार नहीं मानी, मृत्यु और जीवन, मूकता और बोलने में से जीवन का चुनाव किया, चुप नहीं रही। प्रथम और द्वितीय दोनों विश्वयुद्धों में कई देशों में सैन्य और अर्धसैन्य बलों ने सामूहिक बलात्कार की अनगिनत घटनाओं को अंजाम दिया। प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान बेल्जियम और रशिया औरतों के लिए सामूहिक मरणस्थली बने, वहीं दूसरे विश्वयुद्ध के दौरान रूस, जापान, इटली, कोरिया, चीन, फिलीपींस और जर्मनी में बड़े पैमाने पर स्त्रियों को घर्षित किया गया। आपसी छोटी बड़ी मुठभेड़ों में अफगानिस्तान, अल्जीरिया, अर्जेंटीना, बांग्लादेश, ब्राजील, बोस्निया, कम्बोडिया, कांगो, क्रोएशिया, साइप्रस, अल सल्वाडोर, ग्वाटेमाला, हैती, भारत, इंडोनेशिया, कुवैत, कोलम्बो, लाइबेरिया, मोजांबीक, निकारागुआ, पेरू, पाकिस्तान, रवांडा, सर्बिया, सोमालिया, टर्की, युगांडा, वियतनाम और जिम्बाब्वे जैसे देशों की लम्बी सूची है जहां यौन हिंसा और स्त्री घर्षण की घटनाएं हुईं और बड़े बड़े भाषणों, राजनैतिक समझौतों के बीच प्रतिरोधी आवाजें दबा दी गयीं।

अब मुझे लिलियाना का पैर हिलाते हुए कंसर्ट सुनना, अंधाधुंध सिगरेट पीना, एक आंख को हल्का दबा कर हंस देना अटपटा नहीं लगता। स्पिलत के चारसितारा होटल का मालिक आजकल लिली पर दिलोजान से फिदा है। लिली का कहना है इन गर्मियों में वह स्पिलत जाकर पूरे साल का खर्चा निकाल लेगी। वह 'एस्कॉर्ट' है जिसके साथ के लिए व्यापारी, पर्यटक अच्छी रकम खर्च करते हैं। लिली अपने बारे में गम्भीरता से बात नहीं करती। उसने यौन हिंसा और सामूहिक बलात्कार झेला है, वह हंसती है जिन्दगी पर। उसके साथ की चवालिस स्त्रियां (जो अभी जीवित हैं) सर्ब सैनिकों से कई बार घर्षित हुईं। इनमें से 21 यौनदासियों के रूप में सैन्यशिवरों में रहीं और 18 ऐसी वृद्धाएं थीं जो किसी न किसी बलात्कार की साक्षी रहीं। इनमें से 29 स्त्रियां बलात्कार के कारण गर्भवती हुईं जिनमें से 17 ने शर्म और अपमान से बचने के लिए गर्भपात करा लिया। कुछ ने संतान पैदा करके सरकारी अनाथाश्रम में मुक्ति पायी। लिली का एकमात्र बेटा जो ड्रग के शिकंजे में सरकारी पुनर्वास योजना का मेहमान बना हुआ है, 1996 में ही जन्मा। लिलियाना को सब कुछ याद है ब्यौरेवार, लेकिन याद

करना नहीं चाहती। मैं भी उसे ज्यादा परेशान नहीं करती और अपने फ्लैट पर वापस आ जाती हूँ।
 नींद नहीं आ रही क्या हुआ होगा लिलियाना जैसी सैकड़ों लड़कियों का, क्या गुजरी होगी उन पर। मैं घुप्प अंधेरे में हूँ... कोई चेहरा नहीं, सिर्फ कराहें... विक्टर फ्रैंकल ने द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद 'मैन्स सर्च फॉर मीनिंग' शीर्षक पुस्तक लिखी थी, जिसमें आश्वित्स के यातना शिविर की दैनंदिनी है। फ्रैंकल का कहना है कि जिस रूप में बंदी अपने भविष्य के बारे में सोचता था उसकी उम्र उसी पर निर्भर करती थी। उसने 'लोगोथेरेपी' का सिद्धांत दिया और बताया कि जिनके पास जीने का कोई कारण होता है, वे कैसे भी जी लेते हैं। इन यौनदासियों के पास जीने का क्या कारण होगा पति, बच्चों, मां, सास के सामने निर्वस्त्र और बलात्कृत की जातीं, महीने दर महीने साल भर। उनके अपमान और यातना की कोई सीमा नहीं। उनके पास जीने का क्या कारण बच रहा होगा? अर्धनिद्रा में मुझे आश्वित्स का यातना शिविर दीख रहा है बेचैनी, पसीना और घबराहट... गोद में बच्चा लिए लिलियाना दौड़ रही रही है, काटेदार बाड़ के पास सैनिक ही सैनिक... गोरे लाल मुंह वाले लम्बे चौड़े सैनिक लिलियाना को नोच रहे हैं, घसीट रहे हैं, उसके मुंह पर थूक रहे हैं, पैरों को फँसा रहे हैं, बछड़ा पैदा करती गाय सी डकरा रही है वह। उसके ऊपर एक एक करके लद गये हैं लोग.. लिलि... लिलियाना...। अपनी चीख से नींद टूट गयी है... उठ कर देखा है फोन पर कुछ संदेश आये हैं... पानी पिया है, कभी की पढ़ी पंक्ति याद आती है

तुमि गुछिए किछू कथा बोलते पारो ना

शुधू समय निजे गल्यो बोले जाये

ठीक ही तो, कहां लिख पा रही हूँ खूब व्यवस्था से। लिलियाना जैसी अनेकानेक ने मेरा चैन छीन लिया है, दिन रात उन्हीं के बारे में सोचती हूँ और... और जानना चाहती हूँ जिनकी कथा समय ही लिखेगा लेकिन कब?

लिलियाना और ईगोर ने मुझे पार्टी में चलने को कहा है मैं थोड़े पेशोपेश में हूँ। शाकाहारी और मदिरा से परहेज करने वाला भारतीय संस्कार चोले में मुंह दबाये हंस रहा है। पिता को मालूम चला और पितातुल्य गुरु नित्यानंद तिवारी, वे तो अविश्वस्त नेत्रों से तार्कंगे भर मुझे। लिली बताती है कि वहां कुछ औरतें मिलेंगी मुझे, जो हो सकता है अपने बारे में कुछ बोलें। खैर हम शलाटा जाते हैं जहां से 'पॉट पार्टी' में जाना है। इसके बारे में मुझे कोई विशेष जानकारी नहीं, लेकिन पहुंचते ही लगा, नशीले धुएं से भरा माहौल दम घोंट देगा। कई लोग जिनमें लड़कियों की संख्या बहुत थी, हशीश, चरस, गांजा आदि का सेवन कर रहे हैं, बिना पिये ही सिर चकराने लगा। लोग चुप लेते हैं, कोई छत ताक रहा है कोई दम लगा रही है, हल्का संगीत बज रहा है, ध्यान से सुना श्री श्री रविशंकर की सभाओं में बजने वाला हरे कृष्णा... राधे राधे यहां की हवाओं में झंकृत है। मैं बाहर जाना चाहती हूँ, इस दमघोंटू माहौल में आकर गलती की... उफ नहीं आना चाहिए था। दीवार से सट कर एक जोड़ा खड़ा है, लड़के ने आगे बढ़ कर मुझसे कुछ कहा है और हौले से मेरे बाल छुए हैं। 'जेलिम डौटाक्नुटी स्वोजे क्रेन ड्लाके' (मैं तुम्हारे काले बाल छूना चाहता हूँ) सुनते ही मैं दौड़ कर बाहर आ गयी हूँ जैसे नरककुंड से बच कर लौटी हूँ। लिलियाना और ईगोर का कुछ पता नहीं। मैंने तीन ट्रामें बदली हैं और सुरक्षित लौट आने के सुकून ने मुझे गहरी नींद दे दी। अगले रविवार लिलियाना हंस कर कहती हैं 'नेमोज्ते से प्रेपाला' यानी डरो मत, यहां जबरदस्ती कोई कुछ नहीं करेगा, तुम्हारे बाल काले हैं जो यहां वालों के लिए कुतूहल है।

तुर्कबाना येल्लाचीचा जाते हुए ट्राम लोहे की ईंटों की सड़क के बीचोंबीच बने हुए ट्रैक पर मुड़ती है। गोल इमारत के ऊंचे ऊंचे कांचदार दरवाजे जिनके भीतर भांति भांति की दुकानें हैं। ऊनी,

सूती वस्त्र, जो अधिकतर भारत और चीन के टैग से सुसज्जित हैं, जूते वियतनाम और थाईलैण्ड के बिक रहे हैं, दुकानदार की शक्ल दुमकटे लोमड़ जैसी है। सपाट चेहरे पर लाल नाक और गहरी कंजी आंखें, व्यवहार में विनम्र दीखता है लेकिन लाल भूरे बालों के भीतर रखे सिर में कुछ ऐसा खदबदा रहा है, जिसे मैं 'रंगभेद' समझती हूँ। सांवली रंगत का मनुष्य उसके बहुत सम्मान का पात्र नहीं, ऐसी गंध मेरी छठी इंद्रिय को मिल रही है। दुकान के बाहर कोने पर एक छः सात वर्षीय गोरे, चित्तीदार चेहरे वाला लड़का शीशे से अपनी नाक सटाये है। बड़ा सा लबादा पहना हुआ है उसने। पैरों में नाप से बड़े जूते। दुकानदार को बाहर आते देख वह खरगोश की तरह फुदक कर गायब हो जाता है। इसके बाद ही जाग्रेब की मशहूर केक की दुकान है जहां क्रोशियन और जर्मन केक की ढाई सौ से अधिक किस्में अपने पूरे शबाब के साथ शीशे की पारदर्शी अलमारियों में भारी जेब के दिलदार खवैयों का इंतजार कर रही हैं। तुर्की की विजिटिंग प्रोफेसर गुलदाने कालीन ने इस दुकान की पेस्ट्री की तारीफ कई बार की है। आज सोचा खा ही लूं, इन केक्स की खूबी इनकी क्रीम है जो मनुष्य के मेदे और वजन को चुनौती देती है। मनचाहा सजीला संवरा, क्रीम में लिपटा, बारीक डिजाइनदार केक का रसीला बड़ा सा टुकड़ा प्लेट में सामने है, कीमत है पचास कूना यानी लगभग पांच सौ रुपये। अपने यहां भी 'बरिस्ता' में लगभग यही दाम है। केक का पहला टुकड़ा खाती हूँ कि दुकान का मैनेजरनुमा आदमी बाहर खड़ बच्चे को दुरदुराता हुआ चिल्लाता है। हाथ में आलू चिप्स का फटा पैकेट लिए बच्चा दुकान के बीचोंबीच आ गया है, कर्मचारी लड़का उसका लबादा खींच कर घसीट रहा है। दुकान में सुरक्षा सायरन बजने लगा। बच्चा कुछ बोल नहीं पा रहा है, मेरे पहुंचते पहुंचते बच्चा फुटबाल की तरह सड़क पर फेंका जा चुका है। पूछने पर वह दुकान के कूड़ेदान की ओर इशारा करता है। 'जा सम गलदना' (मैं भूखा हूँ) कह कर जार जार रो रहा है। अनुमान करती हूँ कि किसी के अधखाये चिप्स उठा कर बच्चा पेट भर रहा होगा और दुकान मालिक ने देख लिया होगा। मुझे अब केक नहीं खाना। शायद कभी नहीं? खून से बच्चे की नाक रंग गयी है। केक खरीदती हूँ उसके लिए। वह सुबकता हुआ जा रहा है, शायद शरणार्थी है। हाथ की मुट्ठी में दबे केक की सफेद क्रीम लाल हो रही है। उफ मेरे मौला... ऐसे न जाने कितने बच्चे दरबंद हो भटक रहे हैं सम्मानहीन, भोजनहीन, आश्रयहीन। स्वयंसेवी संस्थाएं हैं, सरकारें हैं, लेकिन हम अपना सुखभोग छोड़ कर इनकी तरफ देखते हैं क्या? मन नम है और बाहर बरसात शुरू हो गयी है

पास रहो, डर लग रहा है
 लग रहा है कि शायद सच नहीं है यह पल
 मुझे छुए रहो
 जिस तरह श्मशान में देह को छुए रहते हैं
 नितांत अपने लोग,
 यह लो हाथ
 इस हाथ को छुए रहो जब तक पास में हो
 अनछुआ मत रखो इसे,
 डर लगता है
 लगता है कि शायद सच नहीं है यह पल
 जैसे झूठा था पिछला लम्बा समय
 जैसे झूठा होगा अगला अनंत

नवनीता देवसेन

जाग्रैब पुनर्वास केन्द्र में औरतें जीवनयापन के लिए छोटेमोटे काम सीखती हैं जिनमें सामान की पैकेजिंग, मुरब्बे, जैम, अचार, मसाले इत्यादि बनाना शामिल है। बोस्निया, हर्जेगोविना, क्रोएशिया के खिलाफ युद्ध में सर्बिया ने नागरिकों को डराने के लिए उनकी स्त्रियों पर बलात्कार किये। आक्रमणकारी छोटे छोटे समूहों में गांवों पर हमला करते जिनका पहला निशाना होतीं लड़कियां और औरतें। सामूहिक बलात्कार का सार्वजनिक प्रदर्शन किया जाता ताकि दूसरे गांवों को अपने हथ्र का अंदाजा हो जाये। 1991-1995 के दौरान सर्व सैनिकों ने सैन्य कैम्पों, होटलों, वेश्यालयों में बड़े पैमाने पर यौन हिंसा के सार्वजनिक प्रदर्शन किये। बोस्निया और हर्जेगोविना पर जब तक सर्बिया का कब्जा रहा, किसी उम्र की कोई स्त्री ऐसी नहीं बची जिसका घर्षण या बलात्कार न किया गया हो। लिली और दुष्का तब अपनी नानी के गांव में रहा करती थीं। दुष्का को पर्यटन विभाग में नौकरी मिली और वह जाग्रैब चली आयी। सर्व होते हुए भी वे दोनों क्रोएशिया की नागरिक थीं और उससे भी पहले थीं लड़कियां ताजा, जिन्दा, टटका स्त्री मांस। लिली उन आभागी लड़कियों में से एक थी, जिन्हें नोचा खसोटा और पीट कर कैद में रखा गया। कई लड़कियों को अश्लीलता के सार्वजनिक प्रदर्शन के लिए बाध्य किया जाता रहा, यौनांगों को सिगरेट से दागा गया और एक दिन में कई बार बलात्कार किया जाता रहा। इन पुनर्वास केन्द्रों ने ऐसी स्त्रियों को स्वावलम्बी बनने में मदद की थी और यह सिलसिला अब भी जारी है। युद्ध शुरू होते ही परिवार के परिवार गांवों को छोड़ कर भाग जाते, पीछे छूट जाते खेत, ढोर डंगर और पकड़ ली जातीं औरतें जिनकी उम्र दस से लेकर साठ सत्तर वर्ष की हुआ करती। अंतरराष्ट्रीय स्तर पर इस तरह के अत्याचारों को युद्ध अपराध की संज्ञा दी गयी, लेकिन युद्ध थमने के बाद भी यौन हिंसा की शिकार इन औरतों के लिए कोई ठोस सरकारी नीति नहीं बनी। विश्व के कई देशों ने द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद जर्मनी पर आधिपत्य जमाने के लिए 'बलात्कार' का हथियार के रूप में इस्तेमाल किया। इसी तरह बांग्लादेशी स्त्रियों का पाकिस्तानी सैनिकों द्वारा बड़े पैमाने पर घर्षण किया गया। युगांडा के सिविल वार और इरान में स्त्रियों से जबरदस्ती यौन सम्बंध बना कर अपमानित करने की घटनाओं से हम सब वाकिफ हैं। चीन के नानकिंग में जापानी सेना द्वारा स्त्रियों का सामूहिक यौन उत्पीड़न, दमन और श्रीलंकाई स्त्रियों के घर्षण के हजारों मामले 'नवसाम्राज्यवाद' को फैलाने के लिए जोरदार और कारगर हथियार बने। कई स्त्रीवादियों ने वृत्तचित्रों, फिल्मों द्वारा इस तरह की घटनाओं के खिलाफ जनमत संग्रह के कारगर प्रयास भी किये, लेकिन बोस्निया और हर्जेगोविना की औरतों की बात अंतरराष्ट्रीय स्तर पर गम्भीर चर्चा का विषय कभी बनी ही नहीं। क्रोएशिया से सटे बोस्निया जाने का निर्णय मैंने किया है, जिसके लिए भारतीय दूतावास से अनुमति अनिवार्य है।

दूतावास में बोस्निया जाने की अनुमति आसानी से मिल गयी लेकिन वहां के अधिकारी बड़े दवे स्वर में उपहास करते हैं "लोग तो पेरिस और इटली, जर्मनी घूमते हैं, मजे करते हैं और आप 'वार विक्टिम' के पीछे पड़ी हैं।" बोस्निया में लूट, भ्रष्टाचार, झूठ, राहजनी सभी कुछ हैं लेकिन हरियाले खेतों के बीच से जाती सड़क का रास्ता बुरा नहीं। बोजैक बोस्नियाई विद्यार्थी है, जो जाग्रैब में पढ़ता है, साथ ही कुछ रोजगार भी। उसकी उम्र पचास के ऊपर ही है, उसके सामने ही उसकी आठ वर्षीय बेटा और पत्नी को बार बार घर्षित किया गया। बच्ची तीन दिन तक रक्त में डूबी रही, सैनिक उससे खेलते रहे, इस बीच कब उसने अंतिम सांस ली, पता नहीं। बोजाक वह जगह दिखाता है जहां उसकी पत्नी दिल की बीमारी और अवसाद से मर गयी। 'लाइफ मस्ट गो ऑन' कह कर बोजाक फटी आंखों से हंसता है और अगला युद्ध कैम्प दिखाने चल पड़ता है। बच्ची को खोकर, बाद के वर्षों में उसकी पत्नी प्रभु ईसू से अपने अनकिये पापों के लिए दिन भर क्षमा मांगा करती।

उसका पाप क्या था? इसके उत्तर में बोजाक कहता है “औरत होना...।” शांति स्थापित होने के बाद भी जिन्होंने युद्ध को अपनी देहों पर रेंगता, चलता, बहता महसूस किया, एक बार नहीं अनेक बार जिनकी कोखों ने क्रूर सैनिकों के घृणित वीर्य को जबरन वहन किया, वे हमेशा के लिए हृदय और मानसिक रोगों का शिकार हो गयीं। रवांडा में तो अकेले 1994 में लगभग 5000 बच्चे युद्ध हिंसा के परिणामस्वरूप जन्मे थे। क्रोएशिया में ऐसे बच्चों की सही संख्या का पता कोई एनजीओ नहीं लगा सका, क्योंकि अधिसंख्य मामलों में लोग चुप लगा गये, पड़ोसी नातेदार सब जान कर भी घाव कुरेदने से बचते रहे। युद्ध सबके दिलो दिमाग में पसर गया। बलात्कार की शिकार या गवाह रही अधिसंख्य स्त्रियां मृत्युबोध से ग्रस्त हैं। वे सामाजिक सम्बंध भी स्थापित नहीं करना चाहतीं। कई तो बस सालों तक टुकुर टुकुर ताकती रहीं, कुछ बोल नहीं पातीं। कुछ ने अपना घरबार छोड़ दिया और फिर कभी यौन सम्बंध स्थापित नहीं कर पायीं। एक मोटे अनुमान के अनुसार बोस्निया में युद्ध के दौरान लगभग पचास हजार लड़कियां और औरतें बलात्कार का शिकार हुईं और उधर ‘इंटरनेशनल क्रिमिनल ट्रिब्यूनल फॉर द फार्मर यूगोस्लाविया’ यौन दासता और बलात्कार को मानवता के प्रति अपराध के रूप में दर्ज कर कागज काले करता रहा।

संयुक्त यूगोस्लाविया का विखंडन बोस्निया और हर्जेगोविना, क्रोएशिया, मैसीडोनिया गणतंत्र, स्लोवेनिया जैसे पांच स्वायत्त देशों में हुआ था, जो बाद में चल कर सर्बिया, माटेग्रो और कोरनोवो में बंटा। क्रोएशियाई, सर्ब और बोस्नियाई लोगों के बीच जो युद्ध और झड़पें हुईं उनमें से अधिकतर भूमि अधिग्रहण को लेकर थीं। आज भी सात हजार से अधिक क्रोएशियन शरणार्थी बोस्निया और हर्जेगोविना में हैं और इस देश में लगभग 131,600 लोग विस्थापित हैं। क्रोएशिया और बोस्निया की 935 किमी की सीमा साझा है। हमें यहां पर धोखाधड़ी से बार बार क्रोएशियन दूतावास, जो सराजेवा में है, आगाह किया गया है। रास्ते में कई बार पासपोर्ट और वीजा चेक किया गया। मुझे यहां के खस्ताहाल संचार साधनों और सड़कों को देख कर भारत के कई छोटे शहरों की याद आती है। पूरे इलाके में बारूदी सुरंगों का खतरा है, इसलिए पुलिस ट्रैफिक को रोक कर घंटों पूछताछ करती है। पुराने लोग अंग्रेजी नहीं समझते, जबकि नयी पीढ़ी अंग्रेजी बोलती और समझती है। युद्ध के दौरान कई बोस्नियाई जर्मनी भाग गये थे, इसलिए इनकी भाषा में जर्मन शब्दों का आधिक्य है। हमें उना नदी में रिवर राफ्टिंग का आमंत्रण है लेकिन मेरा ध्यान कहीं और है।

कल लिली ने 1993 के लास एंजिल्स टाइम्स में प्रकाशित मिरसंडा की आपबीती दी थी। होटल लौट कर मैंने वही टुकड़ा उठाया है “रोज रात को सफेद चीलें हमें उठाने आतीं और सुबह वापस छोड़ जातीं। कभी कभी वे बीस की तादाद में आते। वे हमारे साथ सब कुछ करते, जिसे कहा या बताया नहीं जा सकता। मैं उसे याद भी नहीं करना चाहती। हमें उनके लिए खाना पकाना और परोसना पड़ता नंगे होकर। हमारे सामने ही उन्होंने कई लड़कियों का बलात्कार कर हत्या कर दी, जिन्होंने प्रतिरोध किया, उनके स्तन काट कर धर दिये गये।

“ये औरतें अलग अलग शहरों और गांवों से पकड़ कर लायी गयी थीं। हमारी संख्या लगभग 1000 थी। मैंने लगभग चार महीने कैम्प में बिताये। एक रात हमारे सर्बियाई पड़ोसी के भाई ने हममें से 12 को भगाने में मदद की। उनमें से दो को सैनिकों ने पकड़ लिया। हमने कई दिन जंगल में छुप कर बिताये। अगर पड़ोसी हमें न बचाता तो मैं बच ही नहीं पाती, शायद अपने को मार लेती, क्योंकि मैं जिस यातना से गुजरी, उतनी यातना तो मृत्यु में भी नहीं होती।

“कभी कभी मुझे लगता है कि रात के ये दुःस्वप्न मेरा पीछा कभी न छोड़ेंगे। हर रात मुझे कैम्प के चौकीदार स्टोजान का चेहरा दीखता है। वह उन सबमें सबसे निर्मम था, उसने दस साला

बच्ची को भी नहीं बख्शा था। ज्यादातर बच्चियां बलात्कार के बाद मर जाती थीं। उन्होंने बहुतों को मार डाला। मैं सब कुछ भूलना चाहती हूँ, नहीं तो मर जाऊंगी।”

पढ़ कर मेरा मन घुटन से भर गया है, भूख नींद गायब हो गयी है। स्काइप खोल कर देखा है। कोई मित्र आत्मीय ऑनलाइन नहीं है। इस समय भारत में आधी रात होगी। दिल बहलता नहीं बाल्कन प्रदेश के पार से आती गुमसुम बोझिल हवाओं के घोड़ों पर सवार लम्बे, कद्दावर क्रूर सर्बियाई सैनिक दीखते हैं, हवा में तैरती चीखें और पुकारें हैं। 1992 में फोका की स्कूल जाने वाली लड़की बताती है कि कैसे जोरान वुकोविच नामक आदमी ने उससे जबरदस्ती संसर्ग किया और बाद में दूसरों के आगे परोस दिया। स्कूल में सैनिकों का जत्था घुसा और आठ लड़कियों को चुन कर उनसे निचले कपड़े उतार कर फर्श पर लेटने को कहा। पूरी क्लास के सामने इन आठों का जम कर बलात्कार किया गया। सैनिकों ने बोस्नियाई मुसलमान लड़कियां चुनीं, उनके मुंह में जबरन गुप्तांग ठूसे और कहा “तुम मुसलमान औरतें (गाली देकर) हम तुम्हें दिखाते हैं।” उसके पास कोई शब्द ऐसा नहीं, जो उसकी यातना व्यक्त करने में सक्षम हो। बार बार यही कहती है ‘एक औरत के साथ इससे बदतर कुछ हो ही नहीं सकता।’

उसे बाद में पाट्रीजन स्पोर्ट्स हॉल में, अलग अलग उम्र की लगभग साठ अन्य स्त्रियों के साथ बंधक बना कर रखा गया। वे बारी बारी सर्व सैनिकों द्वारा ले जायी जातीं और बलात्कार के बाद लुटी पिटी घायल अवस्था में स्पोर्ट्स हॉल में बंद कर दी जातीं। सर्व सेनाओं ने घरों, दफ्तरों और कई स्कूलों की इमारतों को यातना शिवरों में बदल डाला था। एक बोस्नियाई स्त्री ने बताया “पहले दिन हमारे घर पर कब्जा करके परिवार के मर्दों को खूब पीटा गया। मेरी मां कहीं भाग गयी, बाद में भी उसका कुछ पता नहीं चल पाया। वे मुझे नोचने खसोटने लगे। भय और दर्द से मेरी चेतना लुप्त हो गयी... जब जगी तो मैं पूरी तरह नंगी और खून से सनी हुई फर्श पर पड़ी थी... यही हाल मेरी भाभी का भी था... मैं जान गयी कि मेरा बलात्कार हुआ है... कोने में मेरी सास बच्चे को गोद में लिए रो रही थीं।... उस दिन से हमें हमारे ही घर में कैद कर दिया गया। यह मेरी जिन्दगी का सबसे बुरा वाकया था... वे हमेशा हमें पंक्तिबद्ध कर सैनिकों के सामने ले जाते और हमें परोस देते। मकान में वापस लाकर भी अश्लील हरकतों के लिए मजबूर करते और हमें रौंदते... हमारे बच्चों के सामने भी हमें खसोटते। ये सब एक साल तक चला, अधिकतर औरतें या तो मर गयीं, पागल हो गयीं या वेश्याएं बन गयीं।”

युद्ध के बाद ‘डेटन एकाईस’ नाम से शांति समझौता हुआ था, जिसके अनुसार यौन हिंसा पीड़िताओं को घरवापसी पर मकान और सम्पत्ति दी जानी थी लेकिन ऐसी बहुत कम औरतें थीं, जो घरवापसी के लिए तैयार थीं। अधिसंख्य ने अपने पुराने मकानों में लौटने से इनकार कर दिया क्योंकि वहां उनकी यातना और अतीत के नष्ट जीवन के स्मृतिचिह्न थे।

अप्रैल 1992 के दिन को इतने वर्षों बाद भी हासेसिस नाम मुस्लिम स्कूली छात्रा भूल नहीं पायी है, जब सर्व सैनिक उसे विजेग्राद के पुलिस स्टेशन के तहखाने में ले गये “उस कमरे में लकड़ी का बहुत सा सामान था, कुर्सियां वगैरह। वहां मैंने मिलान ल्यूसिक और स्ट्रोजो लूसिक को देखा। मैं मिलान को अच्छी तरह जानती थी। उसने चाकू लहराते हुए कहा “अपने कपड़े उतारो, लगा वह मजाक कर रहा है... लेकिन सच यही था कि इतना पुराना सर्बियाई पड़ोसी कई सैनिकों के साथ मुझे अपमानित करने पर तुला था...।”

स्पाहोटल ‘विलिना व्लास’, जो आज पर्यटकों के आकर्षण का केन्द्र है, विश्वास नहीं होता पर मुझे बताया जाता है कि यहां दो सौ औरतों को बंद करके रखा गया था। बूढ़ी बाल्कन स्त्री को

तारीख याद नहीं लेकिन वाकया बखूबी याद है “मैं अपने बेटे को लेकर जंगल में छिप गयी थी। मेरा 16 साल का बेटा मेरे साथ था लेकिन बेटी को मैंने घर के तहखाने में छिपा दिया था, क्योंकि सुनने में आया था कि वे लड़कियां उठा ले जाते हैं। उन्होंने मुझे पकड़ कर धमकाया, बेटे के सामने मेरे कपड़े उतारे और चाकू से बेटे का गला रेत दिया, ‘मम्मी’ यही अंतिम शब्द था जो मेरा बेटा बोल पाया। कभी कभी वे मुझे दो दिन के लिए कैम्प ले जाते फिर होटल वापस छोड़ जाते। मैं गिनती ही भूल गयी कि उन्होंने कितनी बार मुझसे बलात्कार किया। होटल के सारे कमरों में ताले लगे रहते, वे खिड़की के रास्ते हमें रोटी फेंकते, जिसे हमें दांतों से पकड़ना पड़ता क्योंकि हमारे हाथ तो पीछे बंधे रहते। सिर्फ बलात्कार के वक्त ही हमारे हाथ खोले जाते। हमें समय का ज्ञान भूल गया। हमारी देह को सिगरेट से जलाया जाता, जीभ पर चाकू चला कर मांस का टुकड़ा काट लिया जाता। हममें से ज्यादातर औरतें न बोलती थीं, न रोती थीं। कुछ ने अपनी जान भी ले ली और कई तो दर्द और भूख से मर गयीं। कई औरतों का सात से नौ घंटे के बीच नौ बार बलात्कार हुआ। कुछ बलात्कारों की रिकार्डिंग भी की गयी, जिनका इस्तेमाल पोर्नोग्राफी के बाजार के लिए किया गया।”

ये बलात्कार किसी सरकार द्वारा नहीं बल्कि व्यक्ति विशेष द्वारा किये गये थे, इसलिए कई अंतरराष्ट्रीय संगठनों का मानना था कि ये मानवाधिकारों का उल्लंघन नहीं है क्योंकि उन्हें लगता था कि सिर्फ सरकारी संगठन ही मानवाधिकारों का उल्लंघन कर सकते हैं, लेकिन बाद में जब बोस्निया सरकार ने अंतरराष्ट्रीय न्यायालय में सर्व सैनिक टुकड़ियों की हिंसा को ‘जेनोसाइड’ कहा और 1993 में संयुक्त राष्ट्रसंघ ने पहली बार ‘अंतरराष्ट्रीय युद्ध अपराध ट्रिब्यूनल’ की घोषणा की, तब ऐसे कुछेक मामलों की सुनवाई आरम्भ हुई। इन सुनवाईयों में कभी आरोपी की पहचान से इनकार किया गया तो कभी मुद्दे ने आरोप वापस ले लिए। दिलचस्प यह भी था कि ट्रिब्यूनल के पास सुनवाईयों की व्यवस्था के लिए धन का नितांत आभाव था, जिसकी पुष्टि 7 दिसम्बर 1994 के न्यूयार्क टाइम्स की रपट करती है। दुखद आश्चर्य था कि ट्रिब्यूनल की 18 सदस्यीय जांच समिति में मात्र तीन स्त्रियां थीं। लम्बी जांच प्रक्रिया के बाद बोस्निया में यातना शिविर चलाने और हिंसा के लिए 21 सर्व सैनिक कमांडरों को दोषी पाया गया। न्यायालय ने कहा कि ‘ओर्मास्का कैम्प में स्त्रियों को बंधक बनाया गया, बलात्कृत कर जान से मारा गया। कइयों को बुरी तरह पीटा और अन्य बर्बर ढंग से बर्ताव किये गये।’ न्यूयार्क में अंतरराष्ट्रीय मानवाधिकार कानून की विशेषज्ञ रॉंडा कॉपलोन का मानना था कि स्त्रियों की अनुमति/सहमति के बिना ऐसे मामलों में उनकी पहचान को सार्वजनिक करना गलत है। बोस्निया की मुस्लिम बहुल आबादी में ऐसी स्त्रियां बहुत कम थीं, जो आरोपियों को पहचानने के लिए आगे आयीं।

बोस्निया युद्ध हिंसा की शिकार अधिसंख्य स्त्रियों को न्याय नहीं मिला। कुछ मर खप गयीं और कुछ दूसरी जगहों पर बस गयीं। युद्ध में शक्ति प्रदर्शन, लिंग विशेष के प्रति संचित घृणा ही बलात्कार जैसे कृत्यों में परिणत होती है। बलात्कार और यौन हिंसा एक तरह की ‘युद्ध रणनीति’ है, जिसके लिए कठिनतम और कठोर दंड का प्रावधान जब तक नहीं होता तब तक बलात्कार के शिकार बच्चों, स्त्रियों या अन्य किसी भी व्यक्ति को न्याय नहीं मिल सकता। युद्धकालीन यौन हिंसा की ओर से आंखें मूंदे रखना अधिसंख्य देशों की अघोषित राष्ट्रीय रणनीति है, लेकिन कागज पर विश्व के तीन चौथाई देशों ने युद्ध के दौरान यौन हिंसा को खत्म करने के लिए ‘डेक्लरेशन ऑफ कमिटमेण्ट टू सेक्सुअल वायलेंस इन कॉन्फ्लिक्ट्स’ पर दस्तखत कर रखे हैं। लौटने के पहले बोस्निया के ल्यूकोमीर गांव की तरफ हम घूमने गये हैं। कहा जाता है कि यह यूरोप में सबसे ऊंचाई पर बसा हुआ गांव है जहां आज भी आदिम सभ्यता सुरक्षित है। बिजली और आधुनिक उपकरणों के बिना जीवनयापन

आराम से हो रहा है। इसमें मेरे लिए आश्चर्य वाली कोई बात नहीं क्योंकि भारत में आज भी कई गांव बिजली जैसी सुविधा से वंचित हैं। लिलियाना मुझे घुमाने में थक गयी है, मेकअप की गहरी परत के भीतर छिपा विषाद उसके चेहरे पर दीख रहा है। पूरे रास्ते उसने मेरा कंधा पकड़ रखा है, शायद सब कुछ कह देने के बाद मनुष्य कमजोर हो जाता है। रवीन्द्रनाथ ने अंतिम यूरोप यात्रा से लौट कर शांतिनिकेतन में कहा था ‘आमि ओई खाने कंठ ता हारिए ऐशेछी’। आज समझ पायी हूं कि रवि बाबू यूरोप जाकर अपना गान भूल क्यों गये होंगे। क्रोएशियन हाइकू कवि और पेशे से डॉक्टर तोमिस्लाव मारेतिच जाग्रेब आये हैं। उन्हें मैंने बोस्निया यात्रा वृत्तांत के कुछ टुकड़े सुनाये हैं। बड़ी देर चुप रहने के बाद इटली से मिहिनी का भेजा स्कार्फ मुझे देते हुए दोस्ताना पेशकश करते हैं ‘नेमोज्ते पिसाती ओवो। ने ओब्जाविती ओवो’ (कृपया मत लिखो इसे। प्रकाशित मत करो) मैंने मुस्करा कर क्रोएशियन ढंग से सिर हिला दिया है। छपाने न छपाने के द्वंद्व में तीन वर्ष गुजर गये हैं। सन् 2010-2011 की प्रवास दैनंदिनी अब मुक्त हुई है, स्वच्छंद उड़ान के लिए। मित्र की बात न रख सकी, इसका अफसोस है। डायरी के पन्ने सुधारते सुधारते हर सुबह गुरुदेव गुनगुना जाते हैं

अंध जने देही आलो
मृत जने देहो प्राण
तुमि करुणामृत सिन्धु
करो करुणादान
जे तोमाए डाके नहीं
तारे तुमि डाको, डाको...

(दृष्टिहीन को प्रकाश दो, मृत देह को दो प्राण, तुम करुणा अमृत के सागर हो, करो करुणा का दान। जिसने तुम्हें पुकारा नहीं उसे भी तुम पुकारो ‘गीतवितान’)

टेलिविजन पर बीबीसी वर्ल्ड चल रहा है। युद्ध के दौरान यौन हिंसा के विवरण जुटाने और जांच करने के बारे में विलियम हेग और एंजेलीना जॉली द्वारा शुरु किये गये अंतरराष्ट्रीय प्रोटोकॉल का प्रारूप प्रसारित हो रहा है

“हम सभी देशों से अपील करेंगे कि वे बलात्कार और यौन हिंसा सम्बंधी अपने कानूनों को अंतरराष्ट्रीय मानदंडों के अनुरूप बनायें। हम सभी सैनिकों और शांतिरक्षकों के उचित प्रशिक्षण की मांग करेंगे ताकि वे युद्ध क्षेत्र में यौन हिंसा को समझ और रोक सकें। शरणार्थी कैम्पों में रोशनी के प्रबंध से लेकर जलावन एकत्र करने बाहर जाने वाली महिलाओं के साथ रक्षाकर्मी के जाने जैसे साधारण उपायों के जरिये हमले की संख्या में भारी कमी लायी जा सकती है और हम चाहते हैं कि ये आधारभूत सुरक्षा उपाय सार्वभौम हों।”

द इवेण्ट मैनेजर

पंकज मित्र

(‘जीवन एक इवेण्ट है और जीना उसका मैनेजमेण्ट। जो जी लेता है इसे पूरी तरह’ वही है सच्चा इवेण्ट मैनेजर। ईश्वर से बड़ा इवेण्ट मैनेजर कोई नहीं। इतने बड़े संसार को मैनेज करना कोई बच्चों का खेल नहीं मन्नु।)

उसके बारे में सारी सूचनाओं का स्रोत थी वह इकलौती पेन ड्राइव जिसे गायब होने से ऐन पहले उसने पता नहीं क्यों मुझे दी थी। और कहा था बॉस! इन सबको एक सी.डी. में डाल देना। मैं तुमसे बाद में ले लूंगा। मुझसे तो पिछले कुछ वर्षों से अबोला था उसका फिर भी और यह मामूली काम तो वह खुद भी कर सकता था या किसी इंटरनेट कैफे में जाकर बीस रुपये में करवा सकता था लेकिन, लेकिन जैसा मेरा एक मित्र कहता है कुछ तो अतीन्द्रिय, अद्भुत आकर्षण है जिसकी वजह से लोग तुम्हें कहानियां खुद ब खुद दे जाते हैं। वैसे मुझे अपनी कहानी बताने के लिए उसने ये नहीं दी होगी क्योंकि हम लोग एक ही मुहल्ले में वर्षों से रहते आये थे और बचपन से मैंने उसे देखा था। अचानक गायब हो जाने के बाद उत्सुकतावश मैंने वह पेन ड्राइव सिस्टम में डाला तो कुछ तस्वीरें ज्यादातर शादियों तथा फैशन शो जैसे समारोहों की, कुछ ऑडियो क्लिपिंग जिनमें अधिकतर में सिर्फ उसकी आवाज थी जैसे वह रिकार्डर से बात कर रहा हो और कुछ वीडियो क्लिपिंग सभी राजनैतिक दलों की रैलियों और डिनर पार्टियों की। सब बेतरतीब थीं और वैसे भी जीवन में भी कहां सब कुछ तरतीबवार होता है। कहते हैं नाम में क्या रखा है तो नाम तो कुछ था उसका, बहुत ही आमफहम सा, जिसके बारे में मोहल्ले के पांडेबाबा की मशहूर उक्ति थी चौकवा पर जाके डेला फेंक देवे तो भी मनोजवा चाहे राजेशवा के लगती। लेकिन मोहल्लाप्रसिद्ध नाम था उसका मोटका। दरअसल किसी किसी की कद काठी ही ऐसी होती है कि नाम भी जन्म के साथ ही छप जाता है सबकी स्मृति

में। कद काठी से भी और अपनी गतिविधि से भी मोटका। हर अवसर पर खासतौर पर अगर सामाजिक काम जैसा कुछ हो तो स्वाभाविक ढंग से उसे वहां का मुख्य कर्ताधर्ता समझ लिया जाता। किसी के यहां दावत हो, कैटरिंग वाले को निर्देश देता हुआ मोटका ही नजर आता था सुनो उधर डोंगा में चिकन खतम हो गया है। भर के फिट फिट कर दो। सुनो पानीवाला उधर थोड़ा दूर रख दो, इधर कीचड़ हो जायेगा। किसी की शवयात्रा में भी सुनो पन्नूबावू के यहां बांस मिल जायेगा, मना नहीं करते हैं लेने से। अगरबत्ती माला चंदन सब हम ले आते हैं सुरेशवा के यहां से और कनकटिया (शवयात्रीगण) में लिए पूड़ी जिलेबी भी बोल दिये हैं पचीस आदमी का। सब व्यवस्था टंच है। फिट फिट, टंच ये सब मोटका की शब्दावली के अनिवार्य एवं अभिन्न अंग थे और पूरे आत्मविश्वास के साथ वह अमेरिकी राष्ट्रपति के सामने भी बेधड़क उचार सकता था कहीं भी। दावतों में उसका अपना भोजन एक दर्शनीय घटना होती थी जिसके सम्पन्न होने के बाद आम राय बनती थी ई मोटका का पेटे नहीं भरता है। खाना खा लेने के बाद वह एक मिनट भी नहीं रुकता था कहीं भी। आदतन लोग आवाज देते देखिये उधर कचौड़ी नहीं है। इधर मटर पनीर खतम है। लेकिन मोटका तब तक अपने घर की चौकी पर चित्त लेट कर पेट पर दोनों हाथ रखे खरटे गुंजा रहा होता। सरस्वती पूजा में मोहल्ले में जब हम रात रात भर जाग कर डेकोरेशन कर रहे होते, मोटका रात के दस बजते ही जम्हाई लेता हुआ कहता था अब हम नहीं रुकेंगे। दो घंटा सोकर आते हैं। पांच बजे के गये हम देर तक सोये रहते, तब तक नहा धोकर, कुर्ता पाजामा पहन कर, मंडप में सुबह से ही घूमता मिलता था और सबको बताता कि कैसे रात भर डेकोरेशन किया है उसने। कैसा लग रहा है हमारा डेकोरेशन? लड़कियों से मुस्करा कर पूछता। हम हर साल उसे पीटने की कसमें खाते थे और सरस्वती पूजा में उसका बाँयकाट करने की बात करते थे लेकिन हाथ पैर जोड़ कर वह फिर शामिल हो ही जाता था। दरअसल उसकी चंदा इकठा करने की क्षमता असाधारण थी और इस एकमात्र कारण से हमें उसे हर गतिविधि में शामिल करना पड़ता था। यहां तक कि बनर्जी बाबू से भी वह चंदा ले लेता था जो एक असाधारण उपलब्धि मानी जाती थी।

केमन आछेन काकू। बनर्जी बाबू से वह बंगला में बातचीत शुरू करता था।
 भालो, भालो। बनर्जी बाबू सब्जी का थैला उठाये आगे बढ़ने लगते थे।
 दीजिये, हामि पहुंचा दोबो। मोटका थैला पकड़ लेता था।
 हामि पहुंचा दोबो ना रे 'आमि पौंचे देवो' बनर्जी बाबू हंसने लगते थे एक एकदोम
 नाछोड़बांदा। (छोड़ने वाला नहीं)

केतना चांदा ले रहा है एईबार।
 बास एक सौ एक आपके लिए।
 पागोल नाकि लो ऐकूश टाका। बनर्जी बाबू इक्कीस रुपये से मोलभाव शुरू करते थे।
 मोलभाव हमेशा इक्यावन पर टूटता था। इससे पहले हम लोग उकता चुके होते थे और लौट जाते
 थे मगर मोटका इक्यावन रुपये लेकर ही लौटता था सगर्व मुस्कान के साथ। बाकियों से मनमुआफिक
 चंदा ले लेना तो मोटका के लिए बायें हाथ का खेल था। निश्चल मुस्कान के साथ कहता था आपटर
 आल मनुष्य इज एक सामाजिक प्राणी। 'मनुष्य' और 'सामाजिक' दोनों के उच्चारण के साथ एक
 हल्की सीटीनुमा ध्वनि आती थी जो उसके सामने के दांतों के बीच के बिलगाव की वजह से उत्पन्न
 होती थी। वैसे एक सीटी बाकायदा अपनी जेब में भी रखता था वह जिसका प्रयोग ट्रैफिक जाम वगैरह
 में फंसने पर सीटी बजाते हुए बाइक निकाल ले जाने में करता था और ट्रैफिक सिपाही अकसर उसकी
 कद काठी और सीटी की बजह से विभागीय आदमी समझने की भूल कर बैठते थे और निकल जाने

देते थे। अपनी कद काठी से रौब पड़ने की बात वह कभी भी स्वीकार करने को तैयार नहीं होता था बल्कि हल्की विनम्र मुसकान के साथ 'नहीं, ऐसी कोई बात नहीं' कह कर हंसी में उड़ा देने की चेष्टा करता। कद काठी के ऐसे वृहदाकार होने के पीछे पांडे बाबा का अपना अशोभनीय तर्क था कुतवैन के बचपन में नाय देखोही जे सबके ठोलठाल के जादे दूध पी ले है वही तगड़ा। वैसे पांडे बाबा के तर्क में थोड़ा दम तो दिखता था क्योंकि मोटका के बाकी दो भाई उतने तगड़े नहीं थे और मितभाषी प्रोफेसर साहब के घर में दूध की कमी तो अवश्य रहती होगी। प्रोफेसर साहब का सम्मान मोहल्ले में कम ही लोग करते थे जबकि प्रोफेसर साहब हर किसी में साथ सम्मान से पेश आते थे और मोहल्ले में एकमात्र किराना दुकान वाला जिसे पूरा मोहल्ला बलेसरा कहता था को प्रोफेसर साहब हमेशा 'बालेश्वरजी' कहते थे 'बालेश्वर जी'! इस बार होली पर भी सैलरी मिल नहीं पायेगी लगता है। जरा काम चला दीजियेगा। बलेसरा मैदा और चीनी के साथ थोड़े से अपमान की पुड़िया भी तोल देता जिसे सिर झुकाये प्रोफेसर घर लेकर आते थे। त्योहारों पर पांडे बाबा जो अधिकतर बलेसरा की दुकान पर ही बैठे हुए पाये जाते थे प्रोफेसर साहब के जाने के बाद हाथ उलटते हुए कहते 'कौन कॉलेज हो जी एकर आर ई कौन प्रोफेसर हउ? बलेसरा भला क्या जबाव देता इस यक्षप्रश्न का, वह कोई युधिष्ठिर थोड़े ही था।

प्रश्न तो पूरे मोहल्ले के सामने था कि आखिर इतना लहीमशहीम एक आदमी आखिर एक रात अदृश्य कैसे और क्यों हो गया? शंका, आशंका, संदेह, सहानुभूति, फुसफुसाहटें, परिवाद, अफवाहें सब मोहल्ले में घेर घूम रही थीं धुएं की आकृतियों की तरह हर घर पर थोड़ी देर ठहरतीं, पूर्णवात की तरह नाचतीं फिर अगले घर की ओर बढ़ जातीं। बहुत सारे अर्द्धवयस्क और युवाओं की रुचि इसमें भी थी कि इस पूरी घटना पर तिलोत्तमा जी की प्रतिक्रिया क्या है? पर तिलोत्तमा जी थी कि किसी को भी सहानुभूति प्रदर्शित करने का कोई अवसर ही नहीं दे रही थी। दरवाजा बंद था और कोई गवाक्ष भी खुला नहीं छोड़ा था। पांडेबाबा की मौलिक टिप्पणी 'तिलोत्तमा महाठगिनी हम जानी' पर भी लोगों के विश्वास करने की इच्छा तो होती थी परंतु इस इच्छा का जीवन दीर्घ नहीं हो पाता था। तिलोत्तमा कौन है? इसके लिए जो पेनड्राइव में ऑडियोक्लिप है तिलोत्तमा जी के बारे में मोटका के उद्गार की उसे सुनाना पड़ेगा। वैसे मैं तिलोत्तमा जी नहीं कहूंगा, बहुत दिनों से तिलू कहता आया हूं तो इतना भारीभरकम तिलोत्तमा जी मुंह से निकलता नहीं है। यह ऑडियो एकालाप सा है और किसी नर्म से सुरमई उजाले और चम्पई अंधेरे वाले क्षण में मोटका ने खुद की आवाज रिकार्ड की है

"तिलोत्तमा! तुम्हारा ऋण कैसे चुका पाऊंगा? मेरे जीवन में आने के लिए बहुत बहुत शुक्रिया। अगरू के धुएं से सुवासित सांझ में जब लाल पाड़ की सिल्क की साड़ी पहन आंचल को गले में लपेट कर तुलसी चौरे पर दीप जलाती हो तुम, तो तुम्हारी त्वचा से जैसे प्रकाश फूटता रहता है। दरवाजे पर खड़े होकर इच्छा होती है घंटों देखता रहूं। लेकिन सांझ का यह जादू, यह रोशनी, जैसे तुरंत चली जाती है। और बस रह जाती है तुम्हारी खुशबू हवा में..." मोटका के अंतिम शब्द जैसे अवरुद्ध कंठ से निकल रहे हों। इस ऑडियो के शब्द जाहिर हैं किसी भावुक पल की उपज थे पर मुझे सबसे आश्चर्य ये हुआ कि मोटका जैसे उपयोगिता में विश्वास रखने वाले, शुष्क से आदमी के अंदर भी रस था, जो झर रहा था। पर जहां जहां 'स' या 'श' आया था वहां हल्की सीटी बदस्तूर बज रही थी या यह मेरी खिसियानी सोच का नतीजा भी हो सकता है। दरअसल तिलोत्तमा या तिलू वह युवा तितली थी जिसके कंकून से निकल कर पांखें पसारने की प्रतीक्षा मोहल्ले के सारे किशोर, युवा, अर्द्धवयस्क तक कर रहे थे। इस रूपांतरण को प्रशंसामिश्रित चौंक के साथ सारी सृष्टि ने पहली बार देखा जब तिलू ने सरस्वती पूजा में लाल पाड़ की पीली रेशमी साड़ी पहनी थी और बंगाली टोला के मंडप में कई लड़कियों के साथ गयी थी। हमारे मोहल्ले के सारे लड़के अपने पंडाल को छोड़ कर दिन भर बंगाली

टोला के पंडाल में ही जमे रहे। मोटका के पेन ड्राइव में भी तिलू की बहुत सारी तस्वीरें थीं, विभिन्न अवसरों पर अलग अलग मुद्राओं में कहीं कृत्रिम क्रोध था तो कहीं लास्य, कहीं पुरातन तो कहीं चिरनूतन। हालांकि ये सारी तस्वीरें बहुत बाद के दिनों की थीं। मैं जिन दिनों की बातें कर रहा हूँ वे उन दिनों की हैं जब मेरे सहित कई लड़के यह सोचते थे कि तिलू हमारे प्रेम में पड़ी हुई है और मोटका इन सब झमेलों से असम्पृक्त होली में मोहल्ले में कसाई बुलवा कर खस्सी कटवाने, मांस की अग्रिम बुकिंग और इसी चक्कर में कैसे एकाध किलो उसे मुफ्त मिल जाये इसकी आनुषंगिक व्यवस्थाओं में लगा रहता था। उस दिन पांडेबाबा दिन भर उसे खस्सी मैनेजर बुलाते थे। मोहल्ला लेवल के क्रिकेट मैचों में भी उसकी रुचि सिर्फ इसमें थी कि बारहवां खिलाड़ी बन कर नाश्ता पैकेट और किसी भैया या अंकल द्वारा दानस्वरूप दिये गये यूनिफार्म को कैसे हासिल किया जाय। हालांकि उसकी कद काठी की वजह से ये यूनिफार्म उसे बेहद तंग आते थे और पैण्ट इस कदर चिपक जाती थी कि उसके अंडकोष एक किनारे दब कर पूरे प्रत्यक्ष हुए रहते थे। कोई टोक दे तो विनम्रता से कहता डोण्ट वरी, थैंक्यू, आय विल मैनेज, गॉड ब्लेस यू। ‘आय विल मैनेज’ उसका बड़ा प्रिय तकियाकलाम था और जहां आवश्यकता नहीं भी हो उसे घुसेड़ने का प्रयास करता था। ‘आय विल मैनेज’ का कई बार प्रयोग एक और आडियो क्लिप में सुनायी पड़ा, उसी पेन ड्राइव के जरिये, जिस पर मेरा ध्यान अटका। इस घटना की पृष्ठभूमि चूंकि हम जानते थे इसलिए पहले ये आडियो सुनना दिलचस्प होगा

“बाउजी! आप जब नींद की दवा लेकर सोने जा चुके होंगे उस समय हम स्टेशन पर गाड़ी का इंतजार कर रहे होंगे। फिलहाल जा रहे हैं, क्या करने, पता नहीं बट आय विल मैनेज। सुबह आपके जगने तक टिन्नु और पन्नू दोनों आ जायेंगे। आपका कुछ न कुछ मैनेज करेंगे ही। आखिर नौकरी वाले लोग हैं। हो सकता है साथ ही दिल्ली ले जायें, वो लोग आपका बेहतर इलाज करवा सकेंगे। मेरी हालत तो आपको मालूम नहीं है। होगी कैसे? हमने सोचा था कि एनी हाउ आय विल मैनेज, लेकिन मार्केट में कर्जा बहुत हो गया। कुछ लोग तो धमकी भी देने लगे हैं। बट डोण्ट वरी आय विल मैनेज। शायद आपको मेरा आखिरी प्रणाम हो।”

इस आडियो में दिलचस्पी इसलिए है कि मोहल्ले की स्मृति में दर्ज है इसका घटनाक्रम। वैसे यह आडियो तो मोटका ने अपराधबोध से ग्रसित होकर रिकार्ड किया होगा। लेकिन आखिरी प्रणाम तो साबित हुआ ही। मोहल्ले की स्मृति में अंकित होने का कारण है मितभाषी प्रोफेसर साहब का पहली बार चिल्ला चिल्ला कर बेटों को गालियां देना और बार बार छोड़ कर घर पर लगे ताले को पकड़ कर झूल जाना। बार बार कहते थे हम कहीं नहीं जायेंगे। बंगलनियां सब बर्बाद कर देगी। जिस आदमी को मोहल्लेवालों ने कभी जोर से बोलते नहीं सुना था उसकी हृदयविदारक चीखें मोहल्ले को अब तक याद हैं। दोनों बेटे परेशान। ट्रेन का समय हो चला था और बुढ़ऊ थे कि टस से मस नहीं हो रहे थे। पर आँटो पर लाद दिया गया और मोहल्लेवालों ने नम आंखों से विदाई दी थी उन्हें। पांडेबाबा कहां चूकने वाले थे पूत सपूत तो का धन संचै। हालांकि पांडेबाबा की उक्ति बहुत सही नहीं थी इस संदर्भ में क्योंकि संचय तो प्रोफेसर साहब का कुछ खास था नहीं। बल्कि प्रोफेसर भी पूरी तरह थे नहीं, लैब असिस्टेंट जैसा कुछ थे जिन्हें प्रोफेसर लोग बेगार के तौर पर क्लास लेने को बाध्य करते थे। इसीलिए प्रोफेसर कहलाने लगे चुटकी लेने के अंदाज में। ले देकर एक मकान था, कॉलेज भी माइनोरिटी स्टैटस वाला था तो पेंशन की सुविधा भी नहीं थी। यूनिवर्सिटी में कुछ पैसा होगा जो वर्षों से अटका ही पड़ा था। पर कपूत का मामला तो बन ही गया मोटका पर। यह कपूतपना कितना उसकी अकर्मण्यता के खाते में गया था और कितना तिलोत्तमा से उसके दास्यभाव वाले प्रेम के खाते में जो उन दिनों शुरू हुआ था, कहना मुश्किल है। तिलोत्तमा से हर कोई प्रेम करता

था अपने अपने तरीके से, या कम से कम करना चाहता था। स्वर्णाली पीताभा लिए उसका चेहरा, नाक की लौंग के लश्कारे, बंकिम मुस्कान, मतलब अभी कहने लगूं तो निश्चित रूप से बहक ही जाऊंगा। संक्षेप में हमारे मोहल्ले से उस रूपगर्विता की ख्याति शहर के दूसरे मोहल्लों में भी फैल रही थी। वह आराध्या भी थी, भोग्या भी। स्वप्नकाम्या भी थी और अधिसंख्य स्वप्नदोषों का कारक भी। लिटू ने सबसे पहले हमारे दल में यह सूचना प्रसारित की मोटका को कई बार तिलू के घर आते जाते देखा गया है। कहीं विश्वासघात का कोई खेल तो नहीं खेल रहा है वह। इस विश्वासघात का कोण इस काल्पनिक तथ्य में छिपा था कि तिलोत्तमा तो मुझसे प्रेम करती थी और यह दल के सभी लोग मानते थे। एक मैं ही था जिसे तिलू दादा कह कर नहीं पुकारती थी, 'सुनिये न' कहती थी और सबका मानना था यह बंगाली स्त्रियों का 'ओगो शुनछो' मतलब 'अजी सुनते हैं' का पर्याय था। तो मोटका की पेशी हुई।

क्या रे मोटका? ये सब क्या चल रहा है ?

मतलब?

ऊंह! मतलब! कुछ जानते ही नहीं।

लिटू ने आरोपपत्र पढा तिलू के घर का आटा पिसवाने अमुक समय, परीक्षा केन्द्र पर पहुंचाने फलां दिन, उसके पिता को डाक्टर को दिखाने इस वक्त और माता जी के साथ सब्जी खरीदवाने उस शाम।

अरे भई ! उन लोगों के घर में कोई लड़का नहीं है न इसलिए। और तिलोत्तमा ने कहा था कि आज उसके यहां खजूर गुड़वाला खीर बना है और मुझे विशेष निमंत्रण है। तिलू तो हमको दादा भी कहती है।

इस धोखे में हम नहीं रहने वाले, बंगाली लड़कियां तो पति को भी शादी से पहले दादा ही कहती हैं।

इस पूरी पेशी के दौरान मैं सिर्फ जलती निगाहों से मोटका की तरफ देखता रहा जिसके प्रत्युत्तर में मोटका एक विनम्र और बेबस सी मुस्कान देता रहा और अपनी बेगुनाही की कसमें खाता रहा। मोटका सिर्फ उदरपूर्ति सम्बंधी कारणों से वहां जाता था ऐसा हमारे दल ने विश्वास कर लिया। उसका पेट भरना एक समस्या थी। दरअसल मोहल्ले का कोई भी बच्चा दूकान से कुछ खाद्य वस्तु मसलन बिस्किट, ब्रेड, टॉफी यहां तक की चीनी भी लेकर आ रहा हो मोटका को देखते ही सावधान हो जाता और मोटका सचेष्ट हो जाता था किसी तरह एक छोटा से छोटा अंश बहला फुसलाकर या धमका कर प्राप्त कर ले। हम सब निश्चिंत होकर मोहल्ले की सीमारेखा के बाहर बने एक छोटे से सिनेमा हॉल में गये। पैसे जोड़जाड़ कर थे टिकट भर के लेकिन मोटका का पैसा पूरा पड़ नहीं रहा था तुम लोग थोड़ा कोआपरेट करोगे तो आय विल मैनेज। इस सहयोग का मतलब था हॉल के परिसर में एक नकली झगड़े की दृश्यरचना जो वास्तविक लगे और जब गेटकीपर वगैरह भी झगड़े का लुत्फ उठाने आ जायें तो मोटका धीरे से सरक कर अंधेरे हॉल में घुस कर बैठ जाय किनारे की बेंच पर। यह व्यवस्था एकाध बार को छोड़ कर हर बार कामयाब ही रही थी। मारपीट लड़ाई झगड़े के दृश्य इस सिनेमा हॉल में आम थे और इसी सिनेमा हॉल में तिलू के साथ देखी गयी फिल्म 'दिलवाले दुलहनिया ले जायेंगे' मेरे जीवन की महत्पूर्ण उपलब्धियों में एक थी जिसमें पूरी फिल्म के दौरान तिलू का हाथ अपने हाथों में लेकर बैठा था जो हल्के हल्के कांप रहा था। शायद लोकापवाद के डर से। लेकिन मैं उस कम्पन को प्रेमोत्तेजना का कारण समझता रहा और मन ही मन प्रसन्न होता रहा। खैर, वे सब तो अतीत की बातें हैं लेकिन मोटका इस बार अदृश्य होने से पहले भी एक बार अदृश्य हुआ था जिसकी वजहें

अधिकतर लोगों को पता थीं। दोनों बार के गायब होने में अंतर इतना था कि पिछली बार मोटका प्राणभय से खुद महाभिनिष्क्रमण कर गया था रात के अंधेरे में। लेकिन इस बार का पता नहीं...

पेन ड्राईव में कुछ तस्वीरें थीं उस वक्त की भी जिसमें शायद फोटो को स्कैन किया गया था क्योंकि धुंधली सी थीं तस्वीरें। पुरानी काट के किसी स्टिल कैमरा से खींची गयी तस्वीरों की स्कैण्ड कॉपी एक तस्वीर में मोटका गांगल्स लगाये एक साईनबोर्ड के सामने खड़ा था जिस पर कलात्मक ढंग से 'एम टी एच' लिखा था मतलब आधिकारिक नाम 'मनोज टेण्ट हाउस' लेकिन स्वाभाविक रूप से मोटका टेण्ट हाउस कहलाता था। किसी ने भी आजतक उस आठ बटा छः के कमरे में न तो कभी टेण्ट देखा था न टेण्ट हाउस से सम्बंधित कोई साजोसामान यानि कुर्सी, मसनद, गद्दे, तकिया, वगैरह। किसी ग्राहक के पूछने पर पूरे आत्मविश्वास से मोटका कहता था डोण्ट वरी, आपको समय पर काम होने से मतलब है न। सब कुछ टाइम से पहुंच जायेगा। आय विल मैनेज एवरी थिंग। दूकान की पगड़ी, उसके चाकचिक्य, बाइक, टेलीफोन सब करने में बाबूजी की पूंजी का एक बड़ा हिस्सा निकल गया। पर बिन मां के उस बेरोजगार का मुंह देख कर प्रोफेसर साहब ने अपना सर्वस्व दे दिया। पांडेबाबा ने उनसे कहा भी था अबरी आप सही लाइन पर लगाये हैं इसको। बड़ी घर में भोज खा खा के एकदम्मे स्पर्ट हो गया है इ काम में।

सदाशयता भरे इस कथन में छिपे डंक को महसूस किया प्रोफेसर साहब ने भी लोग बुलाता है तब न जाता है।

नहीं मतलब हम कह रहे हैं सही काम पकड़ा है अबरी।

देखिये। प्रोफेसर साहब ने ऊपर वाले की तरफ हाथ उठा दिया। ऊपर वाले ने सुलह करवा दी। वैसे भी प्रोफेसर साहब भिड़नेवालों में नहीं थे। पांडेबाबा को आनंद नहीं आया। विवाद परिवाद संवाद के पूर्णकालिक कार्यकर्ता ठहरे। पहुंच गये एम.टी.एच.।

तब बाबू? इ कोन तरह के टेण्ट हाउस हो जी? न टेण्ट कुर्सी, न कनात बिछौना?

मोटका काउंटर पर बैठा फोन पर बात कर रहा था।

वहां पर पचास कुर्सी, शामियाना, तीन डोंगा, दू टोपिया अभी तुरंत भेज दीजिए। घट गया है। बाकी सामान हम कैलाश भैया के यहां बोल दिये हैं। न, न, अरे कैलाश भैया का पहले से सब बुक है। वहां नहीं था तब न आपको बोलना पड़ रहा है। हां ठीक है, बिल हमारा टेण्ट हाउस के नाम पर बनेगा। आपको हम देंगे।

समझे चचा! मोटका वही निश्चल दंतुरित मुस्कान।

समझाओ न बाबू।

यही न मैनेजमेण्ट है। अब बुड़बक लोग अपना पूंजी लगा के बिजनेस करता है। खाली दिमाग लगाओ, सेटिंग करो। इधर का उधर करो बीच में से ले के निकल जाओ।

अच्छा, मतलब माल महाराज के मिर्जा खेले होली?

नहीं पार्टी का टेंशन ले लो। इंतजाम करना भी तो टेंशन है न और आज कोई टेंशन लेना नहीं चाहता है। बस सब फिट फिट कर दो इंतजाम टंच माल डाउन। मोटका लाभ की प्रत्याशा में प्रगल्भ हुआ जा रहा था।

सब तो ठीक हो बाबू। लेकिन कैलाश यादव से डीलिंग... माने उ आदमी ठीक न हउ। पांडेबाबा को मोटका की चिन्ता थी।

न कोई शत्रु है न कोई मित्र, न अपना न पराया, कार्यकारण सब मैं हूं, कर्म फल तुम्हारे हाथ में नहीं है। कर्म किये जाओ बाकी सब मैं मैनेज कर लूंगा। हाथ में कुछ पैसे आ जाने पर हर आदमी ईश्वर की तरह उवाचने लगता है पांडेबाबा सोच रहे थे और मैनेज करने वाली बात तो

भगवान कृष्ण ने नहीं कही थी तो क्या मोटका भगवान कृष्ण के ईश्वरत्व के क्षेत्र का भी अतिक्रमण कर रहा था। ऐसा तो दो ही कारण से होता है या तो अकूत धन आ जाये या प्रेम में पड़ जाये। हम लोगों को भी चिन्ता थी कि मोटका कैलाश यादव के सम्पर्क में था। अकूत न ही सही धन तो आना शुरू हुआ ही होगा। एक चीज के बारे में हम निश्चित थे कि मोटका प्रेम में नहीं पड़ सकता था या दूसरे तरीके से कहें तो कोई लड़की मोटका के प्रेम में तो नहीं पड़ सकती थी। परंतु पेन ड्राइव में मौजूद कई तस्वीरें हमारी इस धारणा का खंडन कर रही थीं।

तस्वीर 1: मोटका, कैलाश यादव, उसका बेटा बिट्टू यादव और तिलू।

अवसर : कैलाश यादव के बसों के नये शोरूम का उद्घाटन।

तस्वीर 2: मोटका को कई लड़कियां गुलाल लगा रही थीं हंस हंस कर। पीछे बैनर था एम. टी.एच. इवेण्टस।

तस्वीर 3: जानेमाने समाजसेवी भाई जी, कई लड़कियां और मोटका।

तस्वीर 4: मोटका और तिलू की एक सेल्फी।

तीन चार और तस्वीरें थीं जो धुंधली हो गयी थीं। एकाध तो पानी में भीग कर खराब हो गयी थी। लेकिन हर तस्वीर में एक बात कॉमन थी कि उसमें लड़की या लड़कियां थीं और हमारी शुरुआती बद्धमूल धारणा कि 'मोटका को स्त्रियों में या स्त्रियों को उसमें कोई दिलचस्पी नहीं' ध्वस्त हो चुकी थी। पेन ड्राइव में विडियो क्लिपिंग्स अभी मैंने देखी नहीं थी। आज रात निश्चित बैठ कर देखूंगा शायद उसमें मोटका के अदृश्य होने के कुछ सुराग हों।

पांडेबाबा हमारे मोहल्ले के आधिकारिक इतिहासकार हैं जैसे कांग्रेस के पट्टाभि सीतारमैया थे। अब की पीढ़ी उन्हें पांडेपीडिया बुलाती है। आई.पी. अड्रेस 'बालेसर दुकान'। आज कल मोटका से बिगड़े रहते हैं। जिसकी कुछ नितांत व्यक्तिगत वजहें हैं।

'अच्छा मोटका का जो पहला महाभिनिष्क्रमण हुआ था।' कोई छेड़ देता था, बस पांडेबाबा जाग्रत ज्वालामुखी।

हुंह! महाभिनिष्क्रमण। महातमा बुद्ध हो गेली एकदम। अरे, बीमार बाप को छोड़ के भागता है कोई रातोंरात। और उ भी गुमनाम फोन भाई लोग को करके। उ तो आवाज पहचान लिया भाई लोग, दांत के बीच से सीटी बजाता है न 'स' बोलने में। उ तो इसका भाई बताया न हमको। आवाज बदल के यही बोला था 'तुम लोगों के भाई का जान सांसत में है। कभी भी उसका मर्डर हो सकता है। बाबूजी को सुबह ही आकर ले जाओ तुरंत। तुम्हारा भाई मैनेज नहीं कर सक रहा है।' बस भाई लोग तत्काल में टिकट लेके भागते हुए आया तो साहब गायब, बाहर से बाप को कुंडी लगा के। कह रहा था भाई लोग हम लोग तो खुद डेढ़ कमरा में किसी तरह गुजार रहे हैं। अरे पैसा वैसा मांग लेता लेकिन बाबूजी का जिम्मेदारी सोचो बलेसर ? एक बाप तीन बेटा को पाल लेता है, तीन बेटा मिलके एक बाप को नहीं पाल पाता है।

बलेसर क्या कहता, उसका खुद तीन महीने से राशन का पैसा बाकी था। मोटका हर बार कहता था 'बस अबरी सब एक्केबार चुका देंगे'। राशन भी कोई कम नहीं था। दो आदमी के लिए पांच आदमी का राशन जाता था। फुसफुसाहट के साथ पांडेबाबा बलेसर के कान में मुंह सटा के बोले उ तो ईश्वर का कृपा था कि अपना बेटवा को इसके साथ नहीं लगाये काम पर नहीं तो कैलशवा से हमरा भी दुश्मनी हो जाता, है कि नहीं ? बालेसर डर से सिर हिलाने लगा खयाल मात्र से। कैलाश यादव के नामोल्लेख के साथ ही एक और ऑडियो क्लिप का खयाल अचानक आ गया। उस पेन ड्राइव में कैलाश यादव नाम से एक ऑडियो फाइल थी शायद, सुना जाय, ये हां

“क्या गजब आदमी हैं कैलाश भैया भी। इतना धार्मिक, पूरे समाज का खयाल रखने वाले। संघर्ष की भट्ठी में तपने के बाद ही इतना उदार हृदय हो पाता है। उनके सामने भला मेरी हैसियत क्या है। इतना बड़ा साम्राज्य लेकिन हमको भी टेबल पर साथ बैठाते हैं। कहते हैं बेटा मेहनत करते जाओ। जो सहयोग चाहिये हमसे कहो। हालांकि सहयोग को सहजोग बोलते हैं लेकिन पढ़ाई लिखाई से ही सब कुछ थोड़े है। आदमी कलेजावाला है मानना पड़ेगा। एक लाख के करीब उधारी हो गया है लेकिन कहते हैं कोई फिकिर नहीं तुम तो घर का बच्चा जैसा है, बिट्टू जैसा। तिलोत्तमा को भी कितना मानते हैं। शो रूम में काम करने वाली कभी समझते ही नहीं, बेटा ही कहते हैं हमेशा। आंख कैसा मुलायम हो जाता है जब तिलोत्तमा की तरफ देखते हैं। जल्दी जल्दी सैलरी भी बढ़ रहा है उसका। जब मिलते हैं पूछते हैं उससे मां केमन आछे, भालो? तिलोत्तमा मीठी मुस्कान के साथ सिर झुका देती है। इसी मीठी मुस्कान की खोज में हम भी रोज शो रूम जाते हैं। कैलाश भैया से तो मंदिर में भी भेंट होती ही है। तिलोत्तमा कहां हो तुम?”

मुझे आश्चर्य हो रहा था कि ये बातें रिकार्ड करने का औचित्य क्या है? बैकग्राउंड में विविध भारती पर बजता हुआ छायागीत कार्यक्रम आ रहा था जिसमें हेमंत कुमार की मंथर मंदिर आवाज में ‘ये रात ये चांदनी फिर कहां, सुन जा दिल की दास्तां’ भी रिकार्ड हो गया था। मोटका की आवाज में भी थोड़ा गलदश्रु भाव सा था। कल्पना की जा सकती थी कि शाम को कैलाश यादव की सांध्यकालीन गोष्ठी से लौट कर मोटका ने मिजाज से भोजन बनाया होगा। जम कर खाया होगा। पिता को खिला कर नींद की दवा देने के बाद रेडियो पर विविध भारती सुनते सुनते पुराने मधुर गानों ने तिलोत्तमा की याद के लिए ईंधन जुटाया होगा और ये रिकार्डिंग उसी का नतीजा थी। मोटका को खींच कर एक लात पृष्ठभाग में मारने की इच्छा हो रही थी। उन्हीं दिनों जब मेरे सामने संतू ने पूछा था रोज शो रूम जाने की वजह तो मासूम बन कर बोला था कैलाश भैया से रोज हिसाब करना पड़ता है। जब इतनी मदद कर रहे हैं तो मेरा भी तो फर्ज बनता है न, बोलो।

वैसे तीन चार बातें जो कही थीं मोटका ने इस ऑडियो में कैलाश यादव के बारे में वे एकदम सही थीं धार्मिक, समाज का खयाल रखने वाला, संघर्ष की भट्ठी में तपा तपाया और बड़े कलेजे वाला, नहीं तो बाहर से आकर कुछ ही वर्षों में अपना स्थान बना लेना आसान थोड़े ही था। संघर्ष की भट्ठी का ऐसा था कि इलाके के और एक यादव बंधु थे ठीक चौक पर उन्हें दौड़ा कर मंटू साव के चूल्हे में लगी राख झाड़ने वाली छड़ निकाल कर सरेआम भोंक दी थी और एक नये सत्ता केन्द्र का उदय संघर्ष की भट्ठी में तप कर हुआ था। जिले के उत्साही पुलिस कप्तान उसकी कमर में रस्सा लगा कर सड़क पर पैदल चलाते हुए ले गये थे तो इस शोभायात्रा को नयी सड़क के सारे दुकानदारों, ठेले, खोमचे, रेहड़ी और टेम्पोवालों ने उत्सुकता और भय के साथ देखा था और कैलाश यादव सबकी ओर विजयी भाव से हाथ हिलाते हुए नमस्कार करते हुए जा रहे थे। मुकदमे के दौरान आश्चर्यजनक रूप से सभी गवाहों को रतौंधी या मोतियाबिन्द से पीड़ित पाया गया जिन्हें शाम के बाद दिखता नहीं था और वे किसी को पहचानने की हालत में नहीं थे। बाकी रह गया मंटू साव के घूरे पर सोने वाला भैरू तो वह भौंक भौंक कर गवाही देता रहा लेकिन कोर्ट ने उसकी गवाही नहीं मानी। फिर एक बार शोभायात्रा निकली। पूरी नयी सड़क के सारे दुकानदार, ठेले, खोमचे, रेहड़ी और टेम्पोवालों ने इस बार भय के साथ देखा था, कैलाश यादव को हाथ जोड़ कर जाते हुए। पीछे एक हुजूम था जो नारे लगाता चल रहा था कैलाश भैया जिन्दाबाद। देश का नेता कैसा हो, कैलाश भैया जैसा हो। साथ साथ एक रिक्शे पर बड़े बड़े स्पीकर गाते चल रहे थे ये देश है वीर जवानों का, अलबेलों का मस्तानों का। इसके बाद तो कैलाश भैया इतने धार्मिक हो गये कि दिन भर चौराहे पर बने छोटे से दुर्गा मंदिर

में बैठे रहते। जिनको मिलना हो तो वहीं आते। मंदिर के बिलकुल सटे बंगाली की मिठाई दुकान से चाय आती रहती। हर आदमी को हाथ जोड़ कर आते जाते 'जय माता दी' कहते रहते थे कैलाश भैया। अब धार्मिक व्यक्ति के भी तो कुछ दुश्मन पैदा हो ही जाते हैं तो सिर्फ एक अंगरक्षक राइफल लिए साथ साथ चलता था जो मंदिर में भी एक किनारे बैठा रहता। दुर्गा मंदिर समिति के अध्यक्ष चुन लिए गये माता की कृपा से और भक्ति इतनी जबर्दस्त की कि मइया बराबर सपने में आकर दर्शन देती थीं जिसका विवरण हर शाम कैलाश भैया सुनाते थे। आंखों से आंसू झरते रहते। श्रोता होता था एकमात्र राइफलधारी बंटू सिंह।

समझले बाबू ! देखलियो भैया छटपट करत हथि। समझ गेलियो कुछ कष्ट हो। मइया बताओ, तोर खातिर जान हाजिर है।

बेटा, बहुत छोटा जगह है, दम घुटता है।

सोच बंटू! मइया जेकर पूरा जगत हो, हमरा कहलकौ छोटा जगह है। कुछ तो करे पड़तौ बाबू। बंटू पैर छू कर बोलता आप खाली इशारा कीजिये भैया दुतल्ला उठ जायेगा यहीं पर।

नै बाबू धरम के काम दस आदमी के मर्जी से होना चाहिए। पूरा नयी सड़क पर हम अपने खाली पैर चलके जैबो, सब व्यापारी भाई से लेके ठेला खोमचा सबसे हाथ जोड़ के विनती करबो।

बस भैया बस... बंटू सिंह का गला रुंध गया।

जन सहयोग से, व्यवस्था से माता का भव्य घर बन गया। धर्म का काम रुकता थोड़े ही है। बंगाली की चाय दुकान उठा कर थोड़ी दूर पर रख दी गयी। जिन लोगों ने असहयोगात्मक रवैये का जरा सा भी प्रदर्शन किया उन्हें काफी प्यार से समझाया गया। माता के सपनों में प्रकट होने की श्रृंखला बंद नहीं हुई और नये नये रूपों में माता की आराधना होनी आरम्भ हो गयी। मंदिर का प्रांगण सड़क का अतिक्रमण करता था मगर उसे घेर कर दुर्गापूजा में पंडाल की भव्य सज्जा की जाती थी हालांकि वृद्ध पुजारी ने व्यवस्था दी थी कि जहां पूर्व से ही विग्रह स्थापित हो वहां मां की मृण्मयी मूर्ति की पूजा का निषेध है। परंतु पुजारी जी के वार्धक्य का हवाला देकर उन्हें अनैच्छिक सेवानिवृत्ति दे दी गयी और उनके अपेक्षाकृत नवाचारी पुत्र को उन पुजारी के रूप में अभिषिक्त कर दिया गया। पंडित जी भी रोजगार घर पर ही आते देख चुप रह गये। करते भी क्या, कैलाश यादव ने पैर पकड़ कर अनुरोध जो किया था।

इस बार समझे बंटू, मिट्टी के कुल्हड़ का पंडाल बनेगा, लाखों कुल्हड़ लगेगा। बंगाल से पंडाल वाला सब को बुलावेंगे। कुम्हार लोग का रोजगार भी बढ़ जायेगा। माता बोली है सब गरीब गुरबा लोग का भी ख्याल रखने को।

पंडाल देख कर जनता अहो महो करने लगी। क्या बारीक कलाकारी! क्या अद्भुत कलाकृतियां! बाहर में कुल्हड़ के कंजरे, कुल्हड़ के गणेशजी, पंडाल के उद्घाटन में खुद पुलिस कप्तान आये। लाल फीता काट कर, दीपक जला कर, पंडाल में सबसे पहले कैलाश यादव के साथ प्रवेश किया उन्होंने।

यादव जी! लाखों का खर्चा हुआ होगा। इतना मैनेज कैसे होता है? पुलिस कप्तान ने आश्चर्य से पूछा।

सब माता करती है। हम लोग कौन हैं करने वाले।

मानना पड़ेगा आपका मैनेजमेण्ट।

जय माता दी सामूहिक जयकारा गूंजा था। भुने चने बेचने वाले ने भी कमजोर आवाज में जयकारा लगाया। दिन भर में सौ रुपये की कमाई हुई थी, पचास चंदे में चले गये। मोटका हिसाब लिख रहा था ट्रक वालों से चंदे का नया मोड़ के पास रात भर में तकरीबन सौ ट्रक पार होते हैं।

हर ट्रक से कम से कम दो हजार ऐसा दुर्गापूजा के पहले कई दिन से इकट्ठा होता रहा। हर साल दुर्गापूजा के तुरंत बाद जयमातादी बस सर्विस के बेड़े में एक चमचमाती नयी बस शामिल हो जाती है। पर इससे मोटका को क्या? वह तो कैलाश भैया के बसों के शोरूम के खुलने से प्रसन्न है। कम से कम एक तो जगह है जहां तिलोत्तमा काम करती है और उसे रोज देख सकता है और बात भी कर सकता है। सिर्फ उसे खराब लगता है कि कभी भी कैलाश भैया उसे तिलोत्तमा को घर तक छोड़ देने के लिए नहीं बोलते। स्कूटर उसका एक सेकेण्ड हैण्ड, खराब सही पर पांच किलोमीटर तो जा ही सकता है लेकिन नहीं...

अरे तुम बैठो बाबू! बिट्टू छोड़ देगा तिलोत्तमा को। तुम्हारे साथ तो अभी मीटिंग होगा न। चिपट कर बैठ जाती थी तिलोत्तमा भी बिट्टू के पीछे बाइक पर। दोनो हंस हंस कर क्या इशारे करते थे और फुर्र। तब तक टेबुल पर दो तीन ग्लास आ जाते थे। मोटका पैसा निकाल कर देता भैया अभी यही दस हजार है। पार्टी लोग पैसा दिया नहीं अभी। कोई बात नहीं है बाबू, पैसवा कहां जायेगा। आयेगा ही। सब माता ठीक करेगी। आओ, लो थोड़ा।

शुरू शुरू में मोटका को थोड़ी हिचक होती थी। उसे इतनी आदत भी नहीं थी पर खाने की आनुषंगिक वस्तुएं देखते ही वह थोड़ा सक्रिय हो जाता था काजू फ्राई, फिश फ्राई थोड़ा माछ भाजा लो। बंगाली लोग के साथ रहते रहते माछ भाजा का आदत लग गया है।

भैया, बंगाली लोग के साथ कहां? अरे पहले वहीं पर न रहते थे। तिलोत्तमा का जहां पर घर है। बहुत साल पहले तब तिलोत्तमा का बाप जिन्दा था और तिलोत्तमा तो पैदा भी नहीं हुई थी। उसकी मां माछ भाजा बड़ा सुंदर बनाती है।

ऐसे ही किसी खुशनुमा दिनों की वह तस्वीर रही होगी जो पेन ड्राइव में मौजूद थी जिसमें मोटका, कैलाश यादव, बिट्टू यादव और तिलोत्तमा थी और बैकग्राउंड में जयमाता दी मोटर्स का शोरूम था चमचमाता सा। मोटका उन दिनों रोज शाम में जाकर कैलाश यादव के साथ दारूबाजी और तिलोत्तमा से नजरबाजी करता था और हमें बताता था कि आजकल बिजनेस का बड़ा दबाव है और लौटने में देर रात हो जाती है। तो फिर क्या ऐसा हुआ होगा कि मोटका को प्रथम महाभिनिष्क्रमण करना पड़ा होगा। जब लाख रुपये की उधारी से भी कैलाश यादव को खास फर्क नहीं पड़ रहा था और रोज मोटका को दारू पिला रहा था, 'माछ भाजा' खिला रहा था तो एक बार फिर ऑडियो फाइल्स सुननी पड़ेगी शायद कोई बात निकल आये। दूँदूते दूँदूते एक फाइल मिली 'बिट्टू एंड तिलू' नाम से

“कुछ दिनों से कैलाश भैया को काफी गुस्से में देख रहा हूँ खास तौर पर बिट्टू से। मैंने कहा भी आप हमको बताइये प्रॉब्लम क्या है सब फिट फिट हो जायेगा। आय विल मैनेज। लेकिन कुछ बोले नहीं, बोले, आज से शाम को तुम तिलोत्तमा को घर छोड़ेगा। मेरी तो जैसे भाग्य की लाटरी खुल गयी, तिलोत्तमा! लेकिन तुमने तो गुस्से में कह दिया मैं खुद चली जाऊंगी स्कूटी से। मैंने कितना कहा मैं छोड़ देता हूँ। तुमने सिर्फ जलती आंखों से मेरी तरफ देखा तो मैं जैसे शाप से भस्म हो गया। लेकिन इसी भस्म से मैं पुनः जी उठूंगा बिल्कुल उस पक्षी की तरह जिसका नाम भूल गया हूँ। दरअसल एक पेग दोस्तों के साथ लेकर आया था। अभी समझ कुछ नहीं आ रहा सिर्फ 'माछ भाजा' के छूट जाने का अफसोस हो रहा है जिसे कैलाश भैया ने जमीन पर फेंक दिया था।”

पांडेपीडिया के अनुसार मोटका के भाग जाने का (पहली बार) कारण था कैलाश यादव के गुर्गों का उसके पीछे पड़ जाना। क्यों? उसके कई कारण समझ आते थे। कारण नम्बर एक पैसों

का घपला। मोटका को दुर्गापूजा आदि का हिसाब लिखने का जिम्मा दिया था। मोटका की नीयत इस धन की कल्पना मात्र से खराब हो गयी थी। दूसरा टेण्ट हाउस वाले बिजनेस में रुपयों की हेराफेरी। तीसरा प्रमुख कारण धार्मिक कार्य में दखलअंदाजी। दरअसल माता के दिये सपने के अनुसार कैलाश यादव हर महीने एक कलशयात्रा अपने मंदिर से निकलवाते थे जिसमें महिलाएं दो सौ इक्यावन रुपये जमा कर कलश सिर पर लेकर जुलूस की शक्ल में नयी सड़क पर चलती हुई एक छोर पर बने शिवमंदिर तक जाती थीं। फिर वापस आकर दुर्गा मंदिर में कलश जमा करना पड़ता था। इसका धार्मिक महत्व क्या था ये तो पता नहीं मगर ट्रैफिक व्यवस्था जरूर तीन चार घंटे के लिए अवरूद्ध हो जाती थी और कैलाश यादव के मंदिर में खाते में एक सम्मानजनक रकम जमा हो जाती थी। मोटका पहली बार बहुत उत्साहित होकर कैलाश यादव के पास गया भैया ! एगो कलश यात्रा बुढ़िया काली मंदिर से भी होनी चाहिए।

करो न बाबू! मैनेज करो।

पूरे मनोयोग से लग भिड़ कर मोटका और कुछ हम लोगों ने भी मदद की तो इस कलश यात्रा में तकरीबन एक हजार महिलाएं शामिल हुई थीं। एक तो बुढ़िया काली मंदिर बड़ा ही पुराना मंदिर था तो इसका प्रताप, और कुछ प्रचार प्रसार। मोटका ने अखबारों में सारा हिसाब किताब भी छपवा दिया और बुढ़िया काली मंदिर के ट्रस्ट को एक बड़ी राशि प्रेस के सामने सौंप दी। कुछ प्रेसवालों ने इशारे में सवाल भी उछाल दिया कि और मंदिरों में हो रही कलशयात्राओं से जो धन की आमद हो रही है वह आखिर कहां जा रही है? महासमिति के चुनाव नजदीक थे और कैलाश यादव अध्यक्ष पद के लिए खड़े थे। ऐसा कोई इंगित, वक्रोक्ति, संकेत, उनके निर्वाचन स्वास्थ्य के लिए हानिकारक सिद्ध होता इसलिए उनके आदमी मोटका की बड़ी व्यग्रता से तलाशने लगे। दो तीन बार घर जाकर भी देख आये। प्रोफेसर साहब से कहा कुछ लेनदेन का मामला है, कैलाश भैया बुलवाये हैं। प्रोफेसर साहब ज्यादा कुछ समझ नहीं पाये। एकाध हफ्ता पहले तो कैलाश यादव का बेटा खोज रहा था। कह रहा था बंगलनियों के चक्कर से दूर रहे नहीं तो मरा जायगा। मामला क्या है? बीमार और मितभाषी प्रोफेसर के लिए उनका बेटा पहेली बनता जा रहा था। यही वह समय का टुकड़ा था जिसने मोटका को शहर की खबर बना दिया था। रंगबिरंग के लोग उसकी तलाश में आते। पांडेपीडिया में इस बात का कोई इंदराज नहीं था कि आखिर बिट्टू यादव के आदमियों ने जो प्रोफेसर साहब को कहा उसके निहितार्थ क्या हैं। बंगलनियों मतलब तिलोत्तमा से जो दूर रहने की सलाह दी गयी उसका कुछ न कुछ तो मतलब जरूर होगा।

इन तीन चार दिनों में कुछ तो ऐसा अघटन जरूर घटा है जिसके बाद बेटा और फिर बाप मोटका को ढूंढ रहे हैं। मोटका भी जाने कहां छिपता फिर रहा है। कोई न कोई शुभचिन्तक उसने भी इस बीच कैलाश यादव के खेमे में बना लिया है जो उसके घर पर धावा से पहले सूचना दे देता है। दरअसल मोटका दरबान, रसोईया, नौकर सबसे घुला मिला था। किसी से मिलते ही और मोहन भैया सब फिट फिट?

विजय जी, अब मिजाज एकदम टंच है न?

डोण्ट वरी, भाभी ठीक हो जायेगी, सदर अस्पताल में सब मैनेज करवा दिये हैं।

इस तरह का मानव प्रबंधन काम आ रहा था। रात को घर पर सोता नहीं था। नींद की दवा देकर पिता को सुलाता और फिर बाहर से ताला लगा कर गायब। डरी डरी सी आवाज में रिकार्ड की हुई ये ऑडियो क्लिप उसी दौरान की होगी।

“जानती हो तिलोत्तमा! बिट्टू को न जाने कैसे शक हो गया है कि तुम्हारे और उसके बीच में मैं हूँ हालांकि ऐसा कुछ है नहीं, तुम भी जानती हो। अगर यह प्रेम है भी तो सिर्फ मेरी तरफ से

है, इकतरफा। दरअसल एक दिन शाम को जब मैं कैलाश भैया के शो रूम में पहुंचा था तो दोनों मतलब बाप बेटे में बड़ी लड़ाई हुई थी। बिट्टू ने मुझे जाने को कहा तो कैलाश भैया ने कहा नहीं! यहीं रहेगा। घर का लड़का है। किसी भी हालत में तुम जो तिलू बेटी के बारे में कह रहे हो सम्भव नहीं है। दुनिया में किसी से भी उसका शादी हो सकता है। मन्नू से भी हो सकता है, इ बटू से हो सकता है लेकिन तुमसे नहीं। एक बार बोल दिये बस! इ सब बात हमेशा के लिए दिमाग से निकाल दो। बस तभी बिट्टू ने पिस्तौल निकाल कर कैलाश भैया के माथा पर सटा दिया नहीं होगा तो आज कहानी खतम कर देते हैं। वह तो बटू सिंह पकड़ लिया नहीं तो अनर्थ हो जाता। समझिये माता ने कैलाश भैया की रक्षा कर ली। उस शाम कैलाश भैया पांच पेग पी गये जबकि कभी भी दो से आगे बढ़ते नहीं देखा रोते हुए बोले देखा मन्नू! समझाओ इसको! बाप के माथा पर पिस्तौल! अब तो मेरा जीना बेकार है। कितना भी हम समझायें भैया सब ठीक हो जायेगा। आय विल मैनेज। माता सब ठीक करेंगी। लेकिन आंसू रुके ही नहीं नहीं रे बाबू! सब हमारे करम के फल हैं। कैसे बतायें इसको, किसी भी हालत में तिलू बेटी से इसका शादी नहीं हो सकता। और कोई भी लड़की बोले, हम खुद खड़ा होके करायेंगे शादी। भहरा गये बोलते बोलते। मेरे भी आंख से आंसू झरने लगा। सच बोलते हैं, कैलाश भैया को इतना कमजोर कभी नहीं देखे थे। काहे नहीं हो सकता है भैया। तिलू तो अच्छी लड़की है समझदार भी है। बिट्टू को कंट्रोल कर लेगी। सच बताऊं, यह बोलने में मुझे बहुत खराब लगा था तिलोत्तमा! कहां तुम, कहां वह गुंडा बिट्टू, लेकिन पिछले कुछ महीनों से जिस तरह से तुम लोगों का मिलना जुलना हो रहा था तो उससे लग रहा था कि तुम भी उसे पसंद करने लगी हो। वह बाइक पर देर रात तक इधर उधर घूमना। उसका तुम्हें नयी नयी ड्रेस, गिफ्ट वगैरह लाकर देना। फिर उसके बर्थ डे पर तुम्हारे डांस का वीडियो भी रिकार्ड किया था मैंने ही, तुम्हें तो याद होगा बर्थ डे पार्टी तो हमने ही मैनेज की थी 'एम. टी. एच. इवेण्ट' के बैनर तले।

सचमुच वीडियो था भी उस पेनड्राइव में जिसका शीर्षक ही था 'बिट्टू बर्थ डे'। पूरी ऊर्जा और लास्य भाव से भरा था तिलोत्तमा का अविराम नृत्य और जिस गति और मनःस्थिति में वह बिट्टू यादव की तरफ बढ़ती थी और चिपक कर रह जा रही थी वह मेरी आत्मा तक को सुलगा रही थी क्या जरूरत थी मोटका को ये सब इतनी कलात्मकता से फिल्माने की। कलात्मक होने के बावजूद यह मुझे अश्लीलता लगी थी लेकिन प्रेम में पड़ जाने पर श्लील अश्लील का खयाल कहां रहता है। श्लील अश्लील तो दुनियावी बातें हैं और प्रेम तो रूहानी खयाल है। कलात्मक फिल्मीकरण किसी प्रोफेशनल के द्वारा किया गया लगता था क्योंकि तब तक मोटका एक छोटे स्तर पर इवेण्ट मैनेजमेण्ट की कम्पनी खोल चुका था 'मोटका टेण्ट हाउस' (लोकप्रिय नाम) के साथ जोड़ कर 'एम टी एच इवेण्ट्स' नाम से और छोटामोटा बर्थ डे, बच्चे का शष्ठी समारोह, शादियां, जनेऊ, मुंडन आदि आयोजन के ठेके लेने लगा था। ये मुझे बाद में मालूम हुआ था क्योंकि उन दिनों तिलोत्तमा से दुखी होकर शहर छोड़ कर जा चुका था दूसरे शहर कम्प्यूटर एप्लीकेशन का कोर्स करने ताकि आई. टी. प्रोफेशनल कहला कर आभासी रोजगार से जुड़ सकूं। लिटू जो बंगाली टोले में हमारे द्वारा छोड़ा गया जासूस था बिल्कुल तिलोत्तमा के घर के पास उसका घर था। दीवारें मिली हुई थीं और तिलोत्तमा बाथरूम में नहाते हुए कौन सा गाना आज गुनगुना रही थी इसकी महीन सूचनाएं हम तक पहुंचाता था। मेरे प्रेम का पूरा सम्मान करते हुए बताता था आज भाभी 'तेरी ओर, तेरी ओर' गा रही थी। डेनिम जींस और गुलाबी कुर्ती पहन कर स्कूटी से ड्यूटी गयी है। उसी लिटू ने मेरी अनुपस्थिति में मोटका सहित हमारे दल को बताया था कल रात मां बेटी में जबर्दस्त झगड़ा हुआ। दोनों के जोर जोर से रोने चिल्लाने की आवाजें आती रहीं। जो कुछ मेरी समझ में आया सारा मामला बिट्टू यादव

को लेकर हो रहा था। काकी मां मतलब तिलू की मां ने कहा पागोल ना कि, तुम्हारा ब्याह बिट्टू के साथ नहीं हो सकता। तिलोत्तमा पूछती रही क्यों? लेकिन काकी मां बस एक ही रट लगाये थी नहीं हो सकता, मतलब नहीं हो सकता। मत पूछो क्यों, ये मैं तुमको नहीं बता सकती। सब समझ लो जैसे सगे भाई बहन की शादी नहीं हो सकती बस वैसे ही यह असमभव है। तुम्हारे पिता की मृत्यु के बाद तुम्हारे अंकू ने ही पिता का स्नेह दिया है तुमको। बिट्टू क्या मेरा भाई है पूछने पर काकी मां ने कपाट बंद कर लिए कमरे के और तिलोत्तमा के रोने की आवाज देर तक आती रही।

मोटका ने सोचा कल जाकर तिलोत्तमा से मिलेगा लेकिन अलस्सुबह दरवाजे पर दस्तक सुन कर दरवाजा खोला तो आश्चर्यमिश्रित प्रसन्नता में डूबने ही वाला था कि तिलोत्तमा का चेहरा देख कर थम गया। बाल उजड़े, रूखे, चेहरे पर आंसुओं की लकीरों का जाल, पपोटे सूजे, हाथ में एक बड़ा बैग जैसे झंझावात आकर सब नष्ट भ्रष्ट कर गया हो।

मन्नू दा ! मुझे अपने घर में रहने दोगे?

अरे पहले अंदर आ जाओ, क्या हुआ।

अभी कुछ मत पूछो, बस।

ठीक है, डोण्ट वरी, सब मैनेज हो जायेगा। लगता है रात भर सोयी नहीं हो। पहले मुंह हाथ धो लो फिर चाय नाश्ता बनाते हैं। नहा धो लो तब तक मैं खाना बना लूंगा। बहुत अच्छा तुम्हारे जैसा तो नहीं बना पाता हूं लेकिन काम चल जायेगा। फिर कुछ घंटे सो लो तब बात करेंगे।

तब तक पिता उठ कर आ गये थे कौन है, मन्नू?

तिलू है बाबूजी।

कौन तितू?

बंगाली टोला में रहती है, मेरी दोस्त है।

ओ! कह कर बाबूजी फिर अंदर चले गये।

अंकल को कोई परेशानी तो नहीं होगी?

अरे बिल्कुल नहीं। बीमार रहते हैं अपने कमरे में ही रहते हैं ज्यादातर। बाहर कम ही निकलते हैं।

अच्छा, पूछोगे नहीं कि यहां कैसे?

मोटका ने अपनी हथेली तिलू के मुंह पर रख दी।

अभी कुछ नहीं। थोड़ा शांत हो जाओ फिर। चलो फटाफट नहा लो। बाथरूम जरा पुराने डिजाइन का है लेकिन काम चला लो। तब तक दाल सब्जी चढ़ाता हूं।

मेरे लिए मत बनाना। मैं नहा कर सो जाऊंगी।

अच्छा ठीक है।

प्रोफेसर साहब फिर निकल कर आये।

चली गयी?

नहीं, आप चाय पीजिये न।

हम नहायेंगे।

कोई जरूरत नहीं है। अभी भी तबियत ठीक नहीं हुई है आपकी।

प्रोफेसर साहब बच्चों की तरह जिद करने लगे।

अच्छा ठीक है, तिलू नहा ले फिर नहा लीजिएगा।

वो यहां क्यों नहायेगी? उसका घर नहीं है?

है, घर से झगड़ कर आयी है।

यहां क्यों?

मेरी दोस्त है इसलिए।

ओ! कह कर प्रोफेसर साहब फिर कमरे में जाकर लेट गये। बच्चों की तरह हो गये थे। पत्नी की मृत्यु के बाद सुगढ़ तरीके से बच्चों को संभाला, बड़ा किया। दो की नौकरी भी लग गयी। दोनों भाई दिल्ली के उत्तमनगर इलाके में डेढ़ कमरे के मकान में रहते हैं। मोटका का कुछ हो नहीं पाया तो पिता को संभालने वाला तो कोई है। दोपहर में मोटका ने नरम आवाज में पुकारा तिलू!

बेसुध सोयी पड़ी थी तिलोत्तमा। झंझावात के बाद का निरभ्र, विश्रान्त चेहरा था। तिलोत्तमा कुनमुनायी ऊं!

खाना नहीं खाओगी ?

ऊंहूं! कह कर करवट बदल कर फिर सो गयी। मोटका उसके निष्पाप चेहरे को देर तक देखता रहा। थोड़ा सा पाप उपजा। चूमने की तबियत हुई, फिर पाप पिघल गया। भोले चेहरे के ताप से, नाक की लोंग के लश्कारे से।

पिता ने खा लिया। बाकी खाना ढंका रह गया। मोटका ने आज क्षुधा बर्दाश्त कर ली, गजब हो गया। सांझ दीया बाती के समय तिलोत्तमा की नींद खुली। बैग से लाल पाड़ की साड़ी निकाली। धूपदान खोजा, दीया जलाया इसके पहले बैग से टैल्कम पाउडर निकाल कर पानी में घोल कर तुलसी चौरों के पास छोटी सी अल्पना बनायी। प्रोफेसर साहब पोपली मुस्कान देने लगे। देख कर प्रसन्न हो गये थे। शायद पुरानी कुछ स्मृतियां लौट आयी हों। वैसे आजकल ज्यादा याद नहीं रहता। बरामदे पर कुर्सी पर बैठ कर देखते रहे सब साज सरंजाम। साथ ही खड़ा होकर मोटका मुग्ध भाव से निहारता रहा।

मन्नू दा। भूख लगी है, खिलाओगे नहीं?

मोटका अपदस्थ भाव से जल्दी जल्दी खाना गरम करने लगा। आज उसे लगा कि आज उसने खाना काफी स्वादिष्ट बनाया है।

वैसा है?

बहुत अच्छा!

अरे नहीं, ऐसे ही। मोटका की चिरपरिचित सलज्जता वाली मुस्कान लौट आयी थी। अंधेरा होने के बाद तिलोत्तमा की मां आयी।

लिटू से पता चला तू यहां है। चल घर चल।

नहीं।

बांग्ला में काफी देर तक मान मनौवल चलता रहा। इंकार, क्रोध, रोना, धोना थोड़ी देर बाद मोटका सफेद झंडा हिलाते प्रकट हुआ।

चलिए अब बहुत हो गया। तिलू तुम भी सोचो, काकी मां अकेले कैसे रहेगी। उम्र भी तो हो गयी है उनकी, देखो किसी तरह मैनेज करो।

अपने घर से भगाना चाहते हो।

अरे नहीं रे, तुम तो हमेशा के लिए भी रह सकती हो।

लेकिन अरे देखो।

मेरी एक शर्त है शो रूम में नौकरी नहीं करूंगी अब।

ठीक है चल अब। तिलू की मां ने कहा।

मन्नू दा! अपनी इवेण्ट मैनेजमेण्ट वाली फर्म में मुझे नौकरी दोगे। मुझे आता है काम। तुम्हारा ही है, लो चाबी ही ले जाओ। सुबह नौ बजे रोशनी और सूरज दोनों आयेंगे। संभालना। दस बजे तक हम भी आ जायेंगे। वैसे वो लोग भी सब मैनेज करना जानते हैं।

उन लोगों के जाने के बाद काफी देर तक मोटका आज के दिन के बारे में सोचता रहा। लेकिन तभी एक फोन कॉल ने सब गड़बड़ा दिया। जल्दी से बाहर से ताला लगा कर गायब हो गया। बिट्टू यादव के आदमी आये थे कई मोटरसाइकिलों पर बिट्टू यादव को खोजते हुए। पांडेपीडिया आसपास ही भटक रहे थे जानबूझ कर नहीं बिट्टू जी को आते नहीं देखा मगर ऊ बंगलनियां जरूर आयी थी, थोड़ा देर पहले चली गयी। ऊ मनीजर नहीं है का घर में? पांडेपीडिया ने अनजान बनते हुए पूछा।

नहीं बाहर से ताला बंद है देखते नहीं हैं? सुनिये, मिले तो बोल दीजिएगा बंगलनियां के चक्कर में न रहे, मारा जायेगा मोटका। बिट्टू भइया भी कल से नहीं मिल रहे हैं।

प्रोफेसर साहब सोये नहीं थे। बंद दरवाजे के पार से सुना सब। आधा समझे, आधा नहीं। लेकिन बंगलनियां से जुड़े खतरे को सहज भाव से भांप लिया।

टूटती स्मृतियों में कहीं अटक कर रह गयी यह बात बंगलनियां सब नष्ट कर देगी।

बिट्टू यादव को खोजते हुए पुलिस भी आयी थी। कैलाश यादव खुद बिट्टू के गायब होने से परेशान थे। मोबाइल था कि चुप ही आ रहा था उसका। लोकेशन ट्रेस किया था पुलिस ने अंतिम बार कानपुर में था। पहले तो कैलाश यादव सोच रहे थे कि पिता पर पिस्तौल तानने के पश्चाताप में कहीं चला गया है, एक दो दिन में लौट आयेगा लेकिन पुलिस ने जो बताया उससे कैलाश यादव जैसा बड़े कलेजेवाले का बड़ा कलेजा भी दहल गया। 'जय माता दी' बस सर्विस की कुछ गाड़ियों में जो बिहार, छत्तीसगढ़ जाती थीं उसमें कुछ प्रतिबंधित वस्तुएं लाने ले जाने की सूचना थी। किसी खबरी ने पक्की सूचना दी थी। दबिश पर कुछ माल बरामद भी हुआ। बिट्टू ही आजकल बसों का कामकाज देखता था। कैलाश यादव बिट्टू की प्रतिभा से चमत्कृत होकर रह गये मगर पिस्तौल तानने का दुख भुलाये न भूलता था पर सबसे विलक्षण बात उन्हें लगी कि आखिर पुलिस का मुखबिर कौन था। सबको स्कैनर के नीचे डाला अपनी स्मृति की आंखों के लेकिन कोई दिखा नहीं। चलो अच्छा ही हुआ, फिलहाल बिट्टू यहां नहीं है तो मामला थोड़ा दबा रहेगा बाकी दबाने के लिए ऊपर से बड़ा वजन रखना पड़ेगा। हाथ जोड़ कर बोले अगर ऐसा है तो अपने हाथ से हम रस्सा बांध कर आपके पास पहुंचायेंगे आते ही। लेकिन अभी थोड़ा प्रेस वगैरह से...

प्रेस से यह मामला तो फिलहाल टल गया लेकिन मोटका ने इसी वक्त वो कलशयात्रा का हिसाब छपवा कर कैलाश यादव का स्वास्थ्य और बिगाड़ दिया था। वक्त बुरा हो तो कायनात षडयंत्र करती है। कैलाश यादव के आदमी मोटका को खोजने लगे। मोटका की एक दो रातें खुले कब्रिस्तान की दो कब्रों के बीच गुजरीं। फिर फुसफुसाता फोन किया तिलोत्तमा को। क्यों, खुद मोटका को भी पता नहीं तिलू! सुनो, मैं बाहर जा रहा हूं कुछ दिनों के लिए। कैलाश भैया मुझसे बहुत गुस्सा हैं इस कलशयात्रा वाले मामले को लेकर। बट आय विल मैनेज। वैसे मेरी नीयत उनको बदनाम करना बिल्कुल नहीं थी। मैं तो बस साबित करना चाहता था कि मैं भी एक अच्छा इवेण्ट मैनेजर हो सकता हूं, सच! रखता हूं। स्टेशन में भी खोज रहे हैं हमको... टू टां करने लगा था फोन। इसके बाद की मोटका के प्रथम महानिष्क्रमण की लोमहर्षक कथा बहुत बाद में लिटू ने सुनायी थी कुछ यथार्थ, कुछ कल्पना के आधार पर।

समझे भैया! मोटका स्टेशन पर अंधेरे प्लेटफार्म में एक किनारे खड़ा रेलवे लाइन का जलाभिषेक कर रहा था। एक पुराना कम्बल ओढ़ रखा था। बड़ा सा बैग दूर बेंच पर रखा था उसका।

जैसे ही मुड़ा, देखता है कि कैलाश यादव के आदमी उसके बैग को घेरे खड़े हैं यहीं आसपास होगा खोजो। थोड़ी भीड़ थी क्योंकि कलकत्ता वाली और दिल्ली वाली दोनों गाड़ियों का समय था। कम्बल ओढ़ कर पारपुल के नीचे सिर झुका कर बैठ गया भिखारियों की तरह। अंधेरा भी था तो किसी की ठीक से नजर नहीं पड़ी। एक लड़का बैग के पास खड़ा रहा। बाकी कुछ लोग दिल्ली वाली गाड़ी देख आये नहीं है भैया इसमें। चलो उसमें देखते है कह कर एक ने उसका बैग उठा लिया और कलकत्ते वाली गाड़ी की ओर बढ़ गये। दूसरी तरफ के प्लेटफार्म पर तभी दिल्ली वाली गाड़ी खुलने लगी। मोटका कम्बल समेट कर नीमअंधेरे का फायदा उठाते हुए दिल्ली वाली गाड़ी के अंतिम डिब्बे में सवार हो गया। मात्र कुछ रुपये जो जेब में पड़े थे और एक स्मार्टफोन का सम्बल लेकर। बैग चला गया। सारे पैसे चले गये थे जो उसी में रखे थे। लेकिन मोटका ने खुद को समझाया डोण्ट वरी! आय विल मैनेज। पहले उस सिम कार्ड को तोड़ कर फेंक दिया जिससे तिलोत्तमा से बात हुई थी। अब दूसरे सिम से काम चलेगा जो कल रात में लिया था।

इसके पहले कि अपने संक्षिप्त दिल्ली प्रवास में मोटका ने बकौल खुद उसके 'कैसे मैनेज किया मैं ही जानता हूँ' से ज्यादा जरूरी है कि तिलोत्तमा के बारे में बताऊँ। तिलोत्तमा ने इवेण्ट मैनेजमेण्ट के काम को नया रंग, सुगंध, स्पर्श और दृश्यावली दी। शहर इस तरह के सौन्दर्यबोध को स्वीकार करने को आतुर तो था पर थोड़ी हिचक थी कहीं। तिलोत्तमा और उसकी परिश्रम से खड़ी की गयी टीम ने पूरे परिदृश्य को सपनों के गुलाबी, बसंती, सुआपंखी और मोरपंखी रंगों से रंग डाला। पुराने शादीब्याह, जनेऊ, मुंडन, बर्थ डे, पूजा आदि के समारोहों से मीलों आगे ले जाकर एक ऐसे मुकाम पर ला खड़ा किया जहां से ख्वाबों की एक मुसलसल दुनिया का दरवाजा खुलता था कभी न बंद होने के लिए। हवाओं को नये तरीके से रंगने, फिजाओं में नयी किस्म की खुशबुओं की आमदरफ्त, पूरे परिदृश्य में जैसे अनसुनी ध्वनियां गूंजने लगी थी रुनुन झुनुन के अनुरणन से दोलायमान करती कस्बे की पूरी जिन्दगी एक वृहदाकाय या कहें ग्रैण्ड इवेण्ट में तबदील हो रही थी संगीत था तो मेगा कंसर्ट के रूप में, साहित्य था तो लिटफेस्ट के रूप में, नृत्य था तो महारास जैसा और चित्रकला, मूर्तिकला थी तो उसके आयाम अंतरराष्ट्रीयता को छू रहे थे हर जगह तिलोत्तमा किसी न किसी रूप में मौजूद थी तिल तिल सुंदरता को तिल तिल नूतन करती हुई। लोगों ने कम्पनी का नाम बदलने की सलाह दी इवेण्टस तो ठीक है, ये एम.टी.एच. क्या है, हटा दो इसे, पर तिलोत्तमा नहीं मानी।

अब मोटका का मोबाइल रिकार्डर से वार्तालाप सुना जाये। पेन ड्राइव, पर फाइलों के नाम देखते देखते 'अंतिम दर्शन' शीर्षक पर ध्यान गया था। क्लिक किया...

“जानती हो तिलोत्तमा, दिल्ली में आकर मुझे लगा कि ईश्वर कितना बड़ा इवेण्ट मैनेजर है। असंख्य लोग, गाड़ियां, रोशनी, अंधेरा, चाकचिक्य, गलाजत सब एक साथ। कैसे मैनेज करता होगा ईश्वर पूरी दुनिया को। पैसे ज्यादा थे नहीं तो एक ब्राह्मण धर्मशाला में ठहर गया झूठ बोल कर कम पैसे में। एक झा जी करने लगे तंग कि यो! यज्ञोपवीत नै पहिरने छी, कत घर भेल कौन ब्राह्मण? सुने हुए नामों में से एक बोल दिया सरयूपारीण। अच्छा अच्छा। यू पी का है? इ लीजिये यज्ञोपवीत। फिर मंत्र पढ़ कर गांठ लगा कर गले में डाल भी दिया उसने 'आज एक जगह चलिएगा। पुरकस इंतजाम है। इक्कीस ब्राम्हण खिलायेगा।' कई दिनों से ठीक से खाना नहीं हुआ था तो जाकर खा आया। अच्छा तो नहीं लग रहा था लेकिन दक्षिणा मिली तो लगा चलो। कुछ दिनों तक चला ऐसे ही। खाना पीना हो जाता था इधर उधर। लगा, श्राद्ध भोज खाते खाते ही जीवन बीत जायेगा। दिन भर धर्मशाला में पड़ा रहता। झा जी के रेशे राजनीति से बुने थे। एक नयी पार्टी के लिए काम करते थे। दिल्ली चुनाव में। मैं भी चला जाता था उनके साथ। देखता सुनता ज्यादा बोलता कम। छोटीमोटी

जिम्मेवारियां भी उठाने लगा। फिर वही मेरा तो तुम जानती ही हो। पता नहीं खुद ब खुद लोग मुझे वहां का कर्ताधर्ता या मुख्य आयोजक समझने लगते हैं। जहां तस्वीरें खिंच रही होतीं वहां जाने से बचता था। पन्नू टिन्नु दिल्ली में ही तो थे। न जाने कब तस्वीरें ही देख लें। लेकिन कहीं एक दिन एक फोन आया श्राद्धभोज के लिए झा जी को। झा जी ने चुहल में फोन मुझे पकड़ा दिया जी कहिये!

हमारे बाबूजी नहीं रहे तो पांच ब्राह्मण खिलाने हैं।

पता बताइये श्रीमान या एस.एम.एस. कर दें।

उधर से कांपती आवाज आयी मन्नू भैया! आप मन्नू भैया बोल रहे हैं क्या? थरथराते हुए हमने फोन झा जी को थमा दिया। ये जरूर पन्नू की आवाज थी, मतलब बाबूजी!

कमरे में जाकर खूब रोया। बाबूजी के अंतिम दर्शन भी नहीं हुए। दूसरे दिन मुंहअंधेरे निकल गया। कुछ पैसे पास थे। हरिद्वार जाकर बाल उतरवाये और कुछ दिनों तक उधर ही भटकता रहा। किसी आश्रम में जाकर भोजन कर आता। मुंडित सिर, सफेद लुंगी और चादर देख कर साधु जैसा ही कुछ समझते होंगे। कुछ दिन के बाद मन शांत होने पर तुमको फोन किया था तो तुम खुश तो सुनायी दे रही थी, खुश थी तुम या केवल आश्चर्यचकित थी! खैर जो भी था तुम्हारी आवाज सुन कर लगा कि किसी भूखे को भरपेट भोजन मिल गया। दरअसल भूख लग रही थी तो और कोई बात सूझी नहीं माफ करना तिलू!”

‘कोई बात नहीं मन्नू दा! तुम तो हो ही जनम जनम के भुक्खे। तुम हो यही बहुत है। हम लोगों को तो लगा था कि कैलाश अंकल के आदमियों ने तुम्हें पकड़ लिया होगा और कोई खबर भी तो नहीं थी, तुम्हारा फोन हमेशा बंद। इधर तो मालूम हुआ ही होगा कैलाश अंकल नहीं रहे। किडनी फेल्योर। मां बहुत देर तक दरवाजा बंद किये पड़ी रही। जरूर रो रही होगी। मैंने भी मना नहीं किया। न टोका। बिट्टू का कुछ पता नहीं है अभी तक। वैसे मैं उसका नाम भी लेना नहीं चाहती। खैर अब तुम आना चाहो तो देखोगे एम.टी.एच इवेण्टस का कितना नाम हो गया है। बिल्कुल वैसे ही जैसा तुम्हारा सपना था। अब आ भी जाओ।’

ये पूरा उद्धरण लिटू ने मुझे चिढ़ाने के लिए एस.एम.एस. किया था एक काल्पनिक पत्र के रूप में जो तिलोत्तमा मोटका को लिखेगी और मोटका हाजिर हो जायेगा और मेरा नाम तिलोत्तमा के हृदय में किसी कोने में भी अगर छिपा होगा तो बिल्कुल गायब हो जायेगा और लिटू की भविष्यवाणी सही साबित हुई थी। एक दिन मोटका शहर में हाजिर था जिसकी खबर सबसे पहले पांडेपीडिया को हुई क्योंकि उनके यहां से ही मोटका हथोड़ी मांगने गया था घर का ताला तोड़ने। लेकिन पांडेपीडिया ने हथोड़ी के बदले चाबी निकाल कर दे दी। कहा पन्नू दे गया था कि कभी मन्नू भैया लौटेंगे तो उनको दीजियेगा। मोटका ने पूरे घर की सफाई की। धो पोंछ कर चमकाया, बिछावनों को धूप दिखाया। हर चीज हटाते ही पिता की स्मृति झांकने लगती। कई बार आंसू निकले। पिता जैसे उसके जीवन के उद्देश्य बन गये थे और अब वह उद्देश्य वहां नहीं था। खाना बनाने की इच्छा नहीं थी। लेकिन मोटका की सर्वदा जाग्रत क्षुधा असर डाल रही थी। बाहर जाकर होटल में खा आया। भूख मिटी तृप्ति नहीं हुई। नहा धोकर दुकान पर पहुंचा तो ताला मिला। एम.टी.एच. इवेण्टस का बोर्ड भी नहीं था। पास के स्टेशनरी वाले ने उसे देखते ही ‘अरे मन्नू!’ वाला भाव दिखाया मगर वह गर्मजोशी नहीं थी। तुमको पता नहीं, इसका आफिस तो जगन्नाथ आर्केड, मेन रोड में चला गया है। ‘जगन्नाथ आर्केड’ मोटका हैरत में पड़ गया। एम.टी.एच. इवेण्टस का मतलब क्या इतना बदल गया था कि जगन्नाथ आर्केड में आफिस हो सकता था। पहुंचा तो पांचवे तल्ले पर चमचमाते आफिस को देख कर ठिठक कर खड़ा रहा। घुसने की हिम्मत नहीं जुटा पा रहा था। ग्लोसाइन बोर्ड पर कलात्मक एवं

कल्पनाशील ढंग से लिखा एम.टी.एच. थोड़ा छोटा और इवेण्ट्स काफी बड़े हफ्तों में। वर्दीवाले सिक्वोरिटी ने रोक दिया किससे मिलना है?

तिलोत्तमा... तिलोत्तमा जी हैं?

ओह, एम.डी. मैडम से। अप्वाइंटमेंट है?

नहीं, आप बोलिए मन्नु आया है।

मैडम! कोई मन्नु आपको पूछ रहे हैं।

मन्नु! रिसेप्शन पर बिठाओ, दो मिनट।

हॉल में सारा स्टाफ जमा था। तिलोत्तमा जैसे उसके आगमन को भी एक बड़े इवेण्ट में बदल देना चाहती थी। रंगीन चमचमाते टुकड़ों का विस्फोट करते हुए पटाखे, वेलकम म्यूजिक। सारा स्टाफ खड़ा होकर तालियां बजा रहा था और तिलोत्तमा बीच में रानी मधुमक्खी की तरह सचमुच खुश लग रही थी।

आपके आफिस में ही आपका स्वागत है।

मोटका अपनी वही पुरानी वाली सलज्ज मुस्कान के साथ क्या तुम भी तिलू? ये सब करने की क्या जरूरत थी।

जरूरत थी मन्नु दा। नहीं तो तुम महसूस कैसे करते कि तुम्हारा सपना किस हद तक पूरा हो चुका है।

यह सब इतना ग्रैण्ड इतना विशाल है कि खुद को छोटा पा रहा हूँ अब।

छोड़ो ये सब। अब तुम संभालो अपना राजपाट! मैं थक गयी हूँ, मैनेज करते करते, आज ये इवेण्ट कल वो। अब मुझे थोड़ा आराम चाहिए।

अरे इस तरह मुझे अतल जल में मत फेंको, मुझसे नहीं संभलेगा।

सब होगा। भरत की तरह खड़ाऊं रख कर सब मैं करती रही। देखो अपने केबिन में ही तुम्हारी भी कुर्सी लगवा रखी है। खाली रहती है। तुम आ गये हो अब खाली नहीं रहेगी। कहां रहे, कैसे रहे सब बात बाद में होगी। तुम्हारे खाने के लिए मंगवाऊं?

नहीं मैंने खा लिया है आते ही। जानती ही हो भूख मुझे बर्दाशत नहीं।

अच्छा तो चलो हॉल में चल कर बैठो। एक बड़ा काम कर रहे हैं हम। तुम भी समझ लो। कल मीटिंग में तुम्हें ही जाना है।

हॉल में एक पावर प्वाइंट प्रेजेंटेशन हुआ जिसमें एक फैशन शो में आदिवासी लोककला, वस्त्रों, गहनों आदि के माध्यम से राज्य की सांस्कृतिक ब्रैंडिंग का मामला था। पूर्ण अवधारणा राज्य में संस्कृति सचिव के मानस पटल पर नाजिल हुई थी और इसे मूर्त रूप देने की योग्यता सिर्फ एम. टी.एच. इवेण्ट्स नामक कम्पनी में पायी गयी थी। राज्य से बाहर की कम्पनियों ने भी टेण्डर भरा था मगर इस कम्पनी की राज्य की बेहतर समझ पर भरोसा किया गया था और खासतौर पर तिलोत्तमा के फैशन सेंस, ब्रैंडिंग की अचूक समझ और प्रबंधन कौशल पर संस्कृति सचिव को पूर्ण विश्वास था। 'जोहार' नाम का यह कार्यक्रम संस्कृति विभाग का बल्कि राज्य की अधिसंख्य जनता के स्वप्न के रूप में प्रचारित, प्रसारित हो रहा था। ऐसे में एक लहीमशहीम मगर ढीलेढाले से आदमी को संस्कृति सचिव ने घूर कर देखा।

आप?

जी, मैं एम.टी.एच इवेण्ट्स से। मीटिंग में बुलाया गया था।

मैडम कहां हैं?

जी, वो तो आ नहीं पायीं, आप मुझे बतायें क्या करना है कैसे करना है?

आ नहीं पायी का क्या मतलब है ? फाइनल स्टेज में काम है और एक नये आदमी को भेज दिया। व्हाट ए जोक।

पी. एस. को इंटरकाम पर निर्देश दिया कॉल तिलोत्तमा मैडम इम्पीडियेटली। आप जाइये। उनको भेज दीजिये। हर आदमी के बस की बात नहीं है कान्सेप्ट को समझना। जस्ट लीव।

जी सर मोटका पिटे हुए मोहरे की तरह वापस हो गया। सीधा घर चला गया। घर आकर फिर वही पुराना तरीका दिल हल्का करने का मोबाइल रिकार्ड से बात

“तिलोत्तमा ! मुझे लगता है कि मेरे किस्म का इवेण्ट मैनेजमेण्ट अब काम कर नहीं रहा। तुम ठीक बोलती थी कि मैं इवेण्ट मैनेजर नहीं एक हलवाई हूं। दुनिया आगे बढ़ चुकी है। आज आफिस में भी सुदामा टाइप महसूस कर रहा था। तुमने जैसे कोई कसर नहीं छोड़ी थी स्वागत में। लेकिन तुम्हारे संस्कृति सचिव ने मेरी औकात बता दी। चलो सीखूंगा तुम्हारे साथ कुछ नया नये तरीके। नये खेल में नये नियम।”

दरवाजे पर दस्तक हुई थी। तिलोत्तमा दो डोमिनोज चीज पिज्जा लिए हाजिर थी।

आय एम सॉरी मन्नू दा ! मुझे तुम्हें भेजना ही नहीं चाहिए था। खैर, ये तुम खाओ, दो लायी हूं। एक से तुम्हारा क्या होगा। मैंने वहीं डिनर कर लिया है। मीटिंग, थीम, कार्ड वगैरह पर डिस्कशन करने थे। हर चीज में ऐथनिक लुक चाहिए होगा न। तुम खा लोगे तभी मैं घर जाऊंगी। मां चिन्ता में होगी।

काकी मां कैसी हैं? धीरे से पूछ मोटका ने।

ठीक है।

तुम जाओ मैं खा लूंगा।

पक्का? आंखों में वही लास्य।

तो ठीक है चलती हूं।

दरवाजे तक गयी होगी कि

तिलू !

हां।

हम... छोड़ो, अभी तुम जाओ।

नहीं, बोलो न।

फिर कभी।

चली गयी थी तिलू। दिन गुब्बारे हुए, रात रूई के फाहे। तिलोत्तमा इस कदर 'जोहार' में व्यस्त थी कि उसे देख कर मोटका को दया आ जाती थी। छोटीमोटी दुश्वारियां वह ले लेने को उझकता था पर तब तक कोई स्टाफ में हाथ बढ़ा कर ले लेता। तब उसने सोचा कि वह सिर्फ तिलू के खाने पीने का ख्याल रखेगा। खाती भी क्या थी वह सुबह ही ऑफिस आ जाती दो ब्राउन ब्रेड के स्लाइस, एक गिलास फ्रूट जूस, दोपहर में सलाद और दही, शाम को एकाध सैंडविच और रात को दो पतली रोटियां और एक कटोरी दाल। मोटका कहता था इतना सा ही खाना है तो आदमी इतनी मेहनत क्यों करे। वह घर जाकर खाना बना कर पूरे मनोयोग से खाता था। तिलू कहती थी आफिस में ही कुछ बाहर से मंगवा ले पर वह जानता था उससे उसका काम नहीं चलेगा। तिलोत्तमा पूरे दिन बिजली की तरह कौंधती रहती अभी यहां, अभी वहां। मोटका गाड़ी में उसके साथ बैठ कर जाता इस दफ्तर, उस होटल, इस पेण्टर, उस प्रेस। तिलोत्तमा परिचय भी कराती सबसे माय बिजनेस पार्टनर। हाथ मिलाते हुए मोटका को लगता कि अगला एक दबी सी रहस्यमय सी मुस्कान शायद होठों में दबाये है। आंखों में थोड़ी सी अश्लीलता की भी झलक दिखती

थी किसी किसी के। एकाध मुखर भी थे सिर्फ बिजनेस पार्टनर! हालांकि पीछे कहते पर मोटका के कान पीछे भी लगे रहते थे, सुनायी पड़ जाता था। टालने लगा था साथ जाना। ऐसी ही उचाट मनस्थितियों और निचाट दोपहरी में मिले थे भाई जी जब वह ऑफिस में बैठा कुर्सी पर ऊँघ रहा था, जिसे पहले हम कहते थे मोटका 'दिवानिद्राचिन्तन' कर रहा है। टेबल पर तबले की थाप से नींद टूटी। सामने श्वेत वस्त्रों में एक झोला लटकाये भाई जी प्रकट हुए थे। उंगलियों से टेबुल बजाते, चेहरे पर विस्मयादिबोधक मुस्कान।

आप कौन? उसने झल्ला कर पूछा।

मैं खामखा। भाई जी हंसे।

क्या मजाक है? हैं कौन आप?

मैं भाई जी।

किसके भाई जी?

सबके, आपके, उनके, यहां तक कि सुंदर कन्याओं तक के।

अब मोटका को भी आनंद आने लगा था। इस आनंद में डूबनेवाला ही था कि तमतमायी हुई तिलोत्तमा का प्रवेश हुआ कुछ बड़बड़ाती सी। आते ही एक कर्मचारी पर बरस पड़ी प्रूफ देखने तुमको जाना था? प्रेसवाला बार बार फोन कर रहा है। अब प्रूफ देखने भी मैं ही जाऊं। तभी तमतमायी नजर भाई जी पर पड़ी। तोप का मुंह भाई जी के तरफ घूम गया आप फिर धमक गये। मैंने कह दिया न इस प्रोग्राम में कोई गुंजाइश नहीं है।

शांत माते शांत! वत्स ! एक जलपात्र में शीतल जल प्रदान करो माते को। भाई जी नाटकीय अंदाज में बोले।

मोटका हंसने लगा तो तिलोत्तमा भी हंस पड़ी।

यू आर इम्प्रेसिबल।

यस आय एम। मेरी लड़कियों का जो इंटरव्यू हुआ उसका कुछ परिणाम आया?

देखिए भाई जी, ये ब्रांडिंग का कार्यक्रम है। वी नीड स्मार्ट, यंग ट्राइबल गर्ल्स। आपकी संस्था में सभी पीड़ित लड़कियां आती हैं जो स्मार्ट नहीं होतीं। तो इतने बड़े इवेण्ट का हिस्सा कैसे बन सकती हैं?

देखिये मैडम, ये सभी नक्सलपीड़ित गांवों से आयी लड़कियां हैं। मौका मिलेगा तो सीख जायेंगी। इधर उधर किनारे भी खड़े रहने का काम मिल जायेगा तो थोड़ा आत्मविश्वास आयेगा।

मोटका का बनर्जी बाबू से अपना चंदा मांगना याद आ गया। बनर्जी बाबू कहते थे नाछोड़बंदा। भाई जी इसी तरह के नाछोड़बंदा टाइप लग रहे थे।

अरे दे दो न कुछ काम तिलू। कुछ लोगों का भला हो जायेगा।

यस ! देखिए मैडम अब तो सर ने भी हमारी सिफारिश कर दी है। वैसे आपका परिचय?

मैं मन्नू हूं।

ओहो ! तेरा हुआ मन्नू, अब मेरा क्या होगा। किशोर कुमार की एक पुरानी फिल्म का गाना गाने लगे भाई जी।

तिलोत्तमा ने पचीस लड़कियों की एक लिस्ट उनको दे दी उन लोगों को भेज दीजियेगा। ट्रेडीशनल आदिवासी ड्रेस में। तीन सौ मिलेगा एक दिन का।

जय माते जयकारा लगाते हुए भाई जी विदा हो गये। आदमी दिलचस्प है मोटका सोच रहा था। इसके साथ मिलना जुलना बढ़ाना पड़ेगा क्योंकि अब मन उतना उचाट नहीं लग रहा था।

आज रात को मां ने तुम्हें रात का खाना हमारे वहां खाने को कहा है। शाम को लौटते समय गोभी ले आना। मां ने कहा है मन्नू को गोभी का डालना (एक प्रकार की सब्जी) अच्छा लगता है। सुन कर मोटका को अनायास 'इसीलिए मम्मी ने तेरी मुझे चाय पे बुलाया है' वाला गाना याद आ गया। लेकिन तिलोत्तमा तो बोल कर बस कम्प्यूटर पर व्यस्त हो गयी। शाम को हाथों में दो गोभी के फूल थामे तिलोत्तमा के घर पहुंचा तो काकी मां कहीं निकली हुई थी। तिलोत्तमा ने दरवाजा खोला।

आ जाओ अंदर।

काकी मां?

आ जायेगी अभी तुरंत मैं भी आयी हूं। चाय बनाती हूं तुम्हारे लिए भी। थोड़ा संयत लग रही थी तिलोत्तमा। शांत और शायद प्रसन्न भी। कारण जो भी हो मोटका ने आज हिम्मत जुटा ली। हाथों से गोभी का फूल रखा भी नहीं था, धड़क से बोल डाला।

तिलू! शादी कर लो मुझसे।

क्या बकवास कर रहे हो मन्नू दा।

बकवास क्या है इसमें काकी मां दरवाजे से अंदर आते हुए बोली क्या गलत कह रहा है? उम्र तुम्हारी बढ़ रही है कि कम हो रही है? हर वक्त केवल काम, काम और काम...। चेहरा देखो अपना हर साधारण बेटे की मां की साधारण चिन्ता।

आचानक हंस पड़ी तिलोत्तमा। लगा सांध्य प्रदीप झिलमिलाने लगे।

अरे कम से कम ढंग से तो कहते यही बात मन्नू दा। क्या हाथ में गोभी का फूल लेकर प्रपोज कर रहे हो?

मोटका ने झट से गोभी का फूल बरामदे पर रख दिया। काकी मां भी हंसने लगी।

सोचूंगी, अभी चाय पियो।

फिर काकी और तिलोत्तमा के बीच बंगला में जो कुछ हुआ उसका सारांश यही था कि पिछले कुछ दिनों से जिस प्रकार मन्नू उसका ख्याल रख रहा है मतलब खाने पीने, आने जाने, सोने जगने सबका। इसका मतलब है वह उसे 'भालोबाशता' है मतलब प्यार करता है और उसे खुश रखेगा। अंत में एक नाटकीय हताशा के साथ तिलोत्तमा ने माथे पर हाथ मारते हुए बंगला में कहा

लास्टे आमार कपाले ऐइ गोबोरगणेशी जुटलो ! (अंत में मेरे भाग्य में यही गोबर गणेश ही बदा था)

खबर ऐसी फैली कि क्या जंगल में आग फैलेगी। पांडेपीडिया की प्रतिक्रिया बनरा के हाथ में नारियल! बनर्जी बाबू की भाषाई प्रतिक्रिया बांदरेर गलाय मुक्तोर हार (बंदर के गले में मोतियों की माला)। लिटू की प्रतिक्रिया ब्यूटी एंड द बीस्ट। संतू की प्रतिक्रिया बेट्टा, जैकपॉट मार लिया। मेरी प्रतिक्रिया जा बेवफा! मोटका सहित पूरा शहर इस उम्मीद में था कि ये शहर के एक यादगार इवेण्ट के रूप में मनेगा। एम.टी.एच. इवेण्ट्स के स्टाफ ने तैयारी भी शुरू कर दी थी लेकिन तिलोत्तमा ने कड़ी हिदायत दे दी कोई तामझाम नहीं, मंदिर में सीधेसादे ढंग से होगी शादी इवेण्ट देखते और मैनेज करते करते बोर हो गयी हूं। कुछ तो अलग हो।

अलग यह हुआ कि मंदिर से शादी के बाद सभी काकी मां के हाथ का भोजन करने तिलोत्तमा के घर पहुंचे। मोटका सहित आठ लोग। काकी मां ने बंगाली ढंग का खाना बना कर रखा था राधावल्लभी कचौड़ियां, चने की नारियल डली मीठी दाल, आलूदम, सरसों डली स्टीमड हिल्ला मछली, चावल, अंत में मीठा दही एवं संदेश। मोटका सिर्फ हिल्ला मछली से ही पनाह मांगता था। एक तो इसमें कांटे ज्यादा होते हैं और माल कम। कुछ ने चुटकी ली मन्नू दा! अब तो आपको सीखना

पड़ेगा हिल्सा खाना। शाम को मोटका तिलोत्तमा को लेकर अपने घर पहुंचा तो स्टाफ लड़कियों की बाजीगरी देख कर दंग रह गया। पूरे घर में अल्पना बनी थी। पलंग पर हरसिंगार के फूल थे। तिलोत्तमा का स्वागत भी लड़कियों ने ही दीपथाल जला कर किया और तो कोई स्त्री मोटका के घर में थी नहीं। सारी बत्तियां बुझ जाने के बाद कमरे में सिर्फ सप्त प्रदीप जल रहा था और रोशनी जैसे सिर्फ तिलोत्तमा के चेहरे को ही रोशन कर रही थी। कम से कम मोटका को ऐसा ही लग रहा था।

तिलू! मोटका ने कोमल स्वर में पुकारा।

हूं

कब तुमने ये सब मैनेज किया। वो भी मेरे घर में।

मैं तो ये सब अपने हाथों से करना चाहती थी लेकिन सम्भव नहीं था। ये मोबाइल से क्या कर रहे हो।

इन क्षणों को संजो कर रखना चाहता हूं। ये दृश्य ये ध्वनि, ये अतीन्द्रिय अनुभूति सब कुछ। बंद करो। ये सिर्फ स्मृतियों में संजो कर रखने की चीज है। कब सीखोगे ओह! तुम भी न।

धीरे धीरे सब सीखूंगा तिलू! तुम सिखाओगी न?

तिलू हंसने लगी। मोटका ने सोचा प्रेम में पग कर हंस रही है लेकिन तिलू को मोटका उच्चरित 'स' से सीटी बजती सुन कर हंसी आ गयी थी। वैसे तिलू को मोटका का चेहरा बहुत ही मासूम लगा था इस नीमअंधेरे में।

सुबह उठ कर तिलू जैसे पागल हो गयी, आंगन में भरे हरसिंगार के फूलों को देख कर। मोटका परेशान रहता था इस मौसम में हरसिंगार के भरे फूलों को बुहार कर फेंकने में। सफेद चादर सी बिछी थी पेड़ के नीचे। तिलू जमीन पर ही बैठ गयी फूलों की चादर पर। मोटका देख कर मुग्ध होता रहा। आफिस पहुंचते ही जैसे तिलू बदल गयी काम और सिर्फ काम ने फिर से जकड़ लिया था उसके पूरे वजूद को। 'जोहार' का काम जोरों पर था। दोपहर को सलाद और दही लेकर एक लड़का आया तो मोटका का जी खट्टा हो गया।

मैं बाहर से कुछ खाकर आता हूं। इससे मेरा काम नहीं चलेगा।

चलिए सर! मैं भी आ गया हूं यह भाई जी थे हमेशा की तरह प्रसन्नचित, मुदित, चकित।

एक ठेले पर जाकर दोनों ने छोले भटूरे खाये। भाई जी ने एक प्लेट जबकि मोटका ने दो प्लेट। भाई जी ने ही पैसा दिया। गपशप के दौरान भाई जी ने कहा कि वह नक्सल प्रभावित क्षेत्रों की पीड़ित लड़कियों का एक एन.जी.ओ. कम प्लेसमेण्ट एजेंसी चलाते हैं। कहीं काम वगैरह मिल जाता है तो लड़कियों में आत्मविश्वास आ जाता है। तिलोत्तमा मैडम कुछ काम देती रहती हैं मगर ज्यादा दे नहीं सकतीं क्योंकि ज्यादा काम तो सुपर मैडम की प्लेसमेण्ट एजेंसी को देना पड़ता है।

सुपर मैडम मतलब? सुपरमैन तो सुना था। मोटका ने यथासम्भव परिहास किया।

सुपरमैन तो संस्कृति सचिव हैं वर्कहोलिक, ग्लास पर ग्लास पानी पीते हैं।। डायट फूड लेते रहते हैं। आफिस में देर रात तक काम करते हैं। जैसे हर सफल आदमी के पीछे एक औरत का हाथ होता है वैसे ही हर वर्कहोलिक के पीछे एक औरत की लात होती है। इसका एक फायदा होता है कि बड़े काम हो जाते हैं। सुपरमैन की उर्जा स्रोत है सुपर मैडम।

आप लोगों में व्यावसायिक ईर्ष्या भी होगी। बातों के डंक से मोटका ने अंदाजा लगाया।

अरे नहीं। भाई जी आंखें गोलगोल कर बोले अरे कहां वो कहां हम। कहां मूँछ के बाल हैं कहां पूंछ के बाल। हम तो इधर उधर ही कुछ छोटे मोटे काम दिलवा पाते हैं। वो भी गरीब गुरवा पीड़ित लड़कियों को। वो तो दूर दूर तक दिलवाती हैं दिल्ली, मुंबई, दुबई, बैंकाक, यंग, स्मार्ट,

इंटेलेजेंट लड़कियों को। वैसे एक राज की बात बताऊँ हमने उनकी आंखों में तिलोत्तमा जी के लिए थोड़ा जलन का भाव देखा है। आप अब चूँकि उनके पति हैं तो आपको बता दिया भाई जी अगले मोड़ से खिसक लिए।

मोटका ने घर जाकर रात को रिकार्डर से बात की “तिलोत्तमा आज रात काकी मां के साथ रुकने वाली थी। हमेशा की तरह तिलोत्तमा से सम्बोधित तिलोत्तमा ! तुम मुझसे दूर कैसे रह सकती हो। कल कितनी उजास फैली थी घर में मेरे, आज फिर वही अंधकार, बत्ती जलाने तक की इच्छा नहीं हो रही। तुम्हारे यहां भी रुक सकता था। लेकिन लोग क्या कहते एक ही दिन में घरजमाई बन गया। अच्छा! ये भाई जी कैसे आदमी हैं और ये सुपर मैडम कौन है? और तुमसे क्यों जलती है? इन सवालियों के जबाब कल पूछूंगा तुमसे। आफकोर्स अगर तुम्हारी बताने की इच्छा हो। खैर बाय बाय, गुडनाइट गॉड ब्लेस यू।”

ये ऑडियो क्लिप भी मौजूद थी पेन ड्राइव में। ये क्लिप सुन कर एक पैशाचिक आनंद की अनुभूति हुई मुझे क्योंकि शादी के ठीक एक दिन बाद ही मोटका विरह का दुख भोग रहा था। किसी भी तरह मुझसे यह निगलते नहीं बन रहा था कि एक विशालकाय दानव के हाथ कोई नाजुक सी जलपरी लग जाये और वह उससे प्रेम भी करने लगे साधारण तरीके से। लेकिन दूसरे दिन से जीवन सामान्य गति से चलता दिखने लगा। मोटका भी ऑफिस पहुंच जाता समय से। ‘जोहार’ की तैयारी जोरदार थी। मोटका भी सहयोग कर रहा था। तिलोत्तमा उसे जहां भेजती दौड़ जाता। बाकी समय बैठ कर कम्प्यूटर गेम्स खेलता था। दिवानिद्रानंद लेता रहता। तिलोत्तमा भूत की तरह खटती रहती। भाई जी आते तो मोटका साथ हो लेता। पार्क में जाते तो दोनों मूंगफलियों का आनंद भी लेते। मोटका ने भाई जी के बारे में तिलोत्तमा से पूछा था। तिलोत्तमा ने कहा था भाई जी संत टाइप आदमी है। बड़ा काम करते रहते हैं। नक्सल प्रभावित इलाकों में भाई जी के अलावे लोग आसानी से घूमना फिरना नहीं कर सकते। लोग कहते हैं उन लोगों के साथ भाई जी के अच्छे सम्पर्क कायम हो गये हैं। और सुपर मैडम? इस प्रश्न पर तिलोत्तमा का भ्रू संकुचन हुआ। मोटका सकपका गया।

फिलहाल जाकर प्रोग्राम के रिहर्सल ही क्यों नहीं देखते? सारा स्टाफ खट के मर रहा है और तुम गेम्स खेलते रहते हो। अच्छा लगता है?

ये प्रश्न मोटका को अच्छा नहीं लगा मगर बात सही थी। आफिस से निकल पड़ा। एक मेटाडोर में लड़कियों के साथ भाई जी रिहर्सल ग्राउंड जा रहे थे। मोटका को सड़क पर अकेले चलते देख कर गाड़ी रोक दी।

चलिए, सर, उधर ही चल रहे हैं न?

मोटका बैठ गया गाड़ी में। लड़कियां बैठी बतिया रही थी। कचर पचर, कुछ डरी सहमी सी भी लग रही थीं। कुछ पूरे आत्मविश्वास के साथ।

सुनो न अनीता तुम थोड़ा संक्षेप में बैठने नहीं सक रही हो। हमको इधर ठेल रही हो। काहे तुम ही थोड़ा उधर धसक जाओ।

भाई जी ने सबको एडजस्ट करने को कहा। मोटका लड़कियों से उनका नामगाम पूछने लगा। ये जुगनी है। यह एक महीना पार्टी के साथ रह चुकी है। मोटका ने भय के साथ देखा। सीधी सरल सी लड़की। सफेद चमकीले दांत दिखा कर हंस रही थी।

ये सोनामनी है, मां बाप दोनों मारे गये। तबसे पुलिस भी तंग कर रही थी।

एक लड़की थोड़ी ज्यादा सप्राण लग रही थी। उसके बारे में बताया भाई जी ने ये हैं चांदो। सुपर मैडम की एजेंसी ने मुम्बई भेजा था नौकरी पर, फिर क्या हुआ चांदो? बताओ। तो लड़की

ने जो किस्सा बयान किया वह डरावना और घृणित था। बताते वक्त कई बार अटकी, सिर झुका लिया। आंखों में आंसू आ गये। भाई जी ने तब कहा अब रहने दो। मोटका ने हिम्मत करके पूछा अच्छा भाई जी! आपको उन इलाकों में डर नहीं लगता?

किसको लगता है डर? प्रतिप्रश्न किया भाई जी ने।

क्यों और सब, जैसे विकास के काम ठप हैं। देश का नुकसान हो रहा है। लोग चिन्तित हैं, उस समस्या को कैसे सुलझाया जाय...

किसने कहा कि लोग इसे सुलझाना चाहते हैं। इसका रहना ही तो फायदे का सौदा है। सब प्रसन्न हैं। डरावनी तस्वीर दिखाओ लालबाबा की और ज्यादा से ज्यादा फंड लो। डकार जाओ सब। कोई पूछे तो कह दो लालबाबा काम ही नहीं होने देते। टीचर हो मत पढ़ाओ कहो लालबाबा के डर से। डाक्टर हो मत जाओ अस्पताल, उधर लालबाबा है। दिल्ली वगैरह से कोई आये तो ऐसी तस्वीर खींचो भय की कि रांची एयरपोर्ट से ही लौट जायें।

ओह लेकिन पुलिस वाले तो डरे रहते हैं न...

सब हसीन धोखा है। कोई घटना हो तो कौन अपराधी को ढूँढ़े। तरद्दुद करे। लगा दो लालबाबा का नाम। सब चुप हो जायेंगे। लालबाबा के झूठे आतंक की जयजयकार करते रहो। प्रसाद पाते रहो। नोयडा, नवी मुम्बई में फ्लैट खरीदते रहो। उत्तर बिहार में जैसे बाढ़ में रिलीफ का मामला था। सब बाढ़ आने से प्रसन्न होते थे। वैसा ही कुछ मामला है। भाई जी हाँफने लगे। रिहर्सल ग्राउंड आ गया था। उधर एक लम्बी सी गाड़ी से एक रूपसी स्त्री उतर रही थी चेहरे पर गॉगल्स, कपड़े आधुनिक, साजसज्जा आधुनिकतर, चेहरे पर गाम्भीर्य आधुनिकतम। तिल तिल से रौब टपक रहा था। मोटका देखते ही समझ गया यही 'सुपर मैडम' है। मोटका के चिन्तन की ध्वनि भाई जी तक पहुंची उन्होंने सर हिला कर इसकी तस्वीर की। आफिस की एक स्टाफ लड़की ने मोटका का परिचय सुपर मैडम से करवाया मैडम ये हैं तिलोत्तमा मैडम के हस्वैण्ड! यही आर्टिस्टों को कोआर्डिनेट करेंगे।

सुपर मैडम ने इस हिकारत से उसकी तरफ देखा जैसे हिकारत के अग्निवर्षण से ही राख कर डालेगी।

प्रोमिनेण्ट पोजीशनस पर हमारी एजेंसी की ही गर्ल्स रहेंगी। गॉट इट? सवाल ऐसा था जिसका उत्तर सिर्फ हां ही हो सकता था। भाई जी की तरफ भुनगाभाव से देखती हुई मैडम दन से गाड़ी में बैठी और भन से निकल गयी।

जिस दिन 'जोहार' फेस्ट का आधिकारिक उद्घाटन हुआ यानि शादी के ठीक पंद्रहवें दिन, उसी सुबह तिलोत्तमा का मोटका से जोरदार संवाद हुआ जो जल्द ही विवाद में बदल गया। इवेण्ट का आगाज तो शानदार था मुख्यमंत्री, राज्यपाल, उद्योगपति, फिल्मी कलाकार, रॉक बैंड, एंकर्स, गुब्बारे, कबूतर, लेजर शो, बालीवुड डांस से लेकर हर कोण पर एथनिक छाप। संस्कृति सचिव की तारीफ खुद मुख्यमंत्री ने की बहुत बढ़िया रहा आपका परोगराम। इस सूक्ति पर संस्कृति सचिव श्रद्धाविगलित हो गये और गलगल कर मुख्यमंत्री महोदय के चरणों पर गिरने लगे। युवाकार्य एवं संस्कृति मंत्री जिनके विभाग का वह सचिव था उसके हृदय में थोड़ी खलिश पैदा हुई कि उनका ताबेदार दूसरे की ताबेदारी में लगा है लेकिन वह खुद ही मुख्यमंत्री का ताबेदार था तो गम खाकर रह गया।

ही इज ए भेरी एफीसिएंट अफसर। अँग्रेजी से मुख्यमंत्री को थोड़ा झटका देना चाहा संस्कृति मंत्री ने।

हां, हां। मुख्यमंत्री सिर्फ सिर हिला कर गाड़ी में बैठ गये। हूटर वाली गाड़ी सांय सांय निकलने लगी। तब जाकर तिलोत्तमा ने बोतल से पानी पिया जो मोटका उसके लिए लेकर आया था।

रियल जूस का एक पैकेट ले आया तो उसे तिलोत्तमा ने झिड़क दिया। दुखी होकर एक कोने में खड़ा होकर पूरा पैकेट पी गया। देखा सामने सुपर मैडम थी अपनी पारदर्शी त्वचा के साथ हलो मैडम! हाउ आर यू अपनी टाई की नॉट को परेशान करता हुआ बोला था मोटका।

मैं आपको जानती हूँ? मैडम का तिर्यक सवाल।

जी। हकला कर बोला मोटका मैं तिलोत्तमा का हस्वैण्ड।

ओ! ग्रेण्ड शो, आय मस्ट से, तिलोत्तमा इज ए गुड इवेण्ट मैनेजर। वैसे आप क्या करते हैं?

जी... मैं साथ ही... मतलब।

कभी आइये हमारे आफिस में, बाय। हिकारत भरी मुस्कान बदस्तूर चिपकी रही थी।

दूसरी सुबह तिलोत्तमा को चाय के प्याले के साथ प्यार से उठाया।

सोने दो थोड़ी देर, सिर दुख रहा है।

उठ कर चाय पी लो तिलू, ठीक हो जायेगा।

क्या हरदम चाय पीलो तो पानी लो तो ये खालो ये पीलो करते रहते हो। अचानक पारा चढ़ गया था।

तुम्हारे लिए ही न।

मेरी चिन्ता ज्यादा मत करो। वैसे मैडम क्या कह रही थीं?

ओहो! इसलिए जलन हो रही है? मोटका ने माहौल हलका करने की गरज से कहा।

जलन! व्हाट रविश। तुम्हें सावधान रहने को बोल रही हूँ। उन लोगों का कामकाज...

उनके कामकाज से क्या मतलब है मुझे।

नहीं सुनने में आया है कि तुम बहुत इंटरैस्ट लेकर उनकी प्लेसमेण्ट एजेन्सी के बारे में पूछ रहे थे।

अब मोटका भी चिढ़ रहा था।

हां! तुम्हें सेंस तो है नहीं न लोगों का।

मत भूलो कि आज जिस कम्पनी पर तुम इतना इतरा रही हो वह मेरी ही खड़ी की हुई है।

उंह! कम्पनी, हलवाई की दुकान थी।

बस अब मोटका भी हथ्ये से उखड़ गया। तू तू, मैं मैं, शिकायत, गुस्सा, चीख पुकार अच्छा खासा इवेण्ट, मोहल्ले खासतौर पर पांडेपीडिया के लिए जो दीवार के पास ही कान लगा कर खड़े थे। अंत में थोड़ा रोनाधोना, मानमनुहार फिर दोनों इकठ्ठे आफिस के लिए निकले क्योंकि तिलोत्तमा इस तरह एक बड़े इवेण्ट के बीच ये सब तनाव एफोर्ड नहीं कर सकती थी। ऐसा उसने कहा भी साथ निकलने पर। पांडेपीडिया निराश हुए थे ले हलुवा! इ भी साला इवेण्ट मैनेजमेण्ट हो गेलो।

तिलोत्तमा नाराजगी में काकी मां के साथ रहने चली गयी। मोटका लौट कर घर को आया। लिटू ने फोन द्वारा जब इस विलगाव की खबर मुझे दी तो सुदूर भुवनेश्वर में मेरा हृदय बागबाग हो गया। मेरे उद्गार थे गृहस्थी में दो पहिये की जरूरत होती है मगर एक खूबसूरत स्कूटी की हो दूसरा ट्रैक्टर का तो चल नहीं पाती। लेकिन ज्यादा देर तक मेरी खुशी बरकरार नहीं रह पायी। क्योंकि शाम होते होते मोटका फिर सिर झुका कर काकी मां के सामने अपराधी की तरह खड़ा हो गया और कसम दे दिला कर फिर तिलोत्तमा को वापस ले आया। तिलोत्तमा आंगन में बिछे हरसिंगार की चादर को देखने का लोभ नहीं संभाल पायी। रात में मोटका ने फिर मोबाइल रिकार्ड से बात की थी जिसकी फाइल पेन ड्राइव में थी “तिलोत्तमा! तुम्हारी कम्पनी में मेरी हैसियत क्या है? तुम्हारे पीछे पीछे पानी, दही, जूस लेकर घूमनेवाला और बात बात पर झिड़की खानेवाला। लेकिन फिर भी मैं तुमसे

बहुत प्यार करता हूँ और ये प्यार बनाये रखने के लिए जरूरी है कि मेरी भी एक स्वतंत्र सत्ता हो। तुमने ठीक पकड़ा था। सुपर मैडम से मैं प्लेसमेण्ट एजेन्सी की जानकारी ले रहा था। बेरोजगारी जब तक है प्लेसमेण्ट एजेन्सी का भविष्य उज्ज्वल है। इस बीच तीन बार मेरी मुलाकात सुपर मैडम से हो चुकी है। वह दिल्ली शिफ्ट करना चाहती है। कोई गुरु महाराज हैं उनके वहां। प्लेसमेण्ट एजेन्सी का कुछ करना चाहती है। मुझे माफ करना तुम्हारी बात नहीं मान पाऊंगा। बाय गुडनाइट।”

तिलोत्तमा ने ध्यान दिया कि मोटका का मन आजकल आफिस में ज्यादा नहीं लगता। एक तो देर से आना, दूसरे अगर उस डेरे पर रही तब तो समय से साथ आ जाता है नहीं तो खाना बनाने का बहाना कर देर से आना। अन्यमनस्क सा रहना, किसी काम में रुचि न दिखाना लेकिन तीन बजते ही सक्रिय हो उठना। किसी न किसी बहाने से दफ्तर से निकल जाता फिर देर रात को लौटता। कभी कहता आज भाई जी मिल गये थे। तो आज हाकी मैच देखने चला गया था। भाई जी से ही असली बात पता चली सर तो आजकल शबरी के बेरों में ज्यादा रुचि ले रहे हैं।

‘शबरी’ दरअसल उस प्लेसमेण्ट एजेन्सी का नाम था जिसे सुपर मैडम चलाती थी। लोग इस नाम में भी गहरी व्यंजना ढूंढते थे। शबरी की तरह बेरों को जूठा करके भेजती है मैडम। अब खुद तो जूठा कर नहीं सकती थी तो कई ऐसे लोगों की सेवा लेती या देती थी जिनके ऊपर उंगली उठाना तो दूर, निगाह टेढ़ी करना भी सम्भव न था। इसमें पुलिस वाले आला हुक्मरानों से लेकर राज्य के एक पूर्व मुख्यमंत्री तक शामिल थे। मैडम को फोन करवाते थे साहब को बड़ा अकेलापन महसूस हो रहा है। आपके जादुई बेरों से ही उनका इलाज सम्भव है। डाक्टर ने यह नुस्खा बताया है। पिछली बार बड़ा फायदा हुआ था।

जिस दिन दूसरा बड़ा झगड़ा हुआ उस दिन शादी को मात्र एक महीना पूरा हुआ था।

तुम इतनी जल्दी गर्त में गिर जाओगे मैंने कभी सोचा नहीं था।

कैसा गर्त?

अनजान बनने की जरूरत नहीं है। तुम अच्छी तरह जानते हो मैं क्या कह रही हूँ।

क्यों? मुझे क्या अपना भविष्य संवारने का हक नहीं।

परंतु हमारे भविष्य का क्या?

हमारा भविष्य! तुम्हारे मुंह से पहली बार सुना, अब तक तो सिर्फ मेरा काम, मेरी महत्वाकांक्षा, मेरी उपलब्धि, यही सुनता आया।

कैसे इतना जहर भर गया तुम्हारे अंदर?

तुमने भी तो कभी प्यार से जहर उतारने की कोशिश नहीं की। दरअसल तुमने कभी मुझे प्यार किया ही नहीं।

तुम प्यार के लायक थे भी नहीं और न कभी खुद को बनाने की कोशिश की।

हां! तुम्हारे प्यार के लायक तो सिर्फ अभि था या फिर बिट्टू यादव!

मन्नु! आवाज लरज गयी थी तिलोत्तमा की।

इस झगड़े का पूरा ऑडियो पांडेपीडिया के सौजन्य से उपलब्ध था मौखिक रूप में। धड़ाम धड़ाम की दो आवाजें हुई थीं एक तिलोत्तमा के दरवाजा बंद करने की तथा दूसरी आवाज मुख्य दरवाजे से मोटका द्वारा पैर पटक कर बाहर निकल जाने की। दूसरे दिन सुबह सवेरे तिलोत्तमा को जाते देखा गया एक बड़े से बैग के साथ। मायका उसी शहर में होने की सुविधा के रूप में आवागमन सहज था। लेकिन इस बार यह थोड़ा ज्यादा था क्योंकि दूसरे ही दिन एम.टी.एच. इवेण्ट्स का नाम बदल कर सिर्फ ‘इवेण्ट्स’ हो गया था साइन बोर्ड, ब्रॉशर, रसीद बुक, ईमेल आई.डी. से लेकर बैंक एकाउंट तक में।

और उसी दिन दिल्ली की फ्लाइट में पांच आदिवासी लड़कियों और सुपर मैडम के साथ मोटका भी बैठा था इन लड़कियों को किसी बी.वाई एसोसिएट्स तक पहुंचाने जहां से ये लड़कियां नौकरी लेकर दुबई जाने वाली थीं। वहां उनके लिए काम ढूंढ दिया गया था।

सुपर मैडम दिल्ली शिफ्ट कर रही थी। इस बार हमेशा के लिए क्योंकि इस शहर में न तो नाइट लाइफ थी न कोई सोसायटी। सचिव साहब को ही कभी सरकारी तो कभी निजी यात्रा के जरिये मैडम से मिलने आना पड़ेगा। तब तक मैडम गुरु महाराज की शरण में थी, जिनका 'ईश्वर के काम' वाला सिद्धांत बड़ा ही मकबूल हुआ था और दिल्ली के उच्चवर्गीय श्रेष्ठ समाज में काफी प्रतिष्ठा पा रहा था। मोटका और आदिवासी लड़कियां पहली बार हवाई जहाज में बैठी थीं तो काफी सहमी सहमी सी थीं गोकि आदिवासी समाज में अपेक्षाकृत स्मार्ट लड़कियां थीं वे। चेकइन के समय एक पुलिस अधिकारी को थोड़ा शक हुआ था लेकिन मैडम का रुतबा देख कर कुछ बोलने की हिमाकत कर नहीं पाया था। दरअसल कुछ विपक्षी दल वाले तथा एन.जी.ओ. वाले आदिवासी लड़कियों को ले जाकर बेच देने आदि का हंगामा मचा रहे थे तो प्रशासन को कुछ तो लोक दिखावन करना था।

मैडम ये लड़कियां?

दिल्ली एक फेस्टीवल में ट्राइबल डांस के लिए।

ओ और ये आपके साथ हैं?

हां, इनके डांस गुरु।

आजकल मोटे मोटे डांस गुरु होने लगे। पुलिस अधिकारी ने अपने सहयोगी से कहा।

देखते नहीं है सर, गणेश आचार्य, फरहा खान, सरोज खान सब तो...। मोटापे का इशारा किया सहयोगी ने।

मैडम गम्भीर मुखमुद्रा बनाये रही। मोटका ने सोचा मैडम ने झूठ क्यों बोला। हवाई जहाज पर बैठने की उमंग ने हर शकोशुबहा को निगल लिया। दिल्ली पहुंच कर ग्रेटर कैलाश में बी.वाई. एसोसिएट्स का दफ्तर देख कर भौंचक्का रह गया मोटका। किसी बड़े कारपोरेट हाउस का दफ्तर लग रहा था। एयरपोर्ट पर ही उनकी गाड़ी आ गयी थी। वहां से लड़कियों को वर्किंग गर्ल्स हॉस्टल ले जाया गया। जलती बुझती रोशनियों की झिलमिलाहट लड़कियों की आंखों में सपने बन कर तिर रही थी।

मैडम और मोटका गुरु महाराज के आश्रम की तरफ चले। काफी दूर गाड़ी चली तब फार्महाउस जैसा एक आश्रम आया। गुरुजी काफी युवा और आकर्षक थे। संतों वाली शांति नहीं बल्कि एक किस्म की आक्रामकता विराज रही थी जो उनकी उम्र को देखते हुए काफी स्वाभाविक लग रही थी। प्रवचन आरम्भ हुआ काफी उत्तेजक संगीत के बाद

कभी आपने सोचा ईश्वर कितना स्वार्थी है। कैसे? मैं बताता हूं, ईश्वर का मुख्य कर्म है सृष्टि को निरंतर गतिमान रखना। उसकी संतति का निरंतर परिवर्द्धन, इसीलिए आपको उसने युवावस्था का उपहार सौंपा है ताकि आप सृष्टि को आगे बढ़ा सकें। जैसे ही आप उसका कार्य सम्पन्न कर देते हैं, वह आपसे उपहार वापस लेना शुरू करता है। युवावस्था, इसके लक्षण सब धीरे धीरे वापस लेता है। फिर आपको भी वापस अपने पास बुला लेता है। अब आपकी संतति ईश्वर का काम करती है, मानव का उसके लिए बस इतना ही मोल है कि उसका काम होता रहे।

लोग आंखों में आंसू भरे सुन रहे थे। गुरु महाराज का दिव्य चेहरा चमक रहा था। खासतौर पर वह महिलाओं का आलिंगन कर रहे थे प्रसाद स्वरूप। पुरुष चरणस्पर्श कर रहे थे। गुरु महाराज आशीर्वाद स्वरूप कह रहे थे ईश्वर का कार्य करो। मैडम को काफी देर तक आलिंगन में निबद्ध रखा, मैडम की आंखें नम थीं। गागल्स उतारने के बाद देखा मोटका ने कि मैडम की आंखों में कितनी

मादकता थी। मोटका को सुबह की फ्लाइट से ही लौट जाना था। उसे दरअसल 'शबरी' का काम संभालना था जिसका मूल कार्य था प्रतिभाशाली, सुंदर, शिक्षित, स्मार्ट आदिवासी लड़कियों की प्रतिभा को चिह्नित कर उन्हें बी.वाई. एसोसिएट्स तक पहुंचा देना। बाकी कार्य यहाँ होना था। काफी पैसे मिले थे तो काफी प्रसन्न भी था। गुरु महाराज की प्रेरणा से उसे भी ईश्वर का कार्य करने की इच्छा हो रही थी लेकिन... अच्छी शराब खरीदी, पीकर होटल के कमरे में सो गया। मोबाइल रिकार्डर से बात की थी मगर अस्फुट स्वरों में सिर्फ 'तिलोत्तमा! तुम कहां... ईश्वर का काम...' इतने ही शब्द थे, बाकी उसके खरटे रिकार्ड हो गये थे। बैटरी लो होकर रिकार्डिंग बंद हो गयी होगी।

मोटका के रंगढंग में परिवर्तन देख कर पांडेपीडिया उवाचे थे कारुं के खजाना हाथ लगा गेलौ का बेटा के! जानबूझ कर नयी चमचमाती बाईक हीरो करिज्मा लेकर वह इवेण्ट्स के दफ्तर के सामने से गुजरता कि कोई स्टाफ देख कर तिलोत्तमा को बताये। कई बार फोन भी करने की कोशिश की लेकिन फोन कट गया। एकाध बार उसके घर के सामने से भी गुजरा मगर जाने की हिम्मत न हुई फिर उसे दिल्ली जाना था कुछ लड़कियों के नाम बी.वाई. एसोसिएट्स ने ओके कर दिये थे। उन्हें मुम्बई में जाँब दिलवायी थी। इस बार ट्रेन से जाना था।

तिलोत्तमा की अनुपस्थिति में मोटका मुंह लटका कर काकी मां के पास पहुंचा। चरण छूकर खड़ा रहा बहुत देर तक। काकी मां ने कहा तुम तो जानता है तिलू को। गुस्सा आने पर साक्षात् रणचंडी। दो संदेश खाकर और यह आश्वासन लेकर कि वह इस सम्बंध में तिलू से बात करेगी विदा हुआ था मोटका। बात की भी थी काकी मां ने।

तुमि किच्छू जानो ना वो जो किस रास्ते पर गया है।

काकी मां चुप हो गयी।

दिल्ली से लौट कर आया तो 'शबरी' के चमकदार दफ्तर में बैठ कर कावेरी से मंगवाया लंच ले रहा था। इतमीनान था चेहरे पर। मैडम से फोन पर बात हो पायी थी। उन्होंने पीठ ठोंकी थी कीप इट अप। बी.वाई. एसोसिएट्स के एम.डी. भी तुम्हारे काम की तारीफ कर रहे थे। आय एम हैप्पी, शबरी को मैंने सेफ हैण्ड्स में दिया है।

आपसे मिल सकता हूँ?

नो! मैं गुरु महाराज के आश्रम में हूँ।

तो वहीं आता हूँ।

नो वे! आय एम रीइन्वेंटिंग मायसेल्फ।

अपना पुनराविष्कार कर रही थी मैडम। गुरु महाराज के सान्निध्य में। मोटका दिवानिद्राचिन्तन में डूब गया। लंच कुछ ज्यादा ही हो गया। उसने तिलोत्तमा को देखा लंच में दही और सलाद लेते। तभी रिसेप्शन से कॉल आया।

सर! कुछ रियली इम्पार्टेंट लोग आये हैं भेज दूँ?

कुछ कहता इसके पहले ही झक सफेट शर्ट पैण्ट में कुछ लोग अंदर आ गये और सोफों पर जहाँ तहाँ धंस गये।

तो आप हैं 'शबरी' के कर्ताधर्ता।

जी, बताइये क्या सेवा कर सकता हूँ।

हां बतायेंगे! सेवा ही तो लेने आये हैं हम। पहले कुछ ठंडा वगैरह मंगवाइये। थोड़ा रिलैक्स हो लें।

जी हां, तुरंत।

एक बड़ा इवेण्ट मैनेज करना है। करने सकेंगे?

पालिटिकल इवेण्ट हम नहीं करते हैं। वैसे हम तो एन.जी.ओ की तरह काम करते हैं। सब मालूम है हमको, पालिटिकल लोग भी बुरे थोड़े ही होते हैं। बड़ा इवेण्ट है तो सोचे, आप लोग करने सकियेगा।

किसके लिए? मोटका की उत्सुकता बढ़ गयी थी।

छोड़िये न, आपको क्या मतलब। आप दाम बोलिए।

पहले काम तो पता चले।

बताये न पालिटिकल काम है।

लेकिन पालिटिकल काम में?

इवेण्ट मैनेजमेण्ट करके लोग देश का प्रधानमंत्री बन जा रहा है और आप बोलते हैं। सुपर मैडम भी हिदायत याद आयी थी पालिटिकल लोगों से दूर रहना ही अच्छा।

लेकिन मैडम की क्या सिर्फ हिदायत थी क्योंकि एक बोला था...

मैडम जब थीं तो छोटामोटा काम हुआ है पहले भी।

लेकिन आप लोग 'इवेण्ट्स' में क्यों नहीं गये, वो भी तो बड़ा काम करते हैं।

गये थे, कहा कि एक अपना कैमरा प्लांट कर दो वहां लेकिन उ है न बंगलनियां, का नाम है, साफ मना कर दी। फिर याद आया कि आपके यहां से तो पूर्व सी.एम. साहब का मधुर सम्बंध पहले भी रहा है। मैडम तो इतनी हरामी है कि कुछ न कुछ रखे बिना तो मानी नहीं होगी। खजाना ढूँढ़ेंगे तो आपके यहां जरूर मिलेगा।

तिलोत्तमा ने मना कर दिया तब तो मोटका जरूर करेगा।

सोच का रहे हैं? ऐसा अपॉरचूनिटी फिर नहीं मिलेगा, खाली बताइये आपसे हो पायेगा कि नहीं?

मोटका पर जिद सवार हो गयी। कुछ भी हो, कैसा भी हो, उसे बस करना है। जो उनमें तेज तर्रार लग रहा था उसने उसे पूरा समझाया कि कैसे एक पूर्व मुख्यमंत्री जिसके पुनः मुख्यमंत्री बनने की सम्भावनाएं प्रबल थीं और जो पहले शबरी में बेर जूठे कर चुका था उसकी वीडियो क्लिपिंग्स जो शबरी के गुप्त खजाने में मौजूद थी उसकी सी.डी. कई चैनलों पर मैनेज करके चलवानी है और फिर उस जूठे बेर को दिल्ली से बुलवा कर मीडिया के सामने पेश करना है। चेहरा तो ढंका रहता ही है, फिर कई जगहों पर कैण्डल मार्च को मैनेज करना था सिर्फ आदिवासी लड़कियों द्वारा धरना प्रदर्शन मतलब पूरे राज्य में एक ऐसा माहौल बना देना है कि उनकी चुनावी सम्भावनाओं का भ्रूण ही उच्छेद कर दिया जाये।

इससे फायदा किसको होगा ?

आपको। सफेद शर्ट और सोने के मोटे चेन वाला हंसने लगा। पूरा ब्लू प्रिण्ट तैयार करके पावर प्वाइंट प्रजेन्टेशन बनाके रखिएगा। बॉस से कन्फर्मेशन के बाद फिर बतायेंगे।

मोटका उत्साहित होकर शबरी का गुप्त खजाना ढूँढ़ने लगा, फाइल मिली पर पासवर्ड से बंद थी। पासवर्ड मैडम के पास होता था या एक पुराने कर्मि के पास जिसने अपना अलग मकाम बना लिया था। मैडम से उसने धोखे से पासवर्ड हासिल कर लिया था मगर कभी इसका उपयोग नहीं किया। बड़ी मुश्किल से उसे खोजा गया। एक मोटी रकम के बदले वह पासवर्ड बताने को तैयार हुआ। सिर्फ सावधान किया मामला संगीन है और लोग खतरनाक, जरा सावधान रहियेगा। चुनाव के पहले राजनीति और प्रसव के बाद बाधिन ज्यादा खतरनाक हो जाती है।

घर आते ही उसका सामना टूटे ताले से हुआ। घर का सारा सामान ऐसा बिखरा था जैसे कोई झंझावात गुजरा हो उधर से। एक एक आल्मारी, बक्सा, दीवान सब खोल कर चीजें बिखेर दी गयी थीं। फाइलें, सी.डी. सब गायब थीं। मोटका सचमुच डर गया। सब चीजें वैसे ही रहने दी। पेन

झाड़व पाकेट में रखी, दूसरा ताला ढूँढ़ कर लगाया और निकल गया। दफ्तर पहुंचा तो बताया गया बी.वाई. एसोसिएट्स के एम.डी. का फोन कई बार आ चुका है। एक लड़की के बारे में पता करना था। उसकी जहां जॉब लगी थी वहां से वह बिना किसी खबर के गायब है। घर तो कहीं नहीं पहुंच गयी है। पता करके तुरंत बतायें। बात करें। फिर फोन बजा। उठायो

हेलो।

शबरी से बोल रहे हैं?

हां, बोलिए।

कहां रहते हैं साहब आप? आपकी भेजी लड़की गायब है। आप चैन से सोये पड़े हैं। आवाज सुन कर वह कांप गया। झट से फोन रख दिया। आफिस एसिस्टेंट से पूछा अच्छा ये बी.वाई. एसोसिएट्स का पूरा नाम क्या है?

बिट्टू यादव एसोसिएट्स सर।

तिलोत्तमा को मैसेज किया तुरंत बात करो। आफिस से भी निकल गया। अभी थोड़ी दूर चौराहे तक ही पहुंचा था कि कई गाड़ियां पुलिस की और काली काली स्कार्पियो सांय सांय करके पार हुईं और उसके दफ्तर के सामने रुकीं। मोटका तेजी से भाग कर एक पतली गली में घुस गया। गलियों में से तेज तेज चलते हुए मेरे घर के सामने पहुंचा था क्योंकि उसी समय ये पेन झाड़व उसने मुझे दी थी।

शहर में पुलिस की भी गाड़ियां दौड़ रही थीं और काली काली स्कार्पियो भी। वह अंधेरे में छिपता छिपाता स्टेशन की ओर गया था। फिर पुराना तरीका अपनाया। पुराना कम्बल ओढ़ कर फिर से पारपुल के नीचे बैठा था। मोबाइल बजा उसका 'तिलू' चमक रहा था।

हेलो। कम्बल के अंदर से फुसफुसाया।

हां बोलो, क्या हुआ?

बिट्टू यादव। उसका हलक सूख रहा था।

क्या?

है, मतलब, जिन्दा है।

तो?

तुम्हें आश्चर्य नहीं हुआ?

नहीं, आश्चर्य तो तब भी नहीं हुआ था जब तुमने पुलिस को फोन करके बिट्टू के धंधे के बारे में बताया था और भागने पर मजबूर कर दिया था।

तिलू! तुमको मालूम थी ये बात?

हां। फोन कट गया।

अब पता नहीं पिछली बार की तरह ट्रेन पर चढ़ पाना मैनेज कर पाया कि नहीं क्योंकि हूटर बजाती पुलिस की गाड़ियां और काली स्कार्पियो गाड़ियों का बेड़ा भी स्टेशन पर कई बार आते जाते देखा गया था। हर बार तो एक लहीमशहीम आदमी इतनी सारी नजरों से बच कर जा भी नहीं सकता न।

देशज संवेदनाओं का कथा संसार

प्रियम अंकित

आजादी के बाद की हिन्दी कहानी का एक सबल पक्ष यह रहा है कि उसने 'आधुनिकता' के वैचारिक और संवेदनात्मक आग्रहों से टकराते हुए, भारतीय यथार्थ के भीतर 'आधुनिकीकरण' की समूची प्रक्रिया के वस्तुगत द्वंद्वों और विसंगतियों को अभिव्यक्ति प्रदान की है। 'आधुनिकता' और 'आधुनिकीकरण' को देखने की आयातित और देशज दृष्टियों का संघर्ष भी कहानी विधा के भीतर लगातार प्रकाशित होता रहा है। निर्मल वर्मा की कहानियां इस संघर्ष को संवाद के धरातल पर प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न करती हैं। उनके यहां 'आयातित', उतना विदेशी नहीं रहता और न 'देशज', उतना देशी। निर्मल वर्मा की कहानियों में हम उस संतुलन की बारीक बुनावट को महसूस कर सकते हैं, जिसमें भारत और पश्चिम एक दूसरे में अपना अक्स खोजने को बेचैन हैं। यह बेचैनी मूल्यवान है और यह निर्मल वर्मा को विश्वनागरिक के बतौर प्रतिष्ठित भी करती है। लेकिन आनंद कुमारस्वामी और रवीन्द्रनाथ टैगोर जैसे अपवादों को छोड़ दें, तो जो भी भारतीय लेखक 'विश्वनागरिक' हुआ, उसकी भाषा यूरोकेन्द्रिक (यानि जीवन को देखने और समझने की यूरोपीय या पश्चिमी संवेदना दृष्टि से प्रतिश्रुत) हो गयी। बीसवीं सदी में भारत के कुछ लेखक ऐसे हैं, जिन्हें निर्विवाद रूप से विश्वनागरिक माना जा सकता है। इनके लेखन की भाषा भारतीय है, मगर इस भाषा का मुहावरा यूरोकेन्द्रिक है। वैसे भी यूरोकेन्द्रिकता को हम आजादी के तुरंत बाद के वर्षों में लम्बे समय तक भारतीय चिन्तन और कला पर हावी होता पाते हैं। बात को केवल हिन्दी कहानी तक सीमित रखें तो अज्ञेय और निर्मल वर्मा की यह यूरोकेन्द्रिक विरासत कहानीकारों के बड़े हिस्से को अपनी गिरफ्त में ले लेती है। लेकिन इस गिरफ्त से छुटकारा पाने के प्रयास भी कहानी में बड़ी शिद्दत से होते हैं। 'यूरोकेन्द्रिकता' से यह आंखमिचौली हिन्दी कहानी में काफी अरसे तक चलती है। नब्बे के बाद हिन्दी कहानी में जो पीढ़ी आती है, वह निर्णायक रूप से यूरोकेन्द्रिकता को ध्वस्त कर भाषा के देशी वैभव को, उसके देशज

ठाठ को ईमानदारी से प्रतिष्ठित करती है। इस दृष्टि से देखें तो पिछले तीन सालों में आये तीन कहानी संग्रह हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं प्रभु जोशी का पितृऋण, पंकज मित्र का जिद्दी रेडियो और राजीव कुमार का तेजाब। प्रभु जोशी आठवें दशक के कहानीकार हैं, पंकज मित्र नब्बे के बाद की पीढ़ी के और राजीव कुमार हिन्दी कहानी में सक्रिय बिल्कुल नयी और युवतम् पीढ़ी के कहानीकार हैं। लेकिन इन तीनों पीढ़ियों के कहानीकारों में भाषा और संवेदना के स्तर पर एक किस्म का सातत्य देखने को मिलता है। यह सातत्य कहीं न कहीं उस बिन्दु पर सबसे ज्यादा घनीभूत हो उठता है, जहां भाषिक संवेदना के भीतर यूरोकेन्द्रिक मुहावरों को ध्वस्त कर देशज अनुभवों की प्रतिष्ठा अहम हो जाती है। प्रभु जोशी की कहानियों में मालवी संवेदनाओं का वैभव, तो पंकज मित्र और राजीव कुमार की कहानियों में पूर्वांचल, बिहार और झारखंड के देशज अनुभवों का ठाठ इस सातत्य का गवाह बनता है। सतह पर यह लग सकता है कि इन तीन संग्रहों की अधिसंख्य कहानियां आंचलिक हैं। लेकिन ये कहानियां कोरी आंचलिकता से ग्रस्त नहीं हैं। क्योंकि यहां 'देश' को सिकोड़ कर 'स्थानीय' के बने बनाये खांचों के भीतर खोंसने के बजाये, स्थानीय अनुभवों की दृष्टि का विस्तार करके 'देश' के व्यापक प्रसार को जानने और चीन्हने की कोशिश की गयी है।

प्रभु जोशी के संग्रह **पितृऋण** की कहानियों में शब्द मालवी बोली के भी आते हैं और अंग्रेजी के भी। लेकिन महज एक अंचल विशेष की भाषा का इस्तेमाल करने से कोई कहानीकार देशज संवेदनाओं का वाहक नहीं हो जाता। साथ ही किसी कहानीकार की भाषा महज इसी आधार पर यूरोकेन्द्रिक नहीं हो जाती कि उसमें अंग्रेजी के शब्द अक्सर आते हैं। मुल्कराज आनंद, आर.के. नारायण और राजा राव ने अंग्रेजी भाषा में लिखा। लेकिन उनकी भाषा का मुहावरा कभी यूरोकेन्द्रिक नहीं रहा। उल्टे, उनकी भाषा में अनुभवों की देशज त्वरा निखरती जाती है। यह भी सम्भव है कि कहानीकार अपनी भाषा में किसी भी यूरोपीय शब्द या वाक्य का इस्तेमाल न करे, फिर भी उसका मुहावरा यूरोकेन्द्रिक हो। इसी तरह अंचल विशेष की भाषा का इस्तेमाल फैशन भी हो सकता है, और कलावादी बाजीगरी भी। तो फकत शब्दों और वाक्यों के आधार पर यह तय नहीं होता कि कहानीकार की भाषा का मुहावरा यूरोकेन्द्रिक है या देशज। यह तय होता है इससे कि कहानीकार के शब्दों और वाक्यों का जो वस्तुगत यथार्थ है, वह यूरोपीय या पश्चिमी दृष्टियों से प्रतिश्रुत है या देशज अनुभवों से। प्रभु जोशी के संग्रह पितृऋण की कहानियों में मालवी बोली का जो वैभव है, वह ठेठ देशज अनुभवों की समृद्ध अनुभूतियों से निःसृत है। इनमें जो अंग्रेजी के शब्द आते हैं, वे ठेठ भारतीय मध्य वर्ग के अजीबोगरीब अनुभवों का हिस्सा बन चुके हैं। इसलिए उनका कथा संसार देशज है। प्रभु जोशी 70 के दशक के ऐसे कहानीकार हैं, जिनके यहां निर्मल वर्मा से प्रभावित यूरोकेन्द्रिकता का तानाबाना उघड़ चुकने को है।

प्रभु जोशी की कहानियों में जमाने की तेज रफ्तार से उखड़ते हुए या उखाड़े गये लोगों का दर्द बयां होता है। 'पितृऋण' में पिता अपने परिवार से उखाड़ा जा रहा है, 'उखड़ता हुआ बरगद' में ग्रामीण सामुदायिक संवेदनाएं उखड़ रही हैं, 'शुरुआत से पहले' में कुम्हार अपनी कला से उखड़ रहा है। 'पितृऋण' एक मार्मिक कहानी है। मध्यवर्गीय आधुनिकता के लिबास में जकड़ा पुत्र रेलगाड़ी में ठंड से ठिठुरते अपने पिता को लाल इमली का कम्बल सिर्फ इसलिए नहीं उढ़ाता कि वह खराब हो जायेगा। बाद में वह पछताता है कि काश! ओढ़ा दिया होता तो टी.टी. से बेकार की माथापच्ची करने से बच जाता। उसे अपने पिता को पिता कहने में शर्म आती है, उसी पिता को जो उसे खिलाने के लिए कभी खुद भूखा रहा था "उस दिन भी पिताजी रोटीघर की दीवार से पीठ टिका कर ऐसे

ही बैठे थे। खाद की गाड़ी ढोकर लौटे थे तथा खाने की थाली की प्रतीक्षा कर रहे थे कि देवास से परीक्षा की फीस के पैसों के लिए मैं पहुंच गया था। जहां तक मुझे याद है कि उस दिन घर में अंतिम रोटियां थीं। (यह बाद में पता चला था) और पिताजी भी चतुर मां की सांकेतिक भाषा को समझ गये थे कि यदि वे खायेंगे तो मुझे रोटी नहीं खिलायी जा सकेगी। मैंने थाली के सामने बैठते हुए मां से कहा था कि पिता जी को भी खाना परोस दे तो पिता जी बीच में ही बोले थे कि उन्हें बिल्कुल भूख नहीं है... सुबह की बासी रोटियों की 'सिरावणी' ही आज इतनी डट के हो गयी थी कि अभी तक डकारें आ रही हैं और फिर आजकल गर्मी भी तो इतनी पड़ती है कि दो रोटियां खाओ तो दस लोटे पानी पीना पड़ता है... और उन्होंने पेट भरा दिखाने के लिए एक ऐसी डकार ली थी, जो साफ साफ मालूम पड़ रही थी कि वह खाली पेट से जबरन ली गयी डकार है फिर मां ने उन्हें कुछ छाछ और गुड़ दे दिया था, जिसे गटागट पीकर, वे काका के यहां मां के गहने 'गिरवी' रखने के लिए उठ कर चल दिये थे।'

यह उद्धरण बड़ा मार्मिक है पुत्र के 'मध्यवर्गीय' और 'कस्बाई' स्वार्थ के बरक्स पिता के 'देहाती' और 'फक्कड़' समर्पण की करुण दास्तान सुनाता हुआ। इसी पिता को पुत्र भिखारियों की भीड़ के बीच बेसहारा छोड़ कर चला आता है, आश्वस्त होता हुआ कि उनके पास अब एक नया पैसा भी नहीं है। उन्होंने खुद आगे रह कर ही तो मुझे सब के सब ही तो सौंप दिये थे।

'किरिच' में सांद्र और घनीभूत प्रेम कहानी आकार लेती है। उगता और परवान चढ़ता प्रेम टीस में बदलता जाता है। कैसे और क्यों? इस सवाल के उत्तर को महज एक दिन के चंद्र घंटों के भ्रमण की कथावस्तु के भीतर जिस तरह समेटा गया है, वह एक सिद्धहस्त कलाकार का ही बूता है। 'मोड़' कहानी का युवा वाचक खूबसूरत लड़की के पिता की शवयात्रा में शामिल होता है इस तरह कि वह स्त्रियों को लेकर युवा मन में खड़ी कर दी गयी सामाजिक वर्जनाओं और वंचनाओं की दीवारों से टकराता जाता है। 'एक चुप्पी क्रॉस पर चढ़ी' में एक किशोरी के नाजुक दिलोदिमाग पर पितृसत्ता की क्रूर तानाशाही के संवेगों को छपते हुए और इन संवेगों की प्रतिक्रिया को मर्मांतक चुप्पी में घुटते हुए देखा जा सकता है।

निःसंदेह पितृव्रण की कहानियों में 'विचारधारा' का वह उग्र ताप और तेवर सिरे से नदारद है, जो उस दौर में प्रभु जोशी के अन्य समकालीन कहानीकारों के यहां बहुतायत में मिलता है। लेकिन प्रभु जोशी की ये कहानियां आज भी टिकती हैं, क्योंकि ये बिना किसी विचारधारात्मक लपफाजी के हमारे समय में परिवार और संस्कृति के भीतर विभेदों को संचालित करने वाली सत्ता के एकतरफा वर्चस्व को चुनौती देने वाली कहानियां हैं।

पंकज मित्र के संग्रह **जिद्दी रेडियो** की कहानियां, उनकी पहले की कहानियों की तरह ही, भूमंडलीकरण के बाद तेजी से बदलते देशज परिवेश और अनुभवों की कहानियां हैं। इसलिए उनकी कहानियों का भाषाई मुहावरा स्थानीयता और आंचलिकता से लबरेज है। आर्थिक उदारीकरण के बाद का सामाजिक परिवेश जितना जटिल होता जा रहा है, व्यक्तियों के बीच की दूरियां उतनी ही बढ़ती जा रही हैं। व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओं का स्वरूप पूरी तरह बदलता जा रहा है। अकेलापन, भय, संत्रास, मतली इत्यादि अस्तित्ववादी मुहावरों में कहानी लिखना आज पहले की अपेक्षा अधिक सुविधाजनक है। मगर एक कहानीकार के रूप में पंकज मित्र उस पीढ़ी के प्रतिनिधि लेखकों में से हैं, जिसने यथार्थ के वृहत्तरविस्तार का साक्षात्कार करते हुए, असुविधाजनक राहों पर चलना स्वीकार किया है। पंकज तमाम सामाजिक बदलावों और बहुरेखीय अनुभवों को दर्ज करते हुए हमारे समय के

प्रतिरोधी मुहावरे के शिल्प को गढ़ने का प्रयास करते हैं। इसलिए उनकी कहानियां बेलगाम पूंजी की अंधी गति के प्रहार से ढहते समाज में टूटते हुए व्यक्ति के रोष और आक्रोश को बड़े 'कामिक' लहजे में अभिव्यक्त करती हैं। जब बिलौती महतो का बेटा बिरजू सड़क दुर्घटना में मर जाता है, तो 'बिरजू' कह कर चीखने के बजाए वह 'हदरू' कह कर चिल्लाता है। यह एक 'कामिक' स्थिति है। लेकिन इस 'कामिक' में हमारे समय का समूचा 'ट्रैजिक' मानो समा गया है। 'हदरू' यानि 'हरदम रुपया' यानि 'ए.टी.एम.'। अपने एकमात्र जवान बेटे को खोने की त्रासदी में बिलौती महतो 'हरदम रुपया' यानि 'हदरू' में लघुकृत (रिड्यूस) होती सभ्यता की मारक त्रासदी को पूरी उत्कटता में भोगता है और टूट जाता है "बिलौती डबर डबर देख रहे थे। पर गांववालों की राय उनके मेंड (माइंड) गड़बड़ा जाने के बारे में भी हर मुद्दे की तरह भिन्न भिन्न है। आम राय तो यही है कि जवान बेटे की मौत का सदमा सह पाना आसान नहीं होता है। लेकिन कुछ लोगों का कहना है कि बिरजू की मौत का सदमा ज्यादा गहरा होता तो बिरजू बिरजू की पुकार लगाते बिलौती महतो लेकिन जब भी लोगों ने सुनी 'हदरू' की ही पुकार सुनी। तो इसका मतलब तो यही हुआ न या तो हदरू के धोखे का सदमा या उधार की फिकिर जैसी किसी चीज का असर अशिद्दत से हो गया हो या पता नहीं।" 'हदरू' में व्यंजित होती यह त्रासदी हमारी त्रासदी भी है, जबकी हम बिलौती महतो नहीं हैं, होना भी नहीं चाहते क्योंकि हम 'कामिकल' नहीं बनना चाहते। लेकिन कहानी वहीं घटित होती है, जहां जो हम नहीं होना चाहते, उसी के सुख दुख हमारे सुख दुख बन जायें। निःसंदेह बिलौती महतो हिन्दी कथा साहित्य का एक यादगार चरित्र है। बिजुरी महतो की अजब दास्तान नौकरशाही, राजनीति और कार्पोरेट के धांधलेबाज गठजोड़ की पोल खोलती है। इस गठजोड़ के निहित स्वार्थों की वेदी पर व्यापक सामाजिक हितों की बलि खुल्लमखुल्ला चढ़ायी जाती है। आम प्रतिभाशाली व्यक्ति, जिसका कोई रसूखदार आका नहीं है, व्यवस्था में घिस कर रह जाता है। कौलेश्वर की त्रासदी कोई एकांतिक त्रासदी नहीं है। बिलौती महतो का 'मेंड (माइंड) गड़बड़ा जाना' और कौलेश्वर का मानसिक रूप से विकसित हो जाना, एक ही त्रासदीरूपी सिक्के के अलग अलग पहलू हैं।

'प्रो. अनिकेत का निकेतन' एक अदद घर या मकान के सपने को हकीकत में (बैंक से कर्ज लेकर) किसी तरह हथियाने और फिर इस हकीकत के चूर चूर होने की कहानी है। मजबूर और लाचार प्रो. अनिकेत के मकान की सुरक्षा के लिए जो हथकंडे आजमाये जाते हैं, वो भगवाकरण की लम्पट राजनीति, तथाकथित बौद्धिकों के मानसिक दिवालिएपन, नयी किस्म की धांधलेगर्दी के पूरे समाजशास्त्र को उघाड़ कर रख देते हैं।

भूमंडलीकरण के आगमन के साथ भारतीय मानस को बेइमानी के एक नये पाठ में दीक्षित करने की साजिशें बड़े पैमाने पर जारी हैं। 'जिद्दी रेडियो' कहानी इस साजिश का प्रत्याख्यान करती है। स्वप्नमय बाबू बेइमानी का यह नया पाठ पढ़ने से इनकार करते हैं और स्वयं अपने परिवार की हिकारत का पात्र बनते हैं। उनकी पत्नी और बेटा चाहते हैं कि वे बेइमानी की पाठशाला के सिद्धांतों को स्वीकार कर लें, मगर स्वप्नमय बाबू हैं कि अपना अलग ही राग अलापते जाते हैं, किसी जिद्दी रेडियो की सुरिली धुन की तरह। इस व्यवस्था में 'स्वप्नमय' (नाम की भी एक सांस्कृतिक सत्ता होती है) होना एक बेकार और फालतू किस्म के 'जिद्दी' होने का पर्याय है कहानी इस विराट सच का साक्षात्कार कराती है।

जिद्दी रेडियो की कहानियां हमारे समाज, मूल्यों, मान्यताओं और आकांक्षाओं में आये शांति किस्म के बदलावों और सम्बंधों के ठंडेपन को अभिव्यक्त करने वाली कहानियां हैं। ये बरसों से हाशिये पर ढकेली गयी स्थानीयताओं और आंचलिकता के देशज अनुभवों से निःसृत होने वाली कहानियां हैं।

राजीव कुमार के संग्रह **तेजाब** में भी यह हाशिया बहुत मुखर है। इस संग्रह में राजीव समकालीन भारतीय परिवेश में आये बड़े राजनीतिक परिवर्तनों, सामाजिक बदलावों और पारम्परिक मूल्यों के विघटन के बरक्स मानवीय सम्बंधों की परस्पर अंतर्क्रियाओं और मानवीय अनुभवों की बदलती भावभूमियों से टकराते हुए उनका संवेदनशील चित्रण करते हैं।

‘करीना कपूर का फोटो’, ‘एलबम’, ‘तेजाब’, ‘कॉकरोच’, ‘बिसात’ जैसी कहानियां मानो आज के युवा के भीतर घुमड़ रहे तूफान की गहराइयों को मापने का प्रयास कर रही हों। ‘तेजाब’ और ‘बिसात’ प्रेम कहानियां हैं। मगर इन्हें फकत प्रेम कहानियां नहीं कहा जा सकता। प्रेमकथा के शिल्प में ये कहानियां सामाजिक पतन की व्यापकता और गहराई का साक्षात्कार कराती हैं।

‘तेजाब’ कहानी में एक नारा है ‘राजा नहीं रार है। छिपा हुआ सियार है’। यह एक नारा उस समूचे दौर को कहानी में जीवंत कर देता है, जिसमें आरक्षण विरोध और समर्थन की राजनीति अपने पूरे शबाब पर थी। जब कोई मुद्दा राजनीतिक आवेगों के बेलगाम उभार में अभिव्यक्त होता है, चाहे वह उसके पक्ष में हो या विपक्ष में, मानवीय करुणा को बहुत बड़ी कीमत चुकानी पड़ती है। यह कहानी इसका गवाह बनती है। वैसे भी भारतीय समाज सदियों से जिन जातिगत समीकरणों के अधीन चलता आया है, वे हर कदम पर मानवीय संवेदनाओं को रौंद कर विजयी होते आये हैं। राजीव की यह कहानी इसी सचाई को उस दौर के समूचे परिदृश्य में उद्घाटित करती है, जिसमें जातिगत समीकरणों का अब तक के भारतीय इतिहास में सबसे बड़ा उलटफेर हुआ था। लेकिन यह उलटफेर कितना सतही था, तेजाब हमें बार बार यह याद दिलाती है। कहानी की नायिका उच्चवर्ण की है और नायक आशुतोष (कथावाचक) निम्न जाति का। वे बचपन के सहपाठी हैं और जवान होने पर प्रेमी प्रेमिका। जातीय अंतर्विरोध की राजनीतिक चेतना ज्यों ज्यों गहराती जाती है, उनके बीच का प्यार परवान चढ़ता जाता है। इधर हाल के वर्षों में पश्चिमी उत्तर प्रदेश और हरियाणा की खाप पंचायतों ने प्रेमी जोड़ों (खास तौर से अपनी जात से बाहर प्रेम करने वालों) पर जो अमानवीय जुल्म करते हुए उन्हें मौत के घाट उतार दिया था, वह अखबारों की सुर्खियों में था। ‘तेजाब’ कहानी यह उद्घाटित करती है कि इन जुल्मों के लिए खाप पंचायतें अनिवार्य नहीं होतीं। अनिवार्य होती है वह सोच जो हमारे समाज के चारों तरफ बिखरी हुई है, खाप पंचायतें तो इस सोच की संगठित अभिव्यक्ति हैं। यह जातीय विद्वेष और नफरत की सोच है। इस सोच के तहत सबसे बड़ा कुफ्र है अपनी जाति से बाहर जाकर प्रेम करना। अगर यह प्रेम दलित पुरुष और सवर्ण स्त्री या सवर्ण पुरुष और दलित स्त्री के बीच हो, तो यह सोच ‘धर्मयुद्ध’, ‘क्रूसेड’ या ‘जेहाद’ की आक्रामकता में तब्दील हो जाती है। यही आक्रामकता सलोनी और आशुतोष पर जानलेवा हमला करती है, जिसमें संयोग से आशुतोष बच जाता है, लेकिन सलोनी ‘शहीद’ हो जाती है।

कहानी में ‘तेजाब’ शब्द की अनेक व्यंजनाएं हैं। तेजाब अलग अलग संदर्भों में अलग अलग अर्थों का उद्घाटन करता है। यह एक तरफ स्त्रियों के प्रति समाज की घटिया सोच को निरूपित करता है, तो दूसरी तरफ स्त्रियों के साहस की भी व्यंजना करता है, जो समाज की सड़ांध को गला डालने का सामर्थ्य रखती हैं। यह समाज की सड़ांध से उपजा तेजाब भी है, जो प्रेमी जोड़ों की जान लील लेता है। साथ ही यह प्रेम का तेजाब भी है, जिसमें प्रेमी गलते जाते हैं धीरे धीरे सुधबुध खोकर। ‘तेजाब’ इस संग्रह की सबसे प्रभावशाली कहानी है।

इस संग्रह की सबसे लम्बी कहानी है ‘बिसात’, सबसे महत्वाकांक्षी भी। महत्वाकांक्षी इसलिए कि लम्बी कहानियों का शिल्प बेसाख्ता कठोर और शुष्क होता है। यहां पाठक की रुचि को लगातार बनाये रखना, यानि पठनीयता बरकरार रखना बेहद कठिन होता है। सम्भवतः यह राजीव की पहली

लम्बी कहानी है। प्रशंसा की बात यह है कि राजीव यहां पाठक को निराश नहीं करते। 'बिसात' कहानी का विषय है एक प्रतिष्ठित शिक्षण संस्थान में छात्रसंघ की राजनीति। कहानी इस राजनीति को जिस शिल्प में पकड़ने की कोशिश करती है, उसमें लोककथा के देशज ढांचे की स्पष्ट छाप को महसूस किया जा सकता है। कहानी छात्र राजनीति में अरसे से कब्जा जमाये बैठे मुट्ठी भर मठाधीशों के हाथों गर्क होती युवा राजनीतिक क्षमता का प्रामाणिक चित्रण करती है। लम्बे समय से परिसर की राजनीति भानु प्रताप के इर्दगिर्द घूमती है। अतः भानुप्रताप परिसर की राजनीति का देवता है। यही देवता जब देशज चेतना के भीतर मिथक का रूप ले लेता है, तो लोककथा के ढांचे में 'देओता' बन जाता है। चंद्रमणि भानुप्रताप का प्रतिद्वंद्वी है, मगर उसके छल कपट में उतना सामर्थ्य नहीं है। भानुप्रताप के छल और कपट कहीं ज्यादा क्रूर और कुटिल हैं। तभी तो वह देवता है 'देओता'। आज के दौर में देवता बनने के लिए शातिरपन और घाघपन से युक्त आजमाइशों का नियंता होना अनिवार्य है। कहानी इस सच को शिद्दत से उद्घाटित करती है। हर्षवर्धन सिंह शहर का धनपशु है, जो सत्ता के गलियारों में स्थापित होना चाहता है। देओता और हर्षवर्धन मिल कर राजनीति की जो बिसात बिछाते हैं, वह न सिर्फ युवाशक्ति को सामाजिक भटकाव के दलदल में फंसा देती है, बल्कि सुरेन्द्र और चिरैया के प्रेम को भी निजी भटकावों का शिकार बना डालती है। कहानी के अंत में सुरेन्द्र इस बिसात का मोहरा बनने के बावजूद, भटकाव के दलदल में गर्क होने के बावजूद उबरता है और देओता को चुनौती देता है।

छात्रों को लुभाने के लिए फास्ट फूड के साथ रंगीले कार्यक्रमों का आयोजन, गुंडागर्दी का भरपूर इस्तेमाल, हर तरह के क्रूर हथकंडे का विवरण कहानी में आया है। राजीव ने एक कलाकार की संवेदनात्मक तत्परता के साथ छात्र राजनीति के हर बारीक रेशे को अपनी कलादृष्टि के सूक्ष्मदर्शी यंत्र द्वारा परखा है। वास्तव में यह विषय हिन्दी कहानी में अब तक अनछुआ रहा है, इस पर कहानियां अपवादस्वरूप ही लिखी गयी हैं।

'मृत्यु उत्सव' कहानी में मौत का जैसा जश्न मनाया जाता है, वह हमें सोचने पर मजबूर करता है कि मानो यह सामाजिक और नैतिक मानमूल्यों की मृत्यु का जश्न हो!

राजीव के इस संग्रह की कहानियों का सबसे महत्वपूर्ण पक्ष है पाठ के भीतर राजनीतिक अंतर्दृष्टियों का कहीं अधिक गहरे स्तर पर जाकर लगातार भीतर उतरते जाना। काफी अरसे से यह दुष्प्रचार किया जा रहा है कि युवा कहानीकारों के पास राजनीतिक चेतना का अभाव है। राजीव की ये कहानियां इस दुष्प्रचार का सकर्मक प्रत्याख्यान करती हैं।

पितृक्रण : प्रभु जोशी, **प्रकाशक :** राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, **मूल्य :** 300 रु.
जिद्दी रेडियो : पंकज मित्र, **प्रकाशक :** राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, **मूल्य :** 250 रु.
तेजाब : राजीव कुमार, **प्रकाशक :** भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, **मूल्य :** 160 रु.

नये क्षितिज की तलाश

श्रुति

वर्जोनिया वुल्फ ने लिखा था, 'कथा साहित्य मकड़ी के जाले की महीन पकड़ से ही सही, यथार्थ के चारों खूटों पर जुड़ा होता है' और यदि यह यथार्थ अनुभवजन्य प्रामाणिकता के साथ प्रस्तुत हो तो एक विशिष्ट रचना की निर्मिति होती है। **ममता कालिया** के नवीनतम कहानी संग्रह **थोड़ा सा प्रगतिशील** की कहानियां अपने पाठ के दौरान जीवन के इन्हीं मधुतिक्त अनुभवों से गुजरते हुए एक ऐसी लय उपस्थित करती हैं जो सहज ही प्रत्येक पाठक को नितांत अपनी, जानी पहचानी प्रतीत होती है। ये कहानियां सामाजिक चेतना, मानवीय संवेदना और मनुष्य की जटिल प्रवृत्तियों का सजीव दस्तावेज हैं जो अपने समय से मुठभेड़ करती हुई कहानी के परम्परागत ढांचे और यथार्थ को रचने महसूसने की जड़ता को तोड़ती हैं। अस्सी के दशक से गलदश्रु भावुकता जिस तरह यथार्थ के बहाने कथा साहित्य में अंतर्विष्ट होती जा रही थी, ममता निस्संग तटस्थता से कहानियां रचते हुए उससे परहेज करती हैं। यद्यपि उनकी आरम्भिक कहानियों पर अनुभव की संकीर्णता की छाप है, लेकिन जैसे जैसे ममता की वैचारिकी और गम्भीर होती गयी, उनकी संवेदना अधिक गहरी, और सघन होती गयी। वे ऐसी रचनाकार हैं जो जीवन और रचना निर्मिति के मार्ग पर अपने ही ढर्रे से चलती हैं और अपने जीवन अनुभवों को कहानियों में उतारते हुए निथरे हुए एहसासों और विश्वासों को तरजीह देती हैं। इस संकलन में कुल चौदह कहानियां हैं जिनमें वे वाह्य और आंतरिक विसंगतियों, अंतर्विरोधों, कटुताओं, पारिवारिक विघटन, मूल्य संक्रमण, स्त्री पुरुष सम्बंधों के साथ, संवेदना की कसौटी पर समय और समाज की पड़ताल करती और नये मानवीय क्षितिज तलाशती नजर आती हैं। ये समाज की अंतर्धारा को पकड़ती पेचीदगियों की कहानियां हैं जो मनुष्य के अंतर्मन में चल रही उथलपुथल को भी दर्शाती हैं। बदलता समय, घटते जीवन मूल्य कैसे जोंक की तरह मनुष्य की आंतरिक संवेदना का रक्तपान कर उसे शुष्क बना रहे हैं इसे ममता की कहानियों में बड़ी शिद्दत से महसूस किया

जा सकता है। संकलन के आरम्भ में ही 'मैं क्यों लिखती हूँ' शीर्षक के तहत ममता स्पष्ट करती हैं
"मेरी कहानियों के पीछे वे समस्त विसंगतियाँ हैं, जिनकी मूकदर्शक बन कर बैठना मुझे गवारा न हुआ।
समय के सवालियों से जूझने की चुनौती और उत्कंठा तथा जीवन के प्रति नित नूतन विस्मय ने ही
रचनाओं का लिखना सम्भव किया है।" जिसकी झलक संकलन की अनेक कहानियों में प्रत्यक्ष है।

संकलन की आधार रचना है 'थोड़ा सा प्रगतिशील', इस कहानी में मुख्य रूप से परम्परा और
आधुनिकता का द्वंद्व है। यह कहानी आज के दौर के एक ऐसे युवक विनीत की है जो समय की दौड़
के साथ आधुनिक होना दिखना चाहता है किन्तु पितृसत्तात्मक मकड़जालों ने उसकी सोच को जकड़
रखा है। 'दरअसल विनीत आजाद भारत के अधिसंख्य शिक्षित नवयुवकों जैसा ही था, थोड़ा थोड़ा
सब कुछ थोड़ा सा आधुनिक, थोड़ा सा पारम्परिक, थोड़ा सा प्रतिभावान, थोड़ा सा कुंद, थोड़ा
चैतन्य, थोड़ा जड़, थोड़ा सा प्रगतिशील, थोड़ा सा पतनशील।' वह अपनी सहपाठी चेतना से प्रेम करने
के पश्चात विवाह करने में सफल हो जाता है। पति की भूमिका में आते ही आधुनिकता की कारा
में बंद उसका पितृसत्तात्मक पुरुष मुक्त हो बाहर आ जाता है क्योंकि 'सभी की तरह उसके सपनों
की स्त्री वही हो सकती थी जो शिक्षित हो पर दब कर रहे, आधुनिक हो लेकिन आज्ञाकारी, समझदार
हो लेकिन अलग सोच विचारवाली न हो।' चेतना अब उसके लिए मात्र प्रेयसी नहीं है, पत्नी नहीं
है, वरन ऐसी स्त्री है जिसे सदियों से समाज ने दोगम स्तर का माना है और निर्णय लेने के, बराबरी
के तमाम अधिकारों से वंचित रखा है। यहां तक कि उस पर सोचने और बोलने की भी पाबंदी है।

गौरतलब है कि उत्तरआधुनिकता और उत्तरसंरचनावाद के दौर में स्त्री के अनुभवों, अनुभूतियों
को केन्द्रित कर हुए विमर्शों में भाषा को ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण औजार माना गया था। यहां यह भी
महत्वपूर्ण है कि लोकगीतों और लोककथाओं में तमाम ऐसे साक्ष्य उपस्थित हैं जो समय और समाज
की हलचलों से आंदोलित उन स्त्रीमन का प्रतिबिम्ब उपस्थित करते हैं जिन्हें समाज में सोचने और
बोलने की आजादी नहीं थी। वस्तुतः स्त्री के लिए बोलना महज बोलने की एक प्रक्रिया नहीं है, वरन
'बोलना' उस हथौड़े की तरह है, जो पुरुषवादी सोच से निर्मित उस कारावास के मुख्य द्वार पर लगे
रुद्धियों के ताले को तोड़ने को लिए प्रयुक्त होता है, जिसमें स्त्री कैद है। यह कहानी ममता कालिया
की एक पूर्व कहानी 'बोलने वाली औरत' का आधुनिक विस्तार प्रतीत होती है। 'बोलने वाली औरत'
में शिखा मुंह पर लगी चोट के कारण बोलने में असमर्थ है किन्तु वह इतना बोलना चाहती है कि
उसके शब्द चारों ओर प्रतिध्वनित हो गुंजें, वहीं 'थोड़ा सा प्रगतिशील' की चेतना अपनी आजादी पर
लगे प्रतिबंध के बावजूद अपनी स्वतंत्रता के प्रति सजग है। वह विनीत के मना करने पर भी दोपहर
में विनीत के बिना बाजार घूम आती है। बाजार घूमना उसके लिए मात्र बाजार जाकर कुछ क्रय विक्रय
करना नहीं है वरन यह वह खिड़की है जिससे छलांग लगा कर वह स्त्रियों के लिए प्रतिबंधित पुरुष
क्षेत्र में संध लगती है।

'एक तरफ सिलो तो दूसरी ओर फट जाती है/ऐसी है यह जिन्दगी' की तर्ज पर इस संकलन
की अनेक कहानियां स्त्रियों के जीवन अनुभव और उनके दंश को बड़ी शिद्दत से महसूस कराती
हैं। वस्तुतः देखा जाये तो समय और समाज की हलचलों की अनुगूंजें सबसे पहले और सबसे ज्यादा
स्त्रीमन से आती हैं। यद्यपि उनमें से कुछ अनुगूंजें तो समाज द्वारा सुनी जाती हैं और कुछ समाज
के सुनने की क्षमता से परे निकल जाती हैं और वहां स्त्री की मौन सहमति मान ली जाती है। ममता
अपनी कहानियों के माध्यम से समाज की उस श्रवण शक्ति को जागृत करना चाहती हैं जिससे वह
स्त्रियों के मौन में छिपे असहमति के स्वर को सुन सके। उल्लेखनीय है कि स्त्रीविमर्श की चौहद्दी
में स्वयं को न रखे जाने की जिद करने वाली ममता की अधिसंख्य कहानियां स्त्रीत्व के विशिष्ट

प्लेटफार्म पर खड़ी उन स्त्रियों की हैं जो उम्र, जाति, वर्ग के बंधनों से परे पूरी जीवंतता और समग्रता से कहानियों में स्त्री अनुभूतियों को प्रकट कर रही हैं।

संकलन की पहली कहानी 'जी' के केन्द्र में भी एक मां और उसकी चार वर्ष की बेटी पुतुल है। आज के उपभोक्तावादी समय में रिश्ते भी बाजार के अनुसार तय होते हैं। पुतुल के माता पिता आशुतोष और मिलन गायक हैं जो रेस्तरां और होटलों में 'लाइव शो' करते हैं। एकल परिवार की विडम्बना है कि पुतुल की देखभाल के लिए घर पर कोई नहीं है इसलिए वह 'लाइव शो' के दौरान रेस्तरां में ही रहती है। पर रेस्तरां मालिक को मिलन की 'आर्टिस्ट इमेज' चाहिए न कि 'पेरेन्ट इमेज', अतः मिलन सबके सामने पुतुल को बेटी के रूप में स्वीकार नहीं कर सकती। इसकी प्रतिक्रिया बेटी द्वारा मां के गाने से विरक्ति में होती है "दोनों कानों में पुतुल ने टिशू पेपर गुड़ीमुड़ी करके घुसा रखा था। पुतुल की नींद में खलल पड़ा। उसने मां की तरफ एक बार आंख खोल कर देखा और नींद ही नींद में बोली 'ममा और गाना, गाना नहीं'।" बालमनोविश्लेषक यह बताते हैं कि बालमन की स्मृतियां कहीं न कहीं उसके स्वयं के व्यक्तित्व निर्माण में सहायक होती हैं जिस पर सम्बंधों की रागात्मकता टिकी होती है। यह एक सघन और मार्मिक कहानी है जो एक पौधे को लगाने के पश्चात उचित देखभाल के अभाव में मुरझाते हुए देखने जैसी विवशता, उदासी और टीस को जन्म देती है। यह मां और बच्ची दोनों के अंतर्द्वंद्व को उभारती है और यही इस कहानी की ताकत है।

कुछ ऐसा ही अनुभव संकलन की दूसरी कहानी 'कामयाब' के पाठ के दौरान भी होता है जब अंत में कहानी की स्त्री पात्र इस सवाल से जूझती है कि 'कामयाबी क्या है?' यहां यह ध्यान देना महत्वपूर्ण है कि ममता की अधिसंख्य कहानियों का स्त्री पात्र 'मैं' की भूमिका में है गोया कहानी स्वयं ममता के इर्दगिर्द ही घट रही हो और घटती भी है। इसे ममता ने अनेक स्थानों पर स्वीकार भी किया है चाहे अपने कहानी संकलनों की भूमिकाओं में या साक्षात्कारों में। कामयाबी कहानी आज के आपाधापी भरे भौतिकतावादी समय में भटकते हुए हाफिज इलाहाबादी की है जिसे न कामयाबी मिलती है न सुकून। राजनीति की दलदल में धंसते हुए हाफिज मियां एम.पी. तो बन जाते हैं लेकिन उनकी दोनों बेटियां घर छोड़ कर चली जाती हैं, पत्नी बीमार पड़ जाती है। बेटियों के घर छोड़ कर जाने की बात वे किसी को बता भी नहीं सकते क्योंकि 'इज्जत का तकाजा' है। इस कहानी में समकालीन राजनीति के विकृत रूप और उससे उत्पन्न शहरी जीवन की त्रासदियों को धीरे धीरे खोलते हुए ममता उस परिदृश्य को उपस्थित कर देती हैं जिसमें हाफिज साहब का परिवार घुट रहा है, टूट रहा है, रिश्ते और संवेदनाएं छीज रही हैं।

'वह लड़का जिसे गर्मी लगती थी' इस संकलन की एक अन्य महत्वपूर्ण कहानी है। यह कहानी यथार्थ के बिल्कुल नये ढंढों को रूपायित करती है। कहानी का मुख्य पात्र है योगी, जो इलाहाबाद शहर के एक मोहल्ले शाहगंज में रहता है। शाहगंज में शहर का जीवन बसता है और निमतल्ला क्लब में शाहगंज की आत्मा। सिविल लाइंस शाहगंजवासियों के लिए एक दुर्लभ दिवास्वप्न की तरह है। यह शाहगंज के एक युवा योगी की सिविल लाइंस तक पहुंचने की कहानी है जिसे ममता ने गर्मी, ए.सी. और वॉटरकूलर के प्रतीकों से स्थानीयता और वैश्विकता के ढंढ से उभर रही नयी सामाजिकता के भौतिक तंत्र के प्रति आकर्षण और उसकी गिरफ्त में फंसी युवा पीढ़ी की कहानी बना दिया है। योगी उन युवाओं का प्रतिनिधित्व कर रहा है जो सार्थक जिन्दगी की तलाश में तेज रफ्तार समय के साथ दौड़ते हुए अकेले पड़ जाते हैं। आत्मा द कौंस ने सबसे पहले जिस प्रौद्योगिकीय प्रगति को सांस्कृतिक प्रगति के साथ जोड़ कर देखने की वकालत की थी, यह कहानी संवेदना के अनेक पतों को उघाड़ती हुई उसी सामाजिक सांस्कृतिक (तथाकथित) प्रगति की विवेचना प्रस्तुत करती है।

संकलन की कहानी 'बाजार' में बाजार एक त्रिभुज के केन्द्र में है जिसके एक कोण पर बाजार के प्रति समर्पित पीढ़ी है, दूसरे कोण पर बाजार से आकृष्ट और उसके समरूप बनने की चाह वाली पीढ़ी और तीसरे कोण पर अपनी सांस्कृतिक अस्मिता को बचाये रखने की जद्दोजहद में अपनी स्मृतियों, अपने अतीत और बाजार से नित जूझती पीढ़ी, इस तरह ममता इस कहानी में परम्परा और बाजारवाद का रूपक रचती हैं। आरम्भ में बाजार परिवेश निर्माण की प्रक्रिया के एक सूक्ष्म अंग के रूप में उपस्थित होता है लेकिन कहानी की रवानगी के साथ साथ उसकी सर्वव्यापी, सर्वग्रासी प्रवृत्ति का दायरा बढ़ता चला जाता है। बाजार की आंधी में, जीवन में धूमिल होती जा रही मानवीय संवेदनाओं की तलाश इस कहानी के मूल में है। यह कहानी बरबस ही ममता की उपन्यासिका 'दौड़' की याद दिला देती है। 'भैं' का बेटा टिल्लू, दौड़ के पवन, सघन की तरह उस युवा पीढ़ी का प्रतिनिधि है जो बाजारवाद के आकर्षण में मोहग्रस्त होकर उपभोक्तावादी दलदल में फंसती जा रही है और पीछे छूट रही है। उदास आंखों से रस्ता तकते माता पिता हैं जो जानते हैं 'बाजार में मिलते नहीं घोंसले, वहां सिर्फ पिंजड़े मिलते हैं'।

यह संकलन विविध विषयों पर केन्द्रित कहानियों का कोलाज है। 'संस्कृति' कहानी साहित्य संस्कृति भवन में घट रही घटनाओं के बहाने अनेक सरकारी और गैरसरकारी संस्थाओं की पोल खोलती है जिनके आदर्शों की नींव में दीमक लग चुकी है।

ममता की कहानियां खुरदुरे, कठोर, कसैली मरुभूमि के बीच जीवन की सरस धारा का आनंद प्रदान करती हैं। वह अत्यंत सादगी से धर्म और अंधविश्वास के नाम पर चल रहे छद्म पाखंडों, गोरखधंधों और विडम्बनाओं को बेनकाब करती हुई जीवन के मधुरतम पक्षों को भी सामने रखती हैं। 'खुशियों का लौटना' नानी (भाभी), नातिन (बिबिया) और नौकर (शम्भु) के अंधविश्वासों के बलि चढ़ने की कहानी है, जब मन्नत पूरी करने के उद्देश्य से उनको लिए बदरीनाथ जा रही बस असंतुलित हो अलकनंदा की उफनती धारा में गिर पड़ती है। बाबाओं की झूठी दिलासा के कारण बिबिया का पिता मुकुल उसके वापस मिल जाने की आशा बांधे दर दर भटकता फिरता है। पर एक दिन झूठ की कलाई खुल ही जाती है जब बाबा एक दूसरी लड़की को बिबिया बताते हुए उसके एवज में दस लाख की मांग करता है। ममता जीवन से लबालब भरी आशावादी लेखिका हैं इसलिए कहानी का अंत मुकुल की पत्नी स्मिता के इस कथन से होता है 'मैं फिर से मां बनने वाली हूँ।'

'चाभी' और 'पटकनी' जैसी कहानियां स्त्री मन के भीतर चल रही उठापटक और घुटन को बड़ी बारीकी से अभिव्यक्त करती हैं। 'फरवरी की एक शाम' कहानी आभिजात्य कहे जाने वाले लोगों की जिन्दगी के खालीपन और उनके दोहरे व्यक्तित्व के लिजलिजेपन को अनावृत करती है।

'प्रेम' ममता के जीवन का स्थाई रंग है जिसकी छाप अमित है। 'मुहब्बत का मौसम', 'प्रेम', 'परली पार' जैसी कहानियां प्रेम के वैविध्यपूर्ण अनुभव संसार से हमारा परिचय कराती हैं। एक समय था जब कहानी को जीवन की व्याख्या माना जाता था, आज कहानी स्वयं जीवन है। अपने ही जीवनप्रसंगों को कहानी बना देने की कला सहज नहीं क्योंकि कहानी रचते हुए उसमें स्वयं को सीमाओं से मुक्त करना होता है। ममता ने किया और इसमें उनकी ताकत बनी जीवंतता से भरपूर सहज भाषा। शहरों की शृंखलावार यात्रा करते हुए हम उनके विलक्षण गद्य से परिचित हो ही चुके हैं वैसा ही कुछ आस्वाद इस संकलन की कहानियों के पाठ से मिलता है।

थोड़ा सा प्रगतिशील : ममता कालिया, **प्रकाशक :** लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, उ.प्र., **मूल्य :** 250 रु.

सामाजिक राजनैतिक इतिहास का जीवंत दस्तावेज

दिनेश कुमार

आत्मकथा सिर्फ आत्म की कहानी नहीं होती है बल्कि आत्म के नजरिये से अपने समय और समाज की कहानी होती है। इसलिए किसी आत्मकथा की महत्ता इस बात पर निर्भर करती है कि उसके लेखक का समाज और जीवनानुभव कितना सीमित या विस्तृत है। दूसरी बात यह है कि लेखक अपने भोगे गये जीवन की तमाम घटनाओं को ईमानदारी से अभिव्यक्त करता है या विमर्शों अथवा विचारधारा के प्रभाव में 'राजनीतिक रूप से सही' होने के लिए कुछ प्रसंगों को छिपा लेता है। तात्पर्य यह कि अगर कोई लेखक आत्मकथा में अपनी विचारधारा के अनुकूल जीवन प्रसंगों को ही सामने लाता है तो उसकी आत्मकथा उस विचारधारा को मानने वालों के लिए चाहे जितनी मूल्यवान हो, वृहत्तर समाज के लिए उसका महत्व सीमित ही रहेगा। समाजशास्त्र, इतिहास, राजनीतिशास्त्र और सामाजिक मनोविज्ञान के लिहाज से भी ऐसी आत्मकथा का महत्व संदिग्ध होता है क्योंकि यहां भारतीय समाज की जटिलता को नजरंदाज करते हुए आसान व सतही द्विविभाजन (सवर्ण दलित, स्त्री पुरुष, बहुसंख्यक अल्पसंख्यक, अमीर गरीब आदि) पर बल दिया जाता है। इस सरलीकरण का एक बड़ा कारण यह होता है कि लेखक उपलब्ध ज्ञान (स्त्री विमर्श, दलित विमर्श, मार्क्सवाद आदि) के आधार पर जीवन को देखता है जबकि सचाई है कि जीवन किसी भी उपलब्ध ज्ञान की परिधि से हमेशा बाहर निकल जाता है।

यह बहुत सुखद है कि 'मुर्दहिया' के बाद अपनी आत्मकथा के दूसरे खंड **मणिकर्णिका** में भी **तुलसीराम** ने उन सभी कसौटियों का सफलतापूर्वक निर्वहन किया है जो किसी आत्मकथा को महत्वपूर्ण एवं उत्कृष्ट बनाती हैं। 'मणिकर्णिका' में 'मुर्दहिया' के आगे का जीवन अर्थात् बीएचयू बनारस में बिताये लगभग दस वर्षों का लेखाजोखा है। इस कालखंड का जीवनानुभव इतना व्यापक है कि इसमें देश, समाज, राजनीति, अंतरराष्ट्रीय घटनाएं, मार्क्सवाद, नक्सलवाद आदि सब कुछ समाहित है। यहां एक व्यक्ति का जीवन संघर्ष देश और समाज के संघर्ष से एकाकार हो गया है। हम कह सकते हैं कि 'मणिकर्णिका' सिर्फ

एक दलित की आत्मकथा न होकर समाज के आखिरी पायदान पर खड़े एक संघर्षशील युवक की संघर्ष गाथा है जिसे हाशिये के अन्य लाखों करोड़ों लोगों की तुलना में दलित होने के कारण एक और अतिरिक्त मोर्चे पर लड़ना पड़ रहा है। 'मणिकर्णिका' 1966 से 1975 तक के भारत के सामाजिक राजनीतिक इतिहास का जीवंत दस्तावेज है जिसे समाज और अर्थव्यवस्था के सबसे निचले पायदान पर खड़े व्यक्ति ने तैयार किया है। यहां तमाम राजनीतिक और सामाजिक संरचनाओं को 'नीचे से देखने' की कोशिश की गयी है।

तुलसीराम ने बनारस में मुख्य रूप से दो समस्याओं का जिक्र किया है। एक भुखमरी की और दूसरी दलित होने के कारण किराये का कमरा न मिलना अर्थात् भयानक जातिगत भेदभाव की। एक समस्या का कारण आर्थिक है तो दूसरी समस्या का कारण हिन्दू धर्म की वर्णाश्रम व्यवस्था। पहली समस्या देश के गरीबों की समस्या है। दूसरी समस्या सिर्फ दलितों की है। यहां तुलसीराम दलित मुक्ति के प्रश्न को एकांगी तौर पर देखने वालों को सचेत करते हैं। दलित मुक्ति के लिए आर्थिक गैर बराबरी और जातिवाद दोनों के विरुद्ध संघर्ष अनिवार्य है। ध्यातव्य है कि कम्युनिस्ट पार्टियों ने कभी जातिवाद विरोधी आंदोलन नहीं चलाया तो आम्बेदकरवादियों ने आर्थिक गैरबराबरी के प्रश्न को बहुत तरजीह नहीं दिया। लेखक ने बताया है कि भुखमरी वाली समस्या सबसे विकराल थी। वे लिखते हैं "अकेले रहना मुझे इसलिए पसंद आया कि मैं अपनी समस्याओं से स्वयं जूझना चाहता था। अब मैं नहीं चाहता था कि मेरे कारण कोई और परेशानी में रहे। परिणामस्वरूप भूखे रहने की रफ्तार काफी तेज हो गयी। इस समस्या के निदान के लिए मैं सिर्फ शाम के समय खाना बनाता और दिन का खाना गोल कर जाता था। इस तरह पंद्रह दिन के खर्च से महीना भर का काम चलने लगा। इसके बावजूद मई 1968 के वे दिन मुझे कभी नहीं भूलेंगे जब मैं लगातार नौ दिनों तक भूखा रहा।" इस तथ्य के बावजूद इसे विडम्बना ही कहा जायेगा, जब कोई दलित बुद्धिजीवी यह कहता है कि दलितों की समस्या भूख की नहीं सामाजिक अपमान की है। दरअसल, इस तरह की बात करने वाले वे दलित अभिजन बुद्धिजीवी हैं जिनके लिए रोटी की समस्या थी ही नहीं या वह बहुत पहले ही हल हो चुकी है। सवर्ण अभिजनों की तरह उनके लिए भी आर्थिक गैर बराबरी का प्रश्न एक असुविधाजनक प्रश्न है। तुलसीराम 'मणिकर्णिका' में दलित बुद्धिजीवियों को आईना दिखाते हुए बताते हैं कि भूख और सामाजिक अपमान दोनों समान रूप से दलितों की बुनियादी समस्याएं हैं। भूख की चरम अवस्था में दशाश्वमेघ घाट पर बर्तनों के साथ लम्बी कतार में बैठे भिखारियों को देख कर लेखक के मन में बार बार आता कि वे भी किन्हीं दो भिखारियों के बीच में बैठ जायें पर "मैंने बुरी से बुरी परिस्थिति में कभी भी अपने आत्मसम्मान को नहीं खोया और न किसी से भूखे रहने की शिकायत की।" स्पष्ट है, तुलसीराम का लेखन दलित लेखन के उस प्रारूप से बिल्कुल अलहदा है जो अपने अतीत के आत्मसम्मान रहित क्रियाकलापों को बढ़ा चढ़ा कर प्रस्तुत करने में ही अपनी सफलता और सार्थकता मानता है। 'मणिकर्णिका' में न तो अतीत का विज्ञापन है और न ही किसी की सहानुभूति बटोरने का प्रयास।

जातिवाद भारतीय समाज की सचाई है। कोई भी तर्कशील व्यक्ति भारतीय समाज में सर्वव्यापी जातिगत भेदभाव से इनकार नहीं कर सकता है। इसमें भी कोई दो राय नहीं है कि जाति व्यवस्था के कारण सबसे अधिक उत्पीड़न दलितों का हुआ है। इन सचाइयों के बावजूद क्या भारतीय समाज की जटिल संरचना को 'सवर्ण बनाम दलित' के द्विविभाजन से समझा जा सकता है! जैसे प्रत्येक समस्या का वर्ग आधारित विश्लेषण सही नहीं होता वैसे ही प्रत्येक समस्या का जाति आधारित विश्लेषण भी गलत निष्कर्ष की ओर ले जा सकता है। जीवन की अनेक घटनाओं का सवर्ण बनाम दलित के आलोक में विश्लेषण असम्भव है। कम से कम 'मणिकर्णिका' के साक्ष्य से इस बात की पुष्टि होती है। बनारस में किराये के कमरे की समस्या से जूझ रहे तुलसीराम ने दो सरकारी दलित छात्रावासों वीर आश्रम और जगजीवन राम छात्रावास की

चर्चा की है। इनके कर्ताधर्ता क्रमशः बेचनराम और रामलखन राम थे। इन दोनों ने छात्रावासों को सिर्फ अपनी कमाई का धंधा बना लिया था। फलतः छात्रावासों की स्थिति बहुत खराब हो गयी थी इसलिए वहां रहना सम्भव नहीं था। यहां आत्मकथा में वर्णित एक और घटना का उल्लेख आवश्यक है। फूलचंद नामक एक दलित छात्र द्वारा होस्टल प्रेसीडेंट के लिए चुनाव में परचा दाखिल करने पर आरएसएस के सर्वजीत सिंह ने उनकी जम कर पिटाई कर दी। उनका जुर्म यह था कि वे चमार होकर होस्टल प्रेसीडेंट के लिए खड़े हो गये थे। फूलचंद के कहने पर तुलसीराम कम्युनिस्ट छात्रों के साथ इस घटना के विरोध में आंदोलन का नेतृत्व कर रहे थे। पर अचानक फूलचंद ने पाला बदल लिया और आरएसएस समर्थकों के साथ होकर कहने लगे कि 'मेरे साथ कोई गड़बड़ी हुई है। कुछ लोग बेमतलब का इसे राजनीतिक मुद्दा बना रहे हैं।' तुलसीराम ने लिखा है कि यह मेरे राजनीतिक जीवन को व्याकुल करने वाला सबसे बड़ा प्रसंग था। इन उदाहरणों के बाद अब प्रश्न यह उठता है कि छात्रावासों के दलित संचालकों के भ्रष्टाचार और फूलचंद राम के अवसरवाद को कैसे समझा जाये? यहां तो दोनों पक्ष दलित ही हैं। 'मणिकर्णिका' इस बात का प्रमाण है कि लोभ, लालच, अवसरवाद भ्रष्टाचार आदि मानवीय प्रवृत्तियां अधिसंख्य मामलों में जातिनिरपेक्ष ही होती हैं।

बौद्धिक विमर्शों में दलित पिछड़ा गठजोड़ की खूब वकालत की जाती है। जमीनी सचाई ठीक इसके विपरीत है। हकीकत यह है कि दलितों के प्रति सवर्णों और पिछड़ी जातियों के व्यवहार में कोई फर्क नहीं है। दलित के लिए सवर्ण और ओबीसी दोनों समान रूप से उत्पीड़क रहे हैं। वर्तमान हालात में तो जमीनी स्तर पर दलितों और ओबीसी के बीच ही जातिगत संघर्ष अधिक हो रहा है। 'मणिकर्णिका' से यह बात भी रेखांकित होती है कि पिछड़ी जाति के लोग भी दलितों के प्रति घोर असंवेदनशील रहे हैं। तुलसीराम ने बताया है कि बनारस में किसी दलित को किराये पर कमरा मिलना मुश्किल था इसलिए कमरे के लिए उन्हें प्रायः अपनी जाति के बारे में झूठ बोलना पड़ता था। हालांकि भेद खुलने का डर हमेशा बना रहता था। इस तरह जीवन काफी मानसिक द्वंद्व और तनाव में गुजरता था। भेद खुलते ही अपमानित होकर कमरा छोड़ना पड़ता था। एक ऐसी ही मकान मालकिन थी राजवंती चाची जिनके बारे में लेखक ने लिखा है कि "जाति से तेली थी किन्तु भेदभाव में उसके सामने कट्टर ब्राह्मण भी कहीं नहीं ठहरते थे।" राजवंती चाची को एक दिन जैसे ही मालूम हुआ कि तुलसीराम और उनके सहपाठी मुन्नीलाल चमार जाति के हैं तो उन्होंने रात में ही दोनों को भद्दी भद्दी गालियां देते हुए घर से निकाल दिया। एक अन्य प्रकरण लंका मोहल्ले के कैलाश भवन का है। वहां के केयरटेकर राम शंकर यादव को तुलसीराम की असली जाति का पता चल गया। कैलाश भवन के प्रांगण में एक कुआं था जिससे सभी लोग नहाते धोते तथा खाना पकाते थे। तुलसीराम भी उसी कुएं से अपना काम करते थे। आगे का वर्णन इस प्रकार है "एक दिन यादव जी मेरे कमरे में आये और रौद्र रूप धारण करते हुए कहने लगे 'आप झूठ बोल कर कमरा ले लिए और कुएं का पानी भ्रष्ट कर दिये'। उन्होंने तुरंत कमरा खाली करने का फरमान जारी कर दिया।" ये दोनों उदाहरण दलित पिछड़ा सम्बंध की जमीनी हकीकत को समझाने के लिए पर्याप्त हैं।

समाज में जातिगत विद्वेष और घृणा के उदाहरण हैं तो कुछ सहयोग और परस्पर प्रेम के भी उदाहरण हैं। लेखक ने परस्पर प्रेम और सहयोग सम्बंधी प्रसंगों का भी ईमानदारी से उल्लेख किया है। बनारस के अपने कठिनतम जीवन में कुछ सवर्णों खासकर ब्राह्मणों का आत्मीय सहयोग भी तुलसीराम को मिला है। लेखक ने अपने मित्र मुन्नीलाल के सहपाठी भारतनाथ शुक्ला का जिक्र किया है जिन्होंने दुर्गाकुंड की 'रानी बड़हर कोठी' से निकाले जाने के बाद उन लोगों को अपने कमरे पर ले जाकर न सिर्फ खाना बना कर खिलाया बल्कि तुलसीराम को अपना रूम पार्टनर भी रखा।

एक और दिलचस्प उदाहरण बीएचयू महिला कॉलेज में संगीत के प्राध्यापक टी.एन. नागर और उनके परिवार का है जहां लेखक को उनकी बेटी को ट्यूशन पढ़ाने का काम मिला। इस घटना को लेखक

ने बनारस के भेदभाव वाले वातावरण के विरुद्ध अपनी जिन्दगी में आया एक नया मोड़ माना है। इस गुजराती ब्राह्मण परिवार में रोज पूजापाठ होता था। इस ब्राह्मण परिवार में लेखक का आना शुभ माना गया और ऐसा सम्बंध बना कि आगे परिवार के सभी बच्चों की शादियों के आवश्यक कर्मकांड लेखक के हाथ से ही करवाये गये। एक अन्य उदाहरण चंदन टीका लगाने वाले मिथिला के कट्टर पंडित हीरानंद झा का है जिनके सबसे अच्छे मित्र तुलसीराम ही थे। वेशभूषा से कट्टर ब्राह्मण दिखने वाले हीरानंद छुआछूत जातिपाति में एकदम विश्वास नहीं करते थे। बीएचयू के बारे में लेखक ने स्वयं लिखा है कि “बीएचयू की खासियत यह थी कि जहां प्रो. राव जैसे सामाजिक भेदभाव रखने वाले प्राध्याक थे वहीं प्रो. हरिहरनाथ त्रिपाठी जैसे प्रगतिशील विचार वाले लोग भी थे।” प्रो. त्रिपाठी के बारे में लेखक ने बताया है कि वे अत्यंत धार्मिक होते हुए भी सेकुलर व्यक्ति थे। वे लेखक को उच्च पद पर देखना चाहते थे इसलिए उन्होंने आईएएस का फार्म स्वयं मंगा कर लेखक को दिया। प्रो. त्रिपाठी लेखक को संकटमोचन मंदिर के महंत श्री वीरभद्र मिश्र के निवास पर भी ले गये। महंत जी भी उन्हीं की तरह उदारमना व्यक्ति थे। लेखक लिखता है कि “महंत जी के निवास पर जाने से पहले मुझे यह गलतफहमी थी कि महंत जी एक कट्टरपंथी व्यक्ति होंगे, किन्तु बाद के दिनों में मैंने पाया कि वे हमेशा धर्मनिरपेक्षता के लिए बनारस में काम करते रहे।” इन उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि पश्चिमी बौद्धिकता के चश्मे से भारत में धर्म और धर्मनिरपेक्षता को नहीं समझा जा सकता है। यहां धार्मिक होने का अर्थ साम्प्रदायिक होना नहीं है। धार्मिक होते हुए भी व्यक्ति सेकुलर हो सकता है। भारतीय संदर्भ में धर्म मात्र को गलत मान कर कभी भी सही निष्कर्ष पर नहीं पहुंचा जा सकता है। ‘मणिकर्णिका’ में वर्णित उपर्युक्त सभी प्रसंग इस बात को रेखांकित करते हैं कि भारतीय समाज में जाति धर्म की संरचना और उसका व्यावहारिक प्रतिफलन एकरेखीय न होकर बहुरेखीय और जटिल है। सवर्ण बनाम दलित, अगड़ा बनाम पिछड़ा, धार्मिक बनाम सेकुलर जैसे सरलीकृत फार्मूलों से जाति और धर्म की गुथी को समझना ही कठिन है, उसे सुलझाना तो बहुत दूर की बात है। इस आत्मकथा में जीवन और समाज को उसकी पूरी जटिलता के साथ बगैर लेखकीय हस्तक्षेप के ज्यों का त्यों रख दिया गया है। लेखक ने इस बात की परवाह ही नहीं की है कि आत्मकथा का कौन सा प्रसंग ब्राह्मणवाद के पक्ष में जायेगा या कौन आम्बेदकरवाद के पक्ष में। इसी तरह उन्होंने इसकी भी चिन्ता नहीं की है कि कौन सा प्रसंग वामपंथ के पक्ष में जायेगा या कौन सा प्रसंग वामपंथ विरोधियों के पक्ष में।

इस आत्मकथा में लेखक ने सिर्फ सच कहा है। आम्बेदकरवाद से प्रभावित प्रचंड दलित विमर्श के दौर में उन्होंने यह स्पष्टतः स्वीकार किया है कि जातिवादी मनुष्यों से लड़ने का साहस उनमें मार्क्सवाद ने पैदा किया और यह भी कि उस समय उनका मानना था कि आम्बेदकर के विचारों से क्रांति नहीं होगी। लेखक ने अपनी इस आत्मकथा में मार्क्सवाद से अपने जुड़ाव और उसके फलस्वरूप तमाम गतिविधियों की व्यापक चर्चा की है। इस प्रक्रिया में उन्होंने भारतीय कम्युनिस्ट आंदोलन, नक्सलवाद, अंतरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट आंदोलन, चीन रूस विवाद, बीएचयू की छात्र राजनीति, कम्युनिस्ट पार्टी के भीतर का भाई भतीजावाद, दलित प्रश्न के प्रति कम्युनिस्टों का उपेक्षा भाव, जे.पी. आंदोलन और आपातकाल का काफी विस्तार से विश्लेषण किया है। तुलसीराम ने लिखा है कि राहुल सांकृत्यायन की पुस्तक ‘भागो नहीं दुनिया को बदलो’ ने उनकी दुनिया हमेशा के लिए बदल दी और वे कम्युनिस्ट हो गये। इसी दौरान (1968) उन्होंने राहुल की एक और पुस्तक ‘बौद्धधर्म’ और अश्वघोष की महान रचना ‘बुद्धचरित’ को भी गहरे रूप से आत्मसात किया। वे लिखते हैं “अंततोगत्वा राहुल के साथ साथ बुद्ध ने मेरी नास्तिकता पर अमिट ठप्पा लगा दिया। मेरे मस्तिष्क तथा हृदय के सारे दरवाजे ईश्वर तथा अंधविश्वासों के लिए हमेशा के लिए बंद हो गये। मैं पूर्णरूपेण नास्तिक हो गया। नास्तिकता ने मुझे हृद से ज्यादा मानवीय बना दिया मैं विशुद्ध रूप से मानवता का पुजारी बन गया।” मार्क्सवाद

और बौद्ध दर्शन के प्रभाव में लेखक एक ही साथ आता है। और यहीं से उसमें बुद्ध की करुणा और मार्क्सवाद की हिंसा के बीच मानसिक द्वंद की शुरुआत होती है। विशुद्ध रूप से मानवता के पुजारी होने और मार्क्सवादी क्रांति के समर्थक होने में बुनियादी अंतर्विरोध है। सीपीआई में काम करते करते अंततः लेखक नक्सलवाड़ी के नेताओं के सम्पर्क में आता है और सहमति असहमति के बीच जूझता हुआ हथियारबंद क्रांति को ही उचित मानने लगता है। लेखक ने बताया है कि उन दिनों स्थापना के समय ही सीपीआईएमएल के जनरल सेक्रेटरी बने चारु मजुमदार का एक सर्कुलर बड़ी चर्चा में था, जिसमें उन्होंने कहा था कि यदि किसी को पार्टी की सदस्यता लेनी है तो उसे एक वर्ग दुश्मन का सफाया करना आवश्यक है। यह सफाया आग्नेय अस्त्रों से नहीं, बल्कि घरेलू हथियारों—हंसिया, खुर्पी, चाकू, फावड़ा, कुदाल आदि से होना चाहिए। तुलसीराम ने लिखा है कि उन लोगों पर वर्ग दुश्मन के सफाये का भूत सवार था। 11 नवम्बर 1969 को आजमगढ़ के होस्टल में उनके साथ रहने वाले सत्यराम, प्राइमरी स्कूल के अध्यापक लीटन मास्टर, इंद्रसेन सिंह (जिसका चाचा कुख्यात गुंडा था और उसी का सफाया करना था) और लेखक स्वयं रात में पैदल चल कर उस गुंडे के गांव पहुंचे। आगे लेखक लिखता है—“हम सबके सामने चारु मजुमदार का वह मैडेट था इसलिए सत्यराम के हाथ में एक लम्बा छूरा था तथा लीटन के हाथ में डंडे वाली गंडासी। लीटन गंडासी को एक पत्थर पर रगड़ कर धारदार बनाने लगे। गंडासी से कर्क कर्क की निकली हुई आवाज मुझे एकदम भयभीत करने लगी। मन में ऐसा खयाल आता था कि मैं वहां से तुरंत भाग जाऊं। उस घने अरहर के खेतों के बीच कल्पना में बार बार गौतम बुद्ध की छवि मेरे सामने उभरने लगी। ...मुझे बार बार हिंसा के विरुद्ध बुद्ध का वह नियम याद आता, जिसमें उन्होंने कहा था कि किसी जीव को कोई भले न मारे, किन्तु वह किसी के द्वारा मारते हुए देखे, तो वह भी हिंसा का दोषी है। यहां तक कि मारे जाने वाले जीव की चिल्लाने वाली आवाज को सुनना भी हिंसा है। बुद्ध के इन वचनों को याद कर मैं अपराधबोध से एकदम घबरा गया था।” हालांकि यह स्थिति टल गयी क्योंकि वह व्यक्ति अपने पांच छह साल के बेटे के साथ सोया हुआ था और उसके सफाये में उस बच्चे की भी जान जाती। अपराधबोध से ग्रस्त लेखक ने उसके लिए तुरंत मना कर दिया। तुलसीराम लिखते हैं—“अंततः बुद्ध की अहिंसा जीत गयी और ‘वर्ग दुश्मन का सफाया’ वाली राजनीति से हमेशा के लिए मैंने संन्यास ले लिया। उस अरहर के खेत में इस सिद्धांत को क्रियात्मक रूप देने की प्रक्रिया के दौरान मुझे पहली बार गहरायी से अनुभूति हुई कि नक्सलवादियों का यह रास्ता बिल्कुल गलत है।”

‘मणिकर्णिका’ में कहीं भी आक्रोश और घृणा नहीं है। ये दोनों तत्व साहित्य के सबसे बड़े शत्रु हैं। यहां घटनाओं और समस्याओं का बौद्धिक विश्लेषण है। तुलसीराम के लिए जाति का प्रश्न अस्मिता का प्रश्न नहीं है। उन्होंने दलित पहचान को आवश्यकता से अधिक महत्व कहीं नहीं दिया है। उन्होंने अपनी समस्या को सिर्फ और सिर्फ दलित की समस्या के रूप में नहीं देखा है।

पूरी आत्मकथा में कहीं भी भाषायी चलन नहीं है। ‘मणिकर्णिका’ इस बात का प्रमाण है कि दलित यथार्थ की अभिव्यक्ति और उसकी तीव्रता को महसूस कराने के लिए भाषा की स्तरीयता से समझौता अपरिहार्य नहीं है।

‘मणिकर्णिका’ का फलक विस्तृत है। यह रचना समाजशास्त्र ही नहीं बल्कि इतिहास, राजनीतिशास्त्र, मानव विज्ञान, मनोविज्ञान आदि अनेक अनुशासनों के लिए भी उपयोगी पुस्तक है।

‘मुर्दहिया’ और ‘मणिकर्णिका’ में आजादी के बाद के भारत के बहुविध यथार्थ का चित्रण किसी भी अन्य साहित्यिक कृति की तुलना में अधिक है साथ ही यह सर्वश्रेष्ठ आत्मकथाओं में से एक है।

मणिकर्णिका : तुलसीराम, **प्रकाशक** : राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, **मूल्य** : 300 रु.

जनपक्षधरता की तरफदारी में वैचारिक लेखन

अटल तिवारी

अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर जब चहुंओर हमले किये जा रहे हों, अन्याय व उत्पीड़न के खिलाफ उठने वाली आवाजों को खामोश करने की साजिश चल रही हो, सामाजिक सांस्कृतिक कार्यकर्ताओं और कलमकारों को निशाना बनाया जा रहा हो, मुख्यधारा की लगभग पूरी पत्रकारिता ब्राह्मणवादी मानसिकता से ग्रस्त होकर एक दल अथवा व्यक्ति विशेष के चारण में लगी हो तो ऐसे में इन सभी मसलों पर आलोचक **वीरेन्द्र यादव** का लिखना उम्मीद जगाता है। उनकी नयी किताब **प्रगतिशीलता के पक्ष में** ऐसे ही विषयों पर समय समय पर लिखे गये लेखों का संकलन है। पहले उन्होंने 'गोदान' सहित हिन्दी के कालजयी उपन्यासों पर केन्द्रित आलोचनात्मक पुस्तक 'उपन्यास और वर्चस्व की सत्ता' लिखी थी; इस नयी किताब में समाहित लेखों में वह देश तक ही सीमित नहीं रहे बल्कि दुनिया के अनेक देशों के उन कलमकारों पर भी लिखा है जो प्रतिक्रियावादी ताकतों के निशाने पर रहे हैं। इसके लिए उन्होंने अपनी मार्क्सवादी विचारधारा के खांचे से बाहर निकल कर इस बात को ज्यादा तवज्जो दी कि कलमकार प्रतिक्रियावादी ताकतों का सामना करते हुए अपनी लेखनी में जनपक्षधरता की वकालत करता है। अपनी इसी विशेषता के तहत उन्होंने 'हाउल' (चीख) जैसी लम्बी कविता लिखने वाले अमेरिकी बीटनिक कवि ऐलन गिन्सबर्ग को याद करते हुए 'ऐलन गिन्सबर्ग : परम्परा के विरोध में एक चीख' (अप्रैल 2013) में लिखा *“गिन्सबर्ग की कविताएं तात्कालिकता से ओतप्रोत रहती थीं, उनका मुहावरा राजनीतिक था। गिन्सबर्ग को प्रति संस्कृति का शीर्ष गुरु माना जाता था और अमेरिकी युवा कवियों की एक पूरी पीढ़ी ही उनकी अनुगामी हो गयी और बीटनिक कविता की नयी शैली ही चल पड़ी। अमेरिकी कवि जैक केरुआक एवं विलियम बरो के साथ उन्होंने बाब डिलयन, पैटी स्मिथ एवं जेरी गार्सिया सहित गायकों एवं सृजनशील कलाकारों की एक पूरी पीढ़ी को अपनी कविता के रंग में रंग दिया।”*

गिन्सबर्ग की तरह ही जब जर्मन लेखक गुंटर ग्रास की कविता 'जो कहना जरूरी था' के प्रकाशन पर विवाद खड़ा हुआ और इसराइल सरकार ने उनके देश में प्रवेश पर पाबंदी लगाने की घोषणा की तो वीरेन्द्र यादव ने 'कविता से डरा हुआ देश' (अप्रैल 2012) नामक लेख में लिखा 'गुंटर ग्रास ने अपनी इस कविता में अकेले इसराइल को ही नहीं बल्कि समूची पश्चिमी दुनिया के उस पाखंड पर भी उंगली उठायी है जो परमाणु निःशस्त्रीकरण की आड़ में समूची दुनिया को बारूद के ढेर पर बैठा रहा है।' असल में गुंटर ग्रास ने अपनी इस कविता में इसराइल की परमाणु तैयारियों को विश्व शांति के लिए खतरा बताते हुए ईरान को नेस्तनाबूद करने के उसके इरादों पर प्रश्न उठाये थे। इसी तरह से वीरेन्द्र यादव ने लीक तोड़ने वाले लेखक नीरद सी चौधरी को याद किया। ब्रिटिश साम्राज्यवाद की पैरवी करने वाले नीरद सी चौधरी अपने शुरुआती जीवन में ब्रिटिश विरोधी थे। इसके बावजूद वह अंग्रेजों को सांस्कृतिक रूप से श्रेष्ठ मानते थे। शायद इसी विरोधाभास ने उन्हें इंग्लैण्ड पहुंचा दिया था। वीरेन्द्र यादव ने अपने लेख 'एक गुमनाम भारतीय का महाप्रयाण' (अगस्त 1999) में लिखा कि "यह वास्तव में विडम्बनापूर्ण है कि जिस बर्तानवी राज की महानताओं, अंग्रेजी समाज की आभिजात्य जीवनशैली एवं तराशी हुई अंग्रेजी भाषा की खोज में नीरद सी चौधरी इंग्लैण्ड पहुंचे थे, वह एक मृग मरीचिका ही सिद्ध हुआ, लेकिन उन्होंने अपने व्यक्तित्व में अंग्रेजियत, बड़बोलेपन, आत्मश्लाघा व अहमन्यता का ऐसा प्रभामंडल रच रखा था जो विश्वसनीय न होने के बावजूद एक विचित्र रोचकता लिए हुए था।" करीब 102 साल लम्बी उम्र पाने वाले नीरद सी चौधरी अपनी आत्मकथा के पहले खंड 'आटोबायोग्राफी ऑफ एन अननोन इंडियन' के प्रकाशन के साथ ही एक मूर्तिभंजक लेखक के रूप में चर्चित हो गये थे।

वीरेन्द्र यादव ने अपनी इस किताब में 'अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता' पर खास फोकस किया है। इस अधिकार से जुड़ी हर घटना पर वह पैनी नजर रखते हैं। प्रतिक्रियावादी ताकतों का शिकार बने मकबूल फिदा हुसैन हों, तस्लीमा नसरीन हों अथवा सलमान रुश्दी वीरेन्द्र यादव तीखे शब्दों में हमला करते हुए उक्त ताकतों को जवाब देते हैं। 2012 के जयपुर लिटरेचर फेस्टिवल में रुश्दी को आमंत्रित करने पर जहां एक ओर अधिकतर राजनीतिक दलों ने कूपमंडूकता का परिचय दिया वहीं दूसरी ओर उससे भी अधिक चौकाने वाला रवैया प्रगतिशील माने जाने वाले दारुल उलूम देवबंद का रहा। इस पर वीरेन्द्र यादव ने 'सलमान रुश्दी पर चुनावी राजनीति क्यों' (जनवरी 2012) लिखा "जिस दारुल उलूम देवबंद ने 1866 में अपनी स्थापना से लेकर राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान संकीर्ण राजनीतिक भूमिका से स्वयं को अलग रखा और पाकिस्तान की मांग का भी कभी समर्थन नहीं किया, उसी ने सलमान रुश्दी के भारत आगमन के मुद्दे को सरगर्म करके राजनीतिक दलों को मुस्लिम वोट को लुभाने का अवसर क्यों परोस दिया! जब रुश्दी की पूर्व की भारत यात्राएं मुस्लिम समाज के लिए भावनात्मक उन्माद का कारण न बन सकीं तो इस बार ही उसे क्यों मुद्दा बनाया जा रहा है, दारुल उलूम देवबंद को देरसबेर इसकी जवाबदेही करनी होगी।" महात्मा गांधी से लेकर प्रेमचंद व मुक्तिबोध तक सभी इनका शिकार बन चुके हैं। वीरेन्द्र यादव ने गांधी के जीवन पर लिखी जोसेफ लेलेच की पुस्तक को लेकर उठे विवाद का जिक्र करते हुए लिखा "जब इस पर प्रतिबंध लगाने की मांग की जाने लगी तब स्वयं गांधी के दो पौत्रों राममोहन गांधी और गोपालकृष्ण गांधी ने इसका विरोध किया और पुस्तक प्रतिबंधित होने से बच गयी, लेकिन विडम्बना यह कि स्वयं को गांधीभक्त सिद्ध करने के लिए गुजरात के मुख्यमंत्री नरेन्द्र मोदी (अब प्रधानमंत्री) ने इसे अपने राज्य में प्रतिबंधित कर दिया। परिणामस्वरूप गांधी की जो जीवनी समूचे देश में उपलब्ध है, उसे गुजरात में बेचने व खरीदने पर प्रतिबंध है।" किताबों को प्रतिबंधित करने का जहां तक सवाल है तो वह एक राज्य तक सीमित

नहीं है। मुम्बई विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम से रोहिंंग्टन मिस्त्री के अंग्रेजी उपन्यास को हटाना और दिल्ली विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम से रामायण पर ए.के. रामानुजन के निबंध को हटाया जाना इसी कड़ी का हिस्सा है।

दरअसल अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का मसला साहित्यिक अथवा कलात्मक अभिव्यक्ति के व्यक्तिगत अधिकार तक सीमित न होकर हाशिए की उन आवाजों से भी जुड़ा है जिन्हें आये दिन तरह तरह के अंकुश लगा कर खामोश किया जा रहा है। अक्सर शक्तिशाली लोगों के विचारों को ही अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का मानक मान लिया जाता है, जो कहीं से भी उचित नहीं है। इसी प्रसंग में वीरेन्द्र यादव लिखते हैं कि “राजस्थान की तत्कालीन भाजपा सरकार ने दलित लेखक सोहन लाल सिंघई की पुस्तक ‘उन्हें हिन्दू कहे जाने पर लज्जा आती है’ और एम जी मैथ्यू की पुस्तक ‘हकीकत’ को प्रतिबंधित कर दिया था। इसी सोच के चलते कुछ वर्ष पूर्व लखनऊ में शूद्र महासभा के सदस्यों को राम पर टीका टिप्पणी करने के आरोप में गिरफ्तार कर जेल भेज दिया गया।” इस तरह की घटनाएं लगातार घट रही हैं। कुछ समय पहले लखनऊ विश्वविद्यालय के हिन्दी पाठ्यक्रम के लिए प्रस्तावित तुलसीराम की आत्मकथा ‘मुर्दहिया’ को ब्राह्मणवादी मानसिकता वाले लोगों ने शामिल नहीं होने दिया।

प्रेमचंद के गहरे अध्ययता वीरेन्द्र यादव की इस किताब में प्रेमचंद और उनके साहित्य पर लिखे गये चार लेख ‘प्रेमचंद और किसान’, ‘कहां है प्रेमचंद की परम्परा’, ‘किसान आंदोलन के दौर में गोदान’ व ‘प्रेमचंद और प्रगतिशील मूल्य’ शामिल हैं। पहले तीन आलेखों के केन्द्र में किसान हैं। वीरेन्द्र यादव अपने लेख ‘प्रेमचंद और किसान’ (नवम्बर 2005) में लिखते हैं कि “औपनिवेशिक भारत में कर्ज और भूमि के अन्योन्याश्रित सम्बंधों पर भी प्रेमचंद गहराई से विचार करते हैं। किसान पर बेहिसाब लगान, नजराना तथा बेदखली का खतरा ज्यों ज्यों मंडराता त्यों त्यों उसके कर्ज का बोझ बढ़ता जाता और परिणामतः किसानों की विशाल संख्या सूदखोर से मिले ऋण पर गुजारा करती। ऋण के इस दुष्चक्र का परिणाम यह होता है कि भूमि खेती करने वाले वास्तविक किसानों के हाथ से निकल कर सूदखोरों के पास चली जाती और किसान खेत मजदूर बन जाता था उस महाजन के खेतों को बटाई पर जोतने लगता। ... प्रेमचंद अपने समूचे लेखन में भूस्वामी का नकाब ओढ़े इन भू शोषक जमींदारों का क्रिटीक रचते हैं।”

पिछले कुछ समय से प्रेमचंद के साहित्य का गलत पाठ प्रस्तुत कर कुछ लोगों द्वारा उन पर हमला किया जाता रहा है। ऐसा करने वालों को प्रेमचंद ब्राह्मणवादी मानसिकता से ग्रस्त दलितविरोधी नजर आ रहे हैं। कुछ तो प्रेमचंद के बरक्स अज्ञेय को बड़ा लेखक न स्थापित कर पाने के कारण चिन्ता में दुबले होते रहे हैं। आये दिन नये नये कुतर्क गढ़े जाते रहे हैं। ऐसे में वीरेन्द्र यादव ने उन सभी कुतर्कों का सामना करते हुए तथ्यपरक लेखन कर प्रेमचंद को निशाना बनाने वालों को बिन्दुवार जवाब दिया। उन्होंने अपने लेख ‘कहां है प्रेमचंद की परम्परा’ (जुलाई 2011) में लिखा “अभिजात वर्गीय मूल्यों और पश्चिमी आधुनिकता में रचे बसे इस लेखक समुदाय के लिए प्रेमचंद की कथा परम्परा एक बड़ी चुनौती थी। कारण यह कि प्रेमचंद की परम्परा के इस विकल्प पर उसके स्वयं के खारिज होने का खतरा दरपेश था। अतः उसने प्रेमचंद की परम्परा को ही प्रश्नांकित करने का अभियान छेड़ दिया। ...प्रेमचंद ने भारतीय समाज के जिन ज्वलंत मुद्दों को अपने कथा साहित्य में केन्द्रीयता प्रदान की थी, वे आज अधिक ज्वलंत और विकराल रूप में हमारे सामने मौजूद हैं। किसान, दलित और स्त्री के प्रश्न हों या साम्प्रदायिकता का मुद्दा प्रेमचंद के समय में ये जितने प्रासंगिक थे, उससे कहीं अधिक ज्वलंत और प्रासंगिक आज हैं।” बीसवीं सदी के अंतिम वर्षों में जब कुछ आलोचक राजकमल चौधरी व धूमिल को एक ही खांचे में ढालने की असफल कोशिश करते दिखे

तो वीरेन्द्र यादव ने 'धूमिल : दूसरे प्रजातंत्र की तलाश में' (फरवरी 1998) नामक लेख लिख कर दोनों कवियों को एक खांचे में ढालने वालों को आईना दिखाते हुए बताया कि किस तरह दोनों कवियों के सरोकार अलग अलग थे। इसी तरह जब लेखक एवं क्रांतिकारी यशपाल की प्रासंगिकता पर सवाल उठाये जाने लगे तो उन्होंने 'यशपाल : आज भी प्रासंगिक हैं' (जनवरी 2001) नामक लेख लिखा।

मौजूदा केन्द्रीय सरकार में एक बार फिर शिक्षा का भगवाकरण करने की तैयारी चल रही है। किताबों से पाठ हटाये जा रहे हैं। संघ से ताल्लुक रखने वाले दीनानाथ बत्रा की किताबें गुजरात के स्कूलों में पाठ्यक्रम का हिस्सा बन चुकी हैं। भाजपा नेता सुब्रह्मण्यम स्वामी बाकायदा ऐलान कर चुके हैं कि इतिहासकार प्रो. बिपिन चंद्र व प्रो. रोमिला थापर की किताबों को जला देना चाहिए। ऐसे में वीरेन्द्र यादव के लेख 'प्रेमचंद और प्रगतिशील मूल्य' और 'मार्क्स और एंगेल्स की क्या जरूरत' इन्हीं प्रश्नों की पड़ताल करते हुए राज्य की इस तरह की खतरनाक दृष्टि पर सवाल उठाते हैं। उन्होंने प्रगतिशील लेखन आंदोलन पर भी दो लेख इस पुस्तक में समाहित किये हैं। 'प्रगतिशील लेखन आंदोलन : दशा एवं दिशा' और 'प्रगतिशील लेखन आंदोलन के 75 वर्ष' में पूरे प्रगतिशील लेखन आंदोलन पर नजर डालते हुए उसकी अच्छाइयों के साथ उसकी कमजोरियों का भी आलोचनात्मक मूल्यांकन किया है। कथाकार उपन्यासकार काशीनाथ सिंह को उनके चर्चित उपन्यास 'काशी का अस्सी' के बजाय 'रेहन पर रघू' को साहित्य अकादमी सम्मान मिलने पर लेखक ने 'ये भूल सुधार है या सम्मान है?' नामक लेख में हिन्दी समेत अन्य भारतीय भाषाओं के उन्नयन में लगी संस्थाओं में पुरस्कार के नाम पर चल रही दुकानदारी पर से परदा उठाया है तो भ्रष्टाचार के मुद्दे को लेकर पिछले वर्षों में हुई 'नौटंकी' पर उन्होंने श्रीलाल शुक्ल के चर्चित उपन्यास 'राग दरबारी' के हवाले से लेख लिखते हुए मत दिया कि 'विषबेल की तरह फैले भ्रष्टाचार का निवारण किसी एक जन लोकपाल की सामर्थ्य से बाहर है।'

पिछले कुछ समय से जिस तरह हिन्दी आलोचना को खारिज करने की कोशिशें हो रही हैं और आस्वादपरकता को ही साहित्यिक कसौटी बनाने के प्रयास किये जा रहे हैं। ऐसे समय में वीरेन्द्र यादव मंचों से लेकर अपने लेखन तक में मोर्चा लेते हुए दिखते हैं। इसी मोर्चेबंदी में वह 'साहित्य को समाज से काटने की चालाकियां' (अप्रैल 2012) और 'आज की आलोचना के समक्ष चुनौतियां' (जून 2002) लेख लिखते हैं। वह कहते हैं कि "हिन्दी आलोचना के वर्तमान पर विचार करते हुए यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि इन दिनों साहित्य में जितनी मूल्य निरपेक्षता या विचारहीनता की तरफदारी की जा रही है, वैसा पहले कभी नहीं था। ...यह वास्तव में विस्मयकारी है कि जब समूचे विश्व में साहित्यिक आलोचना को बहु अनुशासनात्मक बनाने पर जोर है तब हिन्दी आलोचना के समक्ष 'शुद्ध साहित्यिकता' का खतरा दरपेश है। ...आज आलोचना की सबसे बड़ी चुनौती साहित्य को सामाजिक संदर्भ प्रदान कर उसे नयी अर्थवत्ता देने की है ना कि उसे महज साहित्यिक गढ़ंत बना कर आस्वाद की वस्तु बनाने की।" अपने इसी खरेपन के कारण वह कुछ बिन्दुओं पर प्रो. नामवर सिंह से लेकर डॉ. रामविलास शर्मा की आलोचना दृष्टि पर सवाल भी उठाते हैं।

लेकिन चकित करने वाली बात यह कि उनकी इस प्रगतिशील मोर्चेबंदी में कम ही प्रगतिशील साथ नजर आये। कोई खड़ा हो या न खड़ा हो, वीरेन्द्र यादव पूरे दमखम के साथ प्रगतिशीलता, जनपक्षधरता व अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के पक्ष में खड़े हैं। 'प्रगतिशीलता के पक्ष में' उनकी इस खासियत को पुख्ता करती है।

प्रगतिशीलता के पक्ष में : वीरेन्द्र यादव, **प्रकाशक** : साहित्य भंडार, इलाहाबाद, **मूल्य** : 50 रु.

विश्रांति के एक अदद ठौर की तलाश

अमिय बिन्दु

किसी भी भाषा की ताकत का अंदाजा उस भाषा के गल्प साहित्य से नहीं बल्कि कथेतर साहित्य और साहित्येतर गद्य से लगाया जाता है, और यह दुनिया की तमाम भाषाओं के लिए सच है। हिन्दी में इतनी प्रगति के बावजूद यह दुखद है कि हिन्दी हिन्दी की रट लगाने वाले भी गल्प साहित्य के अतिरिक्त अन्य पुस्तकों की कमी का रोना रोते हैं। यह स्थिति तब है जबकि समाचारपत्रों, पत्रिकाओं की संख्या लगातार बढ़ती जा रही है और कथेतर बहुत कुछ लिखा भी जा रहा है। भले ही प्रकाशक और लेखक इसके कारणों की तह में पाठकों की मांग को जिम्मेवार ठहराते हों लेकिन इसके दोनों पहलू ध्यान देने योग्य हैं और दोनों एक दूसरे से जुड़े हुए भी हैं। जहां एक ओर गम्भीर एवं स्तरीय अकादमिक, गैर अकादमिक पुस्तकों की कमी है वहीं विभिन्न अनुशासनों में लोकप्रिय लेखन की कमी के चलते मांग भी कम है। यह देखने में आता है कि बहुधा गम्भीर लेखन को भाषा की क्लिष्टता से जोड़ दिया जाता है और पाठकों के लिए लेखन के मर्म तक पहुंचने का सामर्थ्य, भाषा की सघन परतों को खोलने में ही चुक जाता है। इस गहन अंधकार में **राजेन्द्र राव** की नयी पुस्तक **उस रहगुजर की तलाश** है एक चिंगारी की तरह है। कहते हैं कि अंधेरा यदि बहुत गहरा हो तो एक चिंगारी भी आशा की किरण बन जाती है। हालांकि यह पुस्तक इस बात के लिए पाठकों को निराश करती है कि इसमें मात्र दस अध्याय हैं। आप पढ़ना शुरू करते हैं, प्रवाह में आते हैं, यादों और बातों के साथ उड़ने लगते हैं कि एकाएक पता चलता है कि आप आखिरी अध्याय पर हैं।

इस संकलन में कुल तीन रिपोर्टाज हैं। पहला रिपोर्टाज 'हाटे बाजार' बहुत पहले साप्ताहिक हिन्दुस्तान में छप चुका है और उस समय खासा लोकप्रिय भी हुआ था। कलकत्ता के देह बाजार पर लिखा गया यह रिपोर्टाज राजेन्द्र राव की पत्रकारीय साहसिकता का पर्याय है। निश्चित रूप से इसकी लोकप्रियता के पीछे इसकी लिखावट की शैली के साथ साथ इसके वर्ज्य विषय का हाथ रहा होगा।

वेश्याओं के जीवन का संदर्भ तमाम रास्तों से हिन्दी साहित्य में आया है लेकिन उनमें उनका रोमांटिक पक्ष अधिक उभरा है। देह के बाजार का वास्तविक चित्रण, उसके पीछे की दुश्वारियां और इसके पीछे की राजनीतिक सामाजिक संदर्शों को खोलने की कोशिश कम ही हुई है। लेकिन इस रिपोर्टाज में देह बाजार को वास्तविक दृश्यावलियों में प्रस्तुत करते हुए उसके पीछे की सामाजिक राजनीतिक आर्थिक परतों को उघाड़ने की पुरजोर कोशिश दिखती है। बाजार में रहने वालों के मानसिक हालात का जायजा ही नहीं है बल्कि वहां के भौतिक विन्यास का भी आंखोंदेखा हाल बखूबी पेश किया गया है। हालांकि कुछ निष्कर्षों में कहीं कहीं सरलीकरण और व्यापीकरण का छौंक महसूस होता है लेकिन ऐसे सर्वजनीन मुद्दे पर फिसलन की इतनी गुंजाइश हमेशा बनी रहती है।

बंगाल अपनी गरीबी और देह बाजार के लिए काफी चर्चित रहा है, लेकिन ऐसा हमेशा से नहीं था। बल्कि अंग्रेजों के अधिकार से पहले यह भारत के समृद्धतम प्रांतों में से था। अंग्रेजों का अधिकार सबसे पहले बंगाल पर ही हुआ और उनके शोषण की हर नीति प्रयोगात्मक स्तर पर सर्वप्रथम इसी प्रांत में अपनायी गयी थी। अंग्रेजों की लूट ने एक शताब्दी के भीतर इस प्रांत को रसातल में पहुंचा दिया। इसी के बरक्स यूरोप से होकर आधुनिकता की सबसे पहली किरण भी यहीं पहुंची। सामाजिक वर्जनाओं को तोड़ कर कुछ नया करने की ललक सबसे पहले बंगवासियों में उभरी थी। अंग्रेजों को भगाने की रणनीति में भी बंगाल अग्रिम पंक्ति में था जिसने अंतिम समय में अपनी नीति बदलने के लिए अंग्रेजों को मजबूर कर दिया। कलकत्ता के बजाय दिल्ली को राजधानी बनाना उसी रणनीति का एक हिस्सा था। हालांकि इस रिपोर्टाज में ऐसी राजनीतिक कड़ियां नहीं मिलतीं लेकिन उसके चलते उभरी सामाजिक समस्याओं पर गहरे से प्रकाश डाला गया है।

इतने गम्भीर प्रश्न से रू ब रू होते हुए हम दूसरे रिपोर्टाज पर पहुंचते हैं तो मामला व्यक्तिगत हो जाता है। 'बांधो तो नाव इस ठांव बंधु' में कथाकार शिवमूर्ति के गांव घर की यात्रा का विवरण मिलता है। सुल्तानपुर के कुरंग गांव की इस यात्रा में शिवमूर्ति के उन मित्रों, पड़ोसियों, सहपाठियों और अन्य लोगों का विवरण है जिनका चरित्र उनकी कहानियों के नायकों के लिए प्रेरणास्रोत बना है। शिवमूर्ति के बचपन और यौवन के दिनों के संघर्ष की दास्तान तो है ही उनके चरित्र और आदतों का भी कुछ विवरण मिल जाता है। राजेन्द्र राव शिवमूर्ति से प्रभावित ही नहीं लगते बल्कि उनका सखाभाव कभी कभी स्तुति की सीमा तक पहुंचने लगता है। ऐसा इसलिए भी महसूस होता है कि इस संकलन में दस में से दो अध्याय शिवमूर्ति पर हैं। इस रिपोर्टाज के अतिरिक्त एक संस्मरण में शिवमूर्ति को महात्मा बुद्ध सरीखा शांतमना दिखलाया गया है और चुटीले शब्दों से उनके व्यक्तित्व की बारीकियों को उकेरा गया है। हालांकि इसमें कुछ अतिरिक्त तथ्यों का समावेश नहीं है लेकिन शब्दों की चुहलबाजी पाठकों में शिवमूर्ति के प्रति कुतूहल जगाने में ठीक वैसे ही कामयाब होती है, जैसे स्वयं शिवमूर्ति अपने दावे से पुरुष लेखकों में कुतूहल जगाने में कामयाब होते हैं।

पुस्तक के शीर्षक नाम वाला तीसरा रिपोर्टाज 'उस रहगुजर की तलाश है' कोटा में किसी साहित्यिक गोष्ठी के बहाने वहां की भौगोलिक और भौतिक विन्यास की अच्छी और गहरी पड़ताल करता है। पढ़ कर महसूस होता है कि लेखक ने अपने जीवन का एक यादगार हिस्सा वहां के प्रवास में बिताया है। वह हिस्सा उसे बार बार याद आता है और उस साहित्यिक गोष्ठी के बहाने उसे उन पुरानी जगहों पर जाने का मौका मिलता है जो उसके मस्तिष्क में अंकित हो चुकी हैं। इन स्थलों के पीछे से किसी का झांकता हुआ अस्पष्ट सा चेहरा भी है जो लेखक को उन स्थलों का विवरण और उनके बदलते जाने की ताबीर बुनने को विवश करता है। इस भौतिक विन्यास के बहाने से कहीं न कहीं लेखक अपने मन के विन्यास को करीने से संवारता रहता है और उसे

महसूस होता है कि कुछ भी पहले जैसा नहीं रह जाता, बल्कि समय के प्रवाह में बहुत कुछ बह कर आगे निकल जाता है।

पुरानी यादों का ऐसा ही प्रवाह पुस्तक के संस्मरणों में भी मिलता है। कुल चार संस्मरण, संकलन में स्थान बना सके हैं, जो अपनी शैली और चुहलबाजी के लिए एक दूसरे से होड़ करते हैं। पहला संस्मरण कथाकार शिवमूर्ति के बारे में है, जिनकी कहानी 'कसाईबाड़ा' के नाट्य रूपांतरण के दौरान की कठिनाइयों का जिक्र करते हुए उन्हें याद किया गया है। यह याद कोई पीछे से झांकती हुई यादें नहीं है बल्कि बकायदा मुख्य विषय को विश्राम देकर पाठकों को आमंत्रित किया गया है कि आइये थोड़ा शिवमूर्ति के विषय में जान लेते हैं और फिर यह संस्मरण पाठकों को उनके जन्म और बचपन तक ले जाता है। उनके अभावग्रस्त बचपन के साथ पढ़ायी लिखायी और उसके बाद का संघर्ष तथा विवाह के बाद जीविका के लिए संघर्ष और अंततः एक अधिकारी बन जाने तक की कहानी खोलता चलता है। लेखक हर कदम उनका समर्थन करते चलते हैं और एकबारगी घोषित भी करते हैं कि *स्वभाव में फक्कड़पन, निर्लिप्ति और कबीर दर्शन उन्हें विरासत में मिले हैं।*

एक अन्य संस्मरण 'पंछी ऐसे आते हैं' में अपने बचपन के मित्र कृष्ण बिहारी को याद करते हुए भी राजेन्द्र राव साहित्य की गलियों में आवाजाही बनाये रखते हैं। चूंकि उनका मित्र साहित्य प्रेमी है तो वह दुबई में रहते हुए भी हर बरस जुलाई में भारत आता है और भारत आकर वह साहित्यकारों से मिलता है। अपने इस मित्र के प्रेम प्रसंग और उसके जीवन की घटनाओं को याद करते हुए उसी के बहाने कानपुर के आयुध निर्माणियों के आवासीय क्षेत्र अरमापुर इस्टेट की पड़ताल की गयी है। उसका विवरण वहां के भौतिक विन्यास से इस तरह मिलता है कि यदि किसी को वहां जाने का मौका मिले तो निश्चित रूप से किसी का पता खोजने में उसे परेशानी नहीं होगी। संकलन का चौथा और अंतिम संस्मरण 'मशगनयनी और मृगछाला' कुछ कुछ रहस्यमयी और कहीं कहीं चमत्कारिक विवरणों की ओर उन्मुख हो गया है हालांकि उसमें सचाई का पूरा आभास बना रहता है। उसे प्रस्तुत करने की शैली इतनी धारदार है कि पढ़ते हुए पाठक कहीं भी ठहरता नहीं और अंत तक उसकी उत्सुकता बनी रहती है। इसमें राजेन्द्र राव के बेरोजगारी के दिनों का विवरण मिलता है। जिसके बाद उन्हें मुम्बई में काम मिल गया और उनके कलकत्ता प्रवास का अंत हुआ। संस्मरण विधा में यह आशंका हमेशा बनी रहती है कि अपनी यादों के सिलसिले में कई बार लेखक इतनी आत्मीय बातों का खुलासा कर देता है कि उसे आभास भी नहीं रहता कि सामने वाले के अहं या भावनाओं को चोट पहुंच सकती है। लेकिन संकलन के संस्मरणों में ऐसा एक भी वाक्य नहीं है। बल्कि जहां भी जरूरी लगा है वहां आवश्यक सूचनाएं छिपा भी ली गयी हैं। जैसे शीर्षक नाम वाले संस्मरण में लेखक कोटा प्रवास को बहुत बेसब्री से याद करता है लेकिन कुछ है जो वह खुल कर बताना नहीं चाहता, और अंत तक बताता भी नहीं।

साक्षात्कार एक अन्य विधा है जिस पर दो लेख इस संकलन में शामिल हैं। इन साक्षात्कारों की विशिष्टता है कि वे परम्परागत प्रश्नोत्तर शैली की बजाय बातचीत वाले माहौल में दर्ज हैं। पहला साक्षात्कार सोहन लाल द्विवेदी जी का है जो उनकी मृत्यु के कुछ दिनों पूर्व लिया गया था। इसमें उन्हें तीसरा अघोषित राष्ट्रकवि कह कर सम्बोधित किया गया है और कुछ ऐसी साहित्यिक सूचनाएं साझा की गयी हैं कि बिना नाम बताये पाठक स्वयं जान जाता है कि आखिर किसके बारे में बात हो रही है। एक विशिष्टता यह भी है कि उसे ज्यों का त्यों साक्षात्कार वाले दिन के वातावरण को समाहित करते हुए प्रस्तुत कर दिया गया है। शरीर से जर्जर हो चुके कवि की जिह्वा के फड़क उठने और 'अरे लाल किले पर झंडा फहराने वालों' कविता के जोर जोर से पढ़ने लगने का भी जिक्र आया है। वृद्धावस्था की जिजीविषा और मनुष्य के अतीतजीवी होते जाने की अभिशप्तता तथा सब कुछ पूर्व

में ढूँढ़ लेने की ललक आदि कुछ और ऐसी बातें हैं जो इस साक्षात्कार में उभर कर आती हैं। उस दौर की लाचारगी पर जोर देने के लिए स्वयं गांधीजी का जिफ्र सोहन लाल द्विवेदी ने किया था ‘आज जो हालत है, उसमें गांधीजी भी कुछ नहीं कर पाते और जब गांधीजी ही भुला दिये गये, तो उनके तरीकों का क्या जिफ्र!’ यह हताशा उस कवि की है जो मृत्यु के करीब होने पर भी कविता पढ़ते जोश से भर उठा था, तो आम जनता की हताशा का अंदाजा स्वयं लगाया जा सकता है।

दूसरे साक्षात्कार में राजेन्द्र यादव के मन की शल्यक्रिया करने की कोशिश की गयी है। राजेन्द्र यादव अभी जल्दी ही इस दुनिया से कूच कर गये लेकिन जब तक रहे अत्यधिक चर्चित और बहसतलब रचनाकार बने रहे। उनका साक्षात्कार भी कई दृष्टियों से अपूर्व है। इसमें उनके व्यक्तित्व के कई पक्षों पर बेबाक राय मिलती है। साक्षात्कार की पूर्वपीठिका तैयार करते हुए लिखे गये परिचय खंड में उनको हजरत, पीर साहब और न जाने किन किन नामों से नवाजते हुए अंततः उनके व्यक्तित्व से अनुप्राणित होकर उन्हें एकदम निहंग, निस्संग, निःस्पृह और निर्विकार करार दिया गया है। शीर्षक में हालांकि उन्हें ‘गुनाहों का देवता’ जैसा खिताब देकर मंशा पहले ही जाहिर कर दी गयी है कि हमें किस तरह का साक्षात्कार पढ़ने को मिलेगा। स्त्री, दलित, कहानी कला, सम्पादकीय, पुरस्कार, साहित्य राजनीति और बहुत सी बातों पर यह साक्षात्कार गम्भीर चर्चा की शुरुआत कराने लायक है।

संकलन की खास बात यह है कि चाहे संस्मरण हों या रिपोर्ताज या फिर साक्षात्कार, इसकी भाषा चुहलबाजी करती चलती है। पूरे गद्य में जबर्दस्त प्रवाह है। चुटीले शब्दों का प्रयोग बहुत बारीकी और परख के साथ किया गया है। जहां कहीं बातचीत या विषय की मांग के चलते गम्भीर वातावरण बनने लगता है वहां ये चुटीले शब्द वातावरण को हल्का करते हैं।

व्यंग्य और चुहलबाजी के अतिरिक्त संकलन की भाषा पाठकों के सम्मुख दृश्य उत्पन्न करती चलती है। संस्मरण, रिपोर्ताज आदि विधाओं के लिए ऐसी भाषा का खास महत्व होता है। जब से दर्शनीय मीडिया का प्रचलन बढ़ा है लोगों में दिखने और देखने की चाहत बढ़ती गयी है और इसका असर साहित्य पर भी पड़ा है। इसके चलते ऐसी भाषा का खास महत्व हो गया है जो पाठकों के मस्तिष्क में घटनाओं, वस्तुओं या फिर लोगों का दृश्य बनाती चले। आजकल कहानियों की भाषा में भी ऐसी शाब्दिक दृश्यावलियों के तमाम प्रयोग देखे जा सकते हैं। इस पुस्तक के सभी अध्यायों में ऐसी भाषा का प्रयोग हुआ है। राजेन्द्र यादव जी के साक्षात्कार की शुरुआत कुछ इस तरह हुई है कि उनका नाम कहीं नहीं आता और पाठक समझ जाता है कि किसके बारे में बात हो रही है। शाब्दिक दृश्य का एक उदाहरण है “प्रवेश करते ही दरवान छोड़ कर आया। साहब बहादुर का नाम सुनते ही बता दिया कि आगे जाकर बायें मुड़ जाइये, एकदम लास्ट ब्लाक, सामने एक पीपल का गाछ है। पीपल के पेड़ पर देवता इत्यादि इत्यादि का वास होता है। मामला बड़ा सांकेतिक लगा। घंटी बजाने पर एक विनम्र और प्रसन्नमुखी युवा गृहणी हमें हजरत के तकिया शरीफ तक ले गयी। अंदर कमरे में हजूर एकदम शाहाना अंदाज में विराजते थे। होगी जिसके दुश्मनों की तबीयत नासाज होती हो, यहां तो वही जीवंत और खुशमिजाज हस्ती सामने थी जिसके चेहरे पर वही नूर था, आंखों में वही चमक जिसके हम सब आदी हो चुके हैं।”

हालांकि संकलन की लम्बाई कम है परंतु गैर परम्परागत विधाओं के लिए हिन्दी साहित्य में आशा की किरण की तरह उतरी है। ‘उस रहगुजर की तलाश है’ एक नये तेवर और नये स्वाद की पुस्तक है जो हिन्दी साहित्य प्रेमियों को कविताओं, कहानियों और उपन्यासों की भारी रचनाशीलता के बीच थोड़ी विश्रान्ति देगी।

उस रहगुजर की तलाश है : राजेन्द्र राव, **प्रकाशक :** सामयिक प्रकाशन, नयी दिल्ली, **मूल्य :** 300 रु.

शब्दों के साथ नैतिक होने का साहस

शम्भुनाथ मिश्र

भूमंडलीकरण की आंधी में ढहते जा रहे मूल्यों और और पूंजी के निरंतर बढ़ रहे वर्चस्व के बीच सृजन कर्म भी निरंतर कठिन होता जा रहा है। कविता संवेदनशीलता से पैदा होती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि हम बाजारवाद की अंधी दौड़ में लगातार अपनी संवेदना खोते जा रहे हैं। संवेदनहीन समय कविताविरोधी समय भी होता है। ऐसे समय में कविता का पक्ष लेना और सार्थक रचना बड़े साहस का काम है। भक्तिकाल से लेकर समकालीन कविता तक ने इन खतरों को उठाया है। मुक्तिबोध ने तो अभिव्यक्ति के खतरे उठाने को ऐतिहासिक अनिवार्यता ही माना है। समकालीन कविता इस सृजनविरोधी समय के बीच भी लगातार हाशिये के दुख दर्द और विमर्शों को सामने लाकर एक सार्थक हस्तक्षेप कर रही है। साम्प्रदायिकता, पूंजीवाद, विस्थापन और बाजार के वर्चस्व से दिग्भ्रमित हो चुके समय में कविता के शब्द उम्मीद की तरह हैं। वस्तुतः नैतिकता और जीवन मूल्यों के विघटन के दौर में कविता हमें शब्दों के साथ नैतिक होने का साहस देती है। हमारे समय में कविता की भूमिका और उसकी सामर्थ्य को अगर हम इधर बीच प्रकाशित मदन कश्यप, निर्मला पुतुल और संजय मिश्र के कविता संग्रहों से गुजर कर देखें तो बात अधिक स्पष्ट रूप में हमारे सामने आयेगी।

कवि अक्सर छिपा होता है अपनी कायरता में

वास्तविकता का अनुभव हमेशा उससे अलग रहेगा जो वास्तविक है। जो वास्तविक है वह दैनिक क्रियाकलापों का औसत जीवन है। वह अपने में कितना ही तीव्र क्यों न हो, एक सांस से आगे जाकर वह अनिवार्यतः टूट जायेगा। अलग अलग औसत घटनाओं के बीच उस जिन्दगी को पकड़ पाना, जो दैनिक जीवन के विकृत

समझौतों, उसके ठंडे होते हुए निर्णयों के बाहर है (उसके बीच होते हुए भी), वही लेखक कर सकता है जो दैनिक यथार्थ का अतिक्रमण करने का साहस रखता हो।

निर्मल वर्मा, शब्द और स्मृति

मदन कश्यप हमारे समय के महत्वपूर्ण कवि हैं। इनके नये संग्रह **दूर तक चुप्पी** की कविताओं से गुजरते हुए निर्मल वर्मा का यह वक्तव्य बार बार ध्यान में आ रहा है। यथार्थ और उसकी पहचान के तरीके अपने आसपास एक गहरा धुंधलका बुनते हैं। वास्तव में हमारी सामान्य बुद्धि यथार्थ को उसकी एकरेखीय संरचना के आधार पर ग्रहण करना चाहती है, किन्तु जटिल समाजों का यथार्थ बहुआयामी और संश्लिष्ट होता है। साधारण औजारों से उसकी पकड़ आसान नहीं होती। साहित्य और स्पष्ट रूप में कहें तो कविता की इस मामले में ऐतिहासिक भूमिका रही है कि उसने यथार्थ की जटिल और कूटरचना को हमेशा 'डीकोड' किया है। इससे भी आगे बढ़ कर न केवल अपने समय की जटिलताओं को चिह्नित किया बल्कि आसन्न खतरों की ओर संकेत भी किया है। भक्तिकाल से लेकर मुक्तिबोध तक की कविताएं इसका पुख्ता उदाहरण हैं। निर्मल वर्मा की चिन्ता उस रचनाकार की शिनाख्त से जुड़ी है जो न केवल दैनिक यथार्थ के अतिक्रमण का साहस रखता हो बल्कि उसकी आड़ में चल रहे षडयंत्रों, कुकृत्यों और दुरभिसंधियों के कूट को भेद सके। मदन कश्यप किस तरह के कवि हैं, यह कहने या सिद्ध करने का यहां कोई प्रयोजन नहीं है, किन्तु उनकी कविताओं तक पहुंच कर यह लगता है कि उनके पास यथार्थ को देखने की आवरणविहीन दृष्टि है।

सच्ची कला अभ्यस्तीकरण का निषेध करती है। कला के संदर्भ में की गयी यह टिप्पणी कविता सहित अन्य साहित्य रूपों पर भी लागू होती है। दैनिक के क्रियाकलाप कविता नहीं होते। उनके बीच बहने वाला जीवनराग कविता होता है। रोजमर्रा की घटनाओं को कविता में बदलने की कला व्यापक तैयारी और वैचारिक परिपक्वता से सम्भव होती है। मदन कश्यप संग्रह की शुरुआती कविताओं से ही वैचारिक स्तर पर तैयार और प्रतिबद्ध कवि के रूप में पाठक तक आते हैं। उनकी प्रतिबद्धता उन्हें समाज की नब्ज तक ले जाती है। संग्रह के तीन खंड हैं - दुख इतना था, फिर से आग और परिशिष्ट। पहले खंड में इधर-बीधर लिखी गयी कविताएं हैं तो बाकी के दो खंडों में एक दो दशक पुरानी कविताएं संकलित हैं। इस संग्रह का शीर्षक बहुत आकर्षक नहीं है पर एक अलग तरह का प्रभाव छोड़ने वाला है। चुप्पी का एक अलग मनोविज्ञान और समाजशास्त्र होता है। संग्रह को पढ़ने की शुरुआत अगर शीर्षक से जुड़ी कविताओं से करें तो इनकी कविताओं को समझने की एक पृष्ठभूमि भी तैयार हो जाती है। एक छोटी सी चुप्पी के पीछे भी यातनाएं, षडयंत्र और दुरभिसंधियां छिपी हो सकती हैं। प्रत्येक चुप्पी कायरता नहीं होती है और हर चुप्पी के पीछे सब कुछ ठीक होने का संकेत भी नहीं छिपा होता है - *आदमी के चुप रहने का मतलब यह तो नहीं / कि उसके भीतर कोई हलचल नहीं है।* हमारे चुप रहने से हमारे बाहर तो सब कुछ शांत रहता है लेकिन अंदर लगातार एक हलचल मची रहती है। चुप्पी की एक राजनीति होती है, कई बार असहायता और हथियार भी। यह औसत सोच है कि व्यवस्था के खिलाफ बोलने से बेहतर है चुप रहना। दरअसल चुप रहना हमारे अभ्यास का हिस्सा है। जैसा कि पहले भी उद्धृत है कि कला सदैव अभ्यस्तीकरण का निषेध करती है। मदन कश्यप की कविताएं इसलिए भी महत्वपूर्ण हैं क्योंकि वे हमारे इस अभ्यास के खिलाफ जाती हैं। अमूमन लोग ऐसी चीजों के अभ्यस्त होते हैं जो व्यवस्था और बाजार हमारे लिए तय करता है। अब तक व्यवस्था और बाजार दोनों ने एक होकर मजबूत गठजोड़ बना लिया है। ऐसे समाज में कुछ भी समुच्चय देखे जाने योग्य नहीं है। 'टोटैलिटी' को हमारे सामयिक यथार्थ ने बुरी

तरह से खंडित किया है। हम अंशतः सही और अंशतः गलत हैं। अंशतः नैतिक और अंशतः अनैतिक हैं। हम सोचते कुछ तथा करते कुछ और हैं। यह एक गम्भीर 'विपर्यय' है। कवि को इसकी बारीक समझ है, इसलिए इसके विरोध के तर्क भी उनकी कविता में हैं। वस्तुतः आजकल शब्द वहां ज्यादा हैं जहां उनकी जरूरत नहीं है। और जहां होनी चाहिए थी भाषा की मजबूत उपस्थिति। वहां दूर तक फैली हुई है चुप्पी। कवि इसका एक उदाहरण भी देते हैं कि *प्यार करने वाले बहुत बोल रहे हैं और बहस करने वाले ज्यादातर चुप हैं।* जनता को चुप रखना व्यवस्था के लिए एक चुनौती है। इसलिए इससे निपटने के आसान तरीके के तौर पर अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर लगातार बंदिशें लगायी जा रही हैं। अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता लोकतांत्रिक व्यवस्था का सबसे ताकतवर स्तम्भ है। जाहिर है कि आजकल सबसे ज्यादा हमले भी इसी पर किये जा रहे हैं। इसलिए कवि चुप्पी के पीछे का समाजशास्त्र समझते हुए इसे सिरे से खारिज करता है। हम रोज देख रहे हैं कि *चुप्पे आदमी की जमीन सबसे पहले छीनी जाती है/किसी भी आपदा में सबसे पहले/और सबसे ज्यादा मारे जाते हैं चुप्पे लोग।*

मदन कश्यप एक चुभने वाले कवि हैं। उनकी बहुत सारी कविताएं हमारे प्रचलित आचार शास्त्र का अतिक्रमण करती हैं। उनकी कुछ लाइनें कई लोगों को असहज कर सकती हैं क्योंकि उनमें कई छद्म मुखौटों को तोड़ने की बेचैनी दिखती है। इसलिए कई बार वे बुरे भी लग सकते हैं। खासकर जब वे 'छिपना' जैसी कविता लिख रहे हों। दरअसल वे हमारे समय के उस छद्म को आवरणविहीन करने की कोशिश में दिखते हैं, जिसके पीछे कहीं न कहीं हम सब छिपे हैं *कोई छिपा है हवश में/तो कोई अवसरवाद में/कोई सूचनाओं में छिपा जाता है तो कोई विश्लेषण में/कुछ चालाक लोग तो विचारधारा तक में छिप जाते हैं/और कवि अक्सर छिपा होता है अपनी कायरता में।* इस तरह की पंक्तियां काफी जोखिम भरी हैं जिन्हें लिखने का साहस कम ही कवियों में दिखता है। वस्तुतः कविता में इस तरह की ताकत कवि की प्रतिबद्धता और स्पष्ट वैचारिकी से आती है। कवि को बाजार के विभिन्न चेहरों और उन पर चढ़े मुखौटों की महीन पहचान है। वे बाजार की चमक के जरिये रचे गये छद्म को भी बखूबी पहचानते हैं। दरअसल अब बाजार इतना शक्तिशाली हो गया है कि उसकी ताकत का अनुमान भी हमारी पकड़ से छूट चुका है। दूर तक चुप्पी में बाजार के मायाजाल को उजागर करती पांच कविताएं हैं। बाजार हमारे दैनिक यथार्थ का हिस्सा है। हम बाजार की कितनी भी निन्दा कर लें किन्तु हम सब उसका एक भाग हैं और उसके बिना अधूरे भी हैं। बाजार न केवल हमारी दिनचर्या बल्कि रुचि, संस्कार और संवेदना तक को संचालित कर रहा है। कवि बाजार की इस बढ़ती हुई पहुंच से चिन्तित है। इसका मायाजाल कितना भ्रामक है इसे इन पंक्तियों में देखा जा सकता है कि *खरीदने वाले को अक्सर मालूम नहीं होता/कि दरअसल वे अपने को बेच रहे होते हैं।*

अपनी राजनीतिक कविताओं से अलग जीवन के अन्य पक्षों पर भी मदन ने तन्मयता से लिखा है। संग्रह की पहली ही कविता का शीर्षक है 'दुख'। निरंतर एक ही तरह की परिस्थितियों में जीते हुए हम अपने आप को उसी के अनुरूप ढाल लेते हैं। जब दुख जीवन का स्थायी भाव बन जाता है तब हम उसके अभ्यस्त हो जाते हैं। इतने अभ्यस्त कि हमारे अस्तित्व के प्रत्येक हिस्से में उसकी छाया दिखती है। मदन कश्यप संग्रह की पहली कविता में *खुद को दुख के विस्तार तक ही सीमित रखते हैं, उसके कारणों में नहीं जाते क्योंकि कारणों की पहचान वे आगे कविता दर कविता करते हैं* *दुख इतना था उसके जीवन में / कि प्यार में भी दुख ही था / उसकी आंखों में झांका / दुख तालाब के जल की तरह ठहरा हुआ था।* इसीलिए संग्रह के पहले खंड का उन्होंने उपशीर्षक

ही दिया है 'दुख इतना था'। कवि स्मृतियों को सहेज कर रखने का पक्षधर है। स्मृतियां हमारे जीवन की अमूल्य धाती हैं। वे हमारा सम्बल होती हैं और कठिन वक्त में काम आती हैं। स्मृतियों का बचे रहना हमारे बचे रहने का सबूत है। आजकल संचार के विभिन्न माध्यमों, मीडिया और चकाचौंध भरे बाजार ने हमारी स्मृतियों पर गहरी चोट पहुंचायी है। हम स्मृतियों को अतिरिक्त सामान की तरह हटा देना चाहते हैं। हमारे वर्तमान के लिए जो उपयोगी नहीं है ऐसी किसी भी स्मृति को बचा कर रखने में हमारी दिलचस्पी घटती जा रही है। कवि इस हिस्से को खंडित होते देख कर विचलित है साथ ही क्षुब्ध भी है *हमारे समय में प्रेम / कोई निशानी नहीं छोड़ता / कुछ स्मृतियां होती हैं जो बहुत दिनों तक / बरछी की तरह चुभी रहती हैं / धीरे धीरे उनका लोहा भी गल जाता है*। इस कविता के जरिये हमारे समय में 'प्रेम' को भी समझा जा सकता। अब प्रेम अपने पीछे कोई स्मृति नहीं छोड़ना चाहता है। दरअसल हम सभी एक खंडित समयबोध के साथ जी रहे हैं। विचारधारा, समाज, परिवार, राजनीति, नैतिकता जैसे प्रत्यक्ष लगातार खंडित हो रहे हैं। प्रेम का स्वरूप भी इन्हीं प्रत्यक्षों के बीच कहीं तय होता है। इसलिए खंडित समय में प्रेम की अखंडता भी अवांछित हो चुकी है। सच्चा प्रेम खुद को अभिव्यक्त नहीं करता। वह रहस्य के एक पर्दे में ढंका रहता है। इसके ठीक विपरीत आज प्रेम की गम्भीरता से अधिक उसका प्रदर्शन माने रखता है। हम भावों से अधिक शब्दों का भरोसा कर रहे हैं। ऐसे में इस तरह की पंक्तियां बहुत प्रासंगिक हो जाती हैं, कि *भले ही कुछ बड़ी कर दी हो हमारी दुनिया / शब्दों ने बहुत कम कर दिया है हमारा प्यार*।

मदन कश्यप एक प्रतिबद्ध कवि हैं। ऐसा उनकी कविताओं से गुजर कर कहा जा रहा है। उनकी कविता की अस्थि मज्जा मनुष्यता के प्रति उनकी गहरी प्रतिबद्धता से पोषण पाती है। अनेक राजनीतिक और वैचारिक चिन्ताओं के बावजूद उनकी कविता वहीं ज्यादा देर तक टिकती है जहां जहां वंचना, अभाव और शोषण के बीच जीने को अभिशप्त लोग हैं। जब आपदा, भय और भूख से इंसान एक साथ घिरता है, तब भूख बाकी सब को हरा देती है। वंचित समाज में भूख से बड़ी कोई कमजोरी और सचाई नहीं है। इसीलिए *बाढ़ में घिरे लोग / मृत्यु से नहीं डरते / मौत से बड़ी / हो जाती है तब भूख*। शोषणकारी अर्थतंत्र की नीतियों से पैदा होने वाली आर्थिक असमानता और गरीबी के कुचक्र को लेकर कवि के मन में गहरा क्षोभ है। कवि अंततः उन्हीं के बीच रहना चाहता है जहां भूख, गरीबी और जहालत से लड़ते लोग हैं। संग्रह की 'दंतेवाड़ा' कविता कवि की इस जद्दोजहद को स्पष्ट करती है *लाल मिट्टी वाली पहाड़ी सड़कों / और पगडंडियों से गुजरने के बाद / धूल और कीचड़ से लथपथ / अपने जूते मैंने उतारे / और मेरे पांव वहीं रह गये... यहां दिल्ली में हैं मेरी आंखें / और सपने सारे दंतेवाड़ा में*। ठीक यही प्रतिबद्धता उनकी स्त्री केन्द्रित कविताओं में भी दिखती है, जहां वे स्त्रियों के अपमान और वंचनापूर्ण इतिहास का गहरा प्रतिकार करते हैं।

'दूर तक चुप्पी' कवि का चौथा संग्रह है। अपने रचाव में यह छोटी कविताओं से बना है, मगर कविताओं का आकार उनकी सम्प्रेषणीयता को कहीं से भी खंडित नहीं करता है। जहां जितने विस्तार की आवश्यकता थी वहां उतना दिखायी देता है। सन् 1992 में इनका पहला संग्रह आया था। जाहिर है कि वे लगभग दो दशकों से कविता लिख रहे हैं। इसलिए अनुभव की कमी कहीं भी इनकी कविता की कमजोरी नहीं बन पायी है। संग्रह के अंत में दिये कविता परिशिष्ट में सम्भवतः ऐसी कविताएं हैं जो पहले भी प्रकाशित हो चुकी हैं और उनकी काव्ययात्रा के अहम पड़ाव की तरह हैं। हमारे समय में भाषाई खिलवाड़ और वैचारिकता के गैर जरूरी रसायन से बिगड़ती कविता के लिए इस तरह के उलझाव से रहित कवि बहुत माने रखते हैं। किन्तु इन विशेषताओं के बावजूद मदन कश्यप को हम जिस तरह की कविताओं के लिए जानते हैं, उनकी संख्या इस संग्रह में कम ही है।

हरी मखमली घास नहीं है देह

वे तीर और तीर के लक्ष्य नहीं जानते / तभी तो इतिहास के पन्नों से मिटाना चाहते
हैं तुम्हारा नामोनिशान

निर्मला पुतुल दुख, संघर्ष, क्रांति और पलायन के प्रचलित संदर्भों से काम चलाने वाले कवियों की परिधि से बाहर के संसार की कवयित्री हैं। आदिवासी अस्मिता और स्त्री जीवन के दोहरे संघर्षों के बीच से निकली उनकी कविता वेदना और अभाव को एक अपनत्व भरा स्वर देती है। निर्मला पुतुल मूलतः संथाली भाषा की कवयित्री हैं। समकालीन हिन्दी कविता में उनकी उपस्थिति को दर्ज कराने वाला उनका पहला कविता संग्रह 'नगाड़े की तरह बजते शब्द' मूल संथाली से हिन्दी में अनूदित है। अनुवाद होने के बावजूद भी कहीं से न तो कविता की मूल संवेदना खंडित हुई है और न ही मूलभाषा का ताप मरने पाया है। निर्मला की कविताएं हिन्दी के पाठकों के लिए लगभग नये और अनचीन्हें आस्वाद की हैं। उनकी कविता की नसों में संथाल परगना का रक्त और छाती में आदिवासी दिल की धक धक को साफ सुना जा सकता है। हिन्दी में आदिवासियों के जीवन और संघर्षों पर कविता लिखने वालों की फेहरिस्त कोई लम्बी नहीं है। जो कुछ मुख्यधारा में है भी तो उसकी विश्वसनीयता संदिग्ध है। अनुभवों का खरापन और उसकी अभिव्यक्ति का कलात्मक विस्तार अत्यंत विरल है। निर्मला की कविताएं इस सन्नाटे को तोड़ कर एक अलग संसार निर्मित करती हैं।

कविता हमेशा जीवन के महीन अनुभवों से पैदा होती है। निर्मला के पास अनुभवों की भरी पूरी थाती है जिसे उन्होंने पुरखों के संघर्षों के पिटारे से निकाला है। उनकी कविता इस तरह के महीन और गड़गड़ाने अनुभवों से भरी है जो उनकी कलात्मक विरलता को भी पाट सकते हैं। वैसे भी अब कविता में अलग से किसी कलात्मकता की गुंजाइश नहीं रह गयी है। समकालीन कविता ने पिछले एक डेढ़ दशकों में अपना स्वरूप इस तरह बदला है कि अब यहां कला कम जीवन अधिक बोलता है। समकालीन कविता की सही अर्थों में कोई भाषा हो सकती है तो वह जीवन, संघर्ष और मनुष्यता की भाषा ही होगी। निर्मला की काव्यभाषा आदिवासी समाज के यातना और संघर्ष भरे इतिहासबोध से तैयार हुई है। इस उत्तर औपनिवेशिक समय में आदिवासी पूंजीवाद के सीधे निशाने पर हैं। प्राकृतिक संसाधनों पर कब्जे की जंग में आसान शिकार बनने वाली जंगल में रहने वाली जातियां नवसाम्राज्यवादी नीतियों की मार झेलने को अभिशप्त हैं। आदिवासियों के दुख और संघर्ष ही निर्मला पुतुल की कविता का जीवद्रव्य हैं। **बेघर सपने** निर्मला का नवीनतम कविता संग्रह है जो हिन्दी कविता के समकाल में उनके विस्तार का सूचक है। संग्रह की कविताओं का विषयप्रदेश सुदीर्घ और विस्तृत है किन्तु प्रमुखता स्त्री जीवन और आदिवासी समाज के संघर्षों से जुड़ी कविताओं की है। प्राकृतिक संसाधनों के अंधे दोहन और जल जंगल जमीन पर कब्जे की नवसाम्राज्यवादी नीतियों के कारण प्रकृति पर सीधे निर्भर रहने वाली जातियों का अस्तित्व संकटग्रस्त हो गया है। उन्हें अपने दैनंदिन जीवन की आवश्यकताओं के लिए भी भटकना पड़ता है। सरकार और पूंजी के गठजोड़ से पैदा हुआ भ्रष्टतंत्र इस सुविधाविहीन समाज के लिए एक काटेदार रास्ता तैयार कर चुका है। निर्मला की कविताओं में इस तरह के दर्जनों प्रसंग मिलेंगे जहां शोषणकारी तंत्र के कई रहस्यों को आवरणविहीन देखा जा सकता है। उन्हें अपनी मौजूदा स्थिति के साथ ही पूंजीवादी चालाकियों की भी गहरी पकड़ है। इसलिए वे सावधान हैं *सौ बार सोचना पड़ेगा हमें / सोचना पड़ेगा, अपनी झोपड़ी के बदले / तुम्हारा आवास लेने से पहले / तुम्हारे हर प्रस्ताव पर गौर करना पड़ेगा / और तुम्हारे समझने के तरीकों को भी /*

समझना पड़ेगा। निर्मला अपनी कविताओं में विकास के उस छद्म मॉडल का प्रत्याख्यान करती हैं जो बस्तियों और जंगलों को उजाड़ कर कारखाने उगाना चाहता है। जो पहाड़ों का सीना चाक कर शहरों को संगमरमरी बनाना चाहता है। जो जंगलों के जीवनदायी पेड़ों को अमीरों के फर्नीचरों में तब्दील कर देना चाहता है। कवयित्री को न केवल इस मनुष्यविरोधी मॉडल की पहचान है बल्कि इस मॉडल को लागू करने वाले मस्तिष्क की क्रूर भविष्यसृष्टि को भी वह भांप लेती हैं। कवयित्री के मन में इस सब पर लिखते हुए एक गहरा आक्रोश भी उफान ले रहा है। इस मनुष्यता विरोधी दौर और व्यवस्था के खिलाफ उनके मन में लगातार पैदा हो रहा आक्रोश उनकी कविता को विश्वसनीय भी बनाता है। जब निर्मला आदिवासी समाज के दुखों, संघर्ष और आक्रोश को अपनी कविता में स्वर देती हैं तो कहीं से भी असंगत नहीं लगता, क्योंकि उनके भीतर पल रहा आक्रोश उनकी कविता का समाजशास्त्र रचता है। उनकी कविता का रसायन इस समाज की आंतरिक अनुभूतियों के निरंतर साहचर्य से निर्मित हुआ है। यद्यपि संग्रह की कविताओं के लक्ष्यक्षेत्र अलग अलग और विविधा भरे हैं, किन्तु आदिवासियों और स्त्रियों की पीड़ा पर केन्द्रित कविताएं अधिक ध्यान खींचती हैं। वस्तुतः निर्मला पुतुल की पहचान भी इन्हीं विषयों पर लेखन से ही बनी है।

निर्मला और कुछ भी होने से पहले एक स्त्री हैं, और इसका उन्हें पर्याप्त बोध भी है। इसलिए स्त्री जीवन की पीड़ा, दुख, अपमान, पराजय और अभाव को उसकी सम्पूर्ण लयबद्धता के साथ इनकी कविता में बहते देखा जा सकता है। दुख और संघर्ष की भी एक लयबद्धता होती है। यह लय वास्तव में जिजीविषा और संघर्ष क्षमता से पैदा होने वाले आदिम राग की होती है। निर्मला की कविताओं में यह आदिम राग अंतरतम से आती हुई हृदयभेदी प्रतिध्वनि की तरह गुंजित होता है *पीड़ा पर बैठ / दिवरी की टिमटिमाती रोशनी में / पत्तल टीपती मां / कब सोती जागती हम नहीं जानते / कितना जागती है / हमारी नींद के लिए / क्या मां सचमुच धरती है / जो कभी नहीं थकती*। मां पर बहुत कविताएं लिखी गयी हैं। रक्त सम्बंधों में सर्वाधिक स्मृत किया जाने वाला सम्बंध है 'मां'। मां की स्मृतियों से जुड़ी हुई निर्मला पुतुल की कविताएं शब्द दर शब्द एक चलचित्र की तरह हमारे मानस पर घटित होती हैं। संग्रह की पहली ही कविता का शीर्षक है 'मां'। कवयित्री दैनंदिन जीवन की आवश्यकताओं के संघर्ष में जूझती मां के बहाने से एक आम आदिवासी औरत के कठिन जीवन को उधारती हैं। यह बड़े महत्व की बात है कि इनकी कविताओं में कविता के राजमार्ग से बहिष्कृत हो चुके विषयों को भी सूक्ष्मता से पकड़ने की कोशिश रहती है। दलित और आदिवासी विमर्श के घटाटोप और शोरगुल के बीच द्विस्तरीय शोषण की शिकार इन वर्गों की स्त्रियों की पीड़ा और दुख की बारीक पकड़ समकालीन कविता में कम ही दिखती है। निर्मला पुतुल कवि गोष्ठी में स्त्रियों पर कविता पढ़ रहे कवियों से सवाल करती हैं कि पहाड़ पर रो रही स्त्री और तिमंजिले महल की खिड़की से झांक कर मुस्कुरा रही स्त्री के बीच की छूटी हुई जगहों को क्यों दर्ज नहीं करते हो? स्त्री विमर्श, आदिवासी अस्मिता और प्रतिबद्ध लेखन के नाम पर फैले हुए छद्म को इनकी कविताएं सिरे से खारिज करती हैं। निर्मला इस बात को बखूबी समझती हैं कि स्त्री के 'स्व' और 'अन्य' के बीच चल रहे संघर्ष में स्त्री की नियति, विवशता और सामर्थ्य की दास्तान सीधी सपाट नहीं हो सकती। उसमें भाषा की जटिलता संवेग संकुलता और अकुलाहट का मार्मिक राग जरूर समाहित होगा। संग्रह के कविताओं की औरतें पहाड़ों जंगलों में भटकती दाना पानी का जुगाड़ करने वाली औरतें हैं। जिनके पास केवल एक ही राग है वेदना का और एक ही स्वर है दुःख और पीड़ा का। निर्मला की कविता को भी दुःख ने ही 'मांजा' है। यह दुःख उनका व्यक्तिगत ही हो, यह आवश्यक नहीं। यह उस समूचे समुदाय और स्त्री जाति का साझा दुःख है, जिसे कवयित्री ने अपना स्वर दिया है।

कवयित्री अपने सृजन के क्षणों में लगातार दो तरह के प्रश्नों से टकराती हैं। पहली कोटि के वे प्रश्न जो अपने आप से हैं और दूसरे वे जो सीधे सत्ता और समाज को सम्बोधित हैं। उनकी यह प्रश्नाकुलता असाधारण या अनायास नहीं है। साम्राज्यवादी शोषणतंत्र सत्ता के दुरुपयोग से ऐसी दुरभिसंधियों की रचना करता है जिसमें सवालों की नजरबंदी सबसे पहले तय होती है। चूंकि शोषणकारी तंत्र के पास अपनी नीतियों को लेकर कोई संतोषजनक स्पष्टीकरण नहीं होता इसलिए जवाब न मिलने की बेचैनी धीरे धीरे तीव्र आक्रोश में तब्दील हो जाती है। शोषणकारी तंत्र इस आक्रोश की भ्रूणहत्या करना चाहता है इसलिए हमारी प्रश्नाकुलता को समूल नष्ट करना उसका प्राथमिक लक्ष्य होता है। निर्मला पुतुल इस तंत्र की दुरभिसंधियों से परिचित हैं इसलिए अपने उठ रहे सवालों को और भी धार देती हैं। उनके यहां प्रश्नों की एक लम्बी श्रृंखला है। वे मां से प्रश्न करती हैं, प्रेमी से प्रश्न करती हैं, समाज से प्रश्न करती हैं, सत्तासीनों से जवाब मांगती हैं। खुद अपने आप से कई चुभते सवाल करती हैं। उनके सवालों की जद में सुविधासम्पन्न तबके का प्रत्येक नागरिक है। उनके उठाये ज्वलंत प्रश्न किसी भी संवेदनशील हृदय को स्तब्ध करने वाले हैं। वे पूछती हैं अगर तुम मेरी जगह होते देखना पड़ता भूख से बिलबिलाते बच्चों का चेहरा / तो कैसा लगता तुम्हें? ...अगर तुम्हारी बेटियों को लाना पड़ता / कोस भर दूर से ढोकर झरनों से पानी। उनकी कविताओं का चरित्र मूलतः राजनीतिक हैं। अपने समय की राजनीति, सत्तातंत्र और उसके पावर डिस्कोर्स की उन्हें गम्भीर समझ है, जो उनकी कविताओं में भी दिखती है। लेकिन अपनी राजनीतिक कविताओं से अलग भी उनका कविता संसार है। वे मां पर कई कविताएं लिखती हैं, वेश्या, गमछा, कुर्सी, बायोडाटा, गजरा बेचने वाली स्त्री, शहर, सद्दाम की फांसी, कुत्ते, बिल्ली और यहां तक कि केंदार नाथ सिंह के बहुचर्चित प्रतीक 'बाघ' पर भी इस संग्रह में कविता है। इनके यहां अस्मितामूलक स्वरो की केन्द्रीयता के बावजूद विभिन्न विषयों पर कविताएं हैं। इनकी कविता की रेंज व्यापक है। बावजूद इसके यह कहने में कोई संकोच नहीं है कि निर्मला सब कुछ की कवयित्री नहीं हैं। उन्हें अगर पढ़ना है तो उनकी कविता के प्रस्थानबिन्दु से शुरू करना होगा। अस्मिता विमर्शों के आलोक में ही उनकी कविता के वास्तविक मर्म को पकड़ा जा सकता है। वस्तुतः यह कवयित्री के लिए एक सीमारेखा की तरह है। इससे बाहर निकलने पर कविताओं का आंतरिक नैरतैर्य खंडित होता दिखायी पड़ता है। हिन्दी कविता के मानचित्र पर उन्हें कितनी जगह मिलेगी, यह बता पाना थोड़ा कठिन है पर यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि निर्मला पुतुल हमारे समय की एक जरूरी कवयित्री हैं।

जब सब जगह से साफगोई के रास्ते बंद हो जाते हैं तब खुलता है कविता का रास्ता

संजय मिश्र समकालीन कविता के पाठकों के बीच बहुत सुपरिचित नाम नहीं है। **उम्मीद की तरह एक विचार** उनका पहला कविता संग्रह है। लेकिन संग्रह की कविताओं से परिचय का विस्तार होते ही कवि शीघ्र हमारी आत्मीयता अर्जित कर लेते हैं। दरअसल यह आत्मीयता अनुभूतियों के समभाव से उत्पन्न होती है। उनके अनुभवों से अचानक ही हमारा साधारणीकरण सम्भव हो जाता है। कविता हमारे लिए मनुष्यता की बेहतरी का संवाद है। संजय मिश्र की कविता में मनुष्यता एक 'उम्मीद' की तरह है, जिसे हर हाल में बचा कर रखने की जिद इनकी कविता का रक्त चरित्र है। इनकी कविता पाठक को एक गजब की लय में बांध लेती है। निरंतर गद्यमय होते समय में लयबद्धता की यह काव्य भाषा सहज ही आकर्षित करती है। संजय मिश्र न केवल भाषा और स्ट्रक्चर में बल्कि विषयवस्तु के स्तर पर भी बेहद सजग कवि हैं। उनकी कविता, उनकी गहरी सामाजिक संसक्ति से खाद पानी

ग्रहण करती है। यह सत्य है कि भूमंडलीकरण के दौर में व्यक्तिनिष्ठ होते जा रहे समाज के बीच सम्बंधों को जिलाए रखने की ऊर्जा लगातार क्षरित हो रही है। व्यक्तिवाद ने सामूहिकता के विनष्टीकरण की मुहिम छेड़ रखी है। हम सभी ग्लोबल होने की चाह में लोकल से दूर होते जा रहे हैं। हम अपनी खुशियां, विवेक, जमीन, संस्कृति और जरूरत तक को मल्टीनेशनल कम्पनियों के हवाले कर चुके हैं। पूंजी और लाभ की संस्कृति के बहुमुखी नर्तन में कविता हमारे लिए एक उम्मीद की किरण है। लेकिन यह उम्मीद भी उसी कविता से बनी रह सकती है जिसमें केवल कविता ही न हो, विचार भी हो। यह कहने में कोई संकोच नहीं है कि समकालीन कविता में उभर रहे कवियों में कितनों के पास विचार है, यह उंगली पर गिना जा सकता है। संजय मिश्र भी संग्रह प्रकाशित होने के लिहाज से नये कवि कहे जा सकते हैं; यह और बात है कि कविता लिखते हुए उन्हें लम्बा समय गुजर चुका है। आत्मस्वीकृति और आत्मविस्तार एक बड़ी रचना को सम्भव बनाते हैं। कविता के लिए तो यह अपरिहार्य की श्रेणी में रखे जा सकते हैं। संग्रह की कविताओं से गुजरते हुए बराबर यह लगता है कि ये कवि के आत्मविस्तार जरूरी हिस्से हैं। संग्रह को पढ़ने की शुरुआत अगर 'ईश्वर को धन्यवाद' कविता से करें तो कवि की वैचारिकता और स्वीकार के साहस को अधिक नजदीक से जानने का मौका मिल जाता है। वास्तव में कोई आसमानी खुदा कभी हमारी मदद के लिए नहीं आता। हमारे अपने लोग और हमारा संघर्ष ही हमें जिन्दगी की जरूरी ऊर्जा उपलब्ध कराता है। कवि संजय मिश्र किसी भी तरह के दूसरे 'ईश्वर' से बचे हैं और बचे रहना चाहते हैं। वे तो 'गॉड फादर' के जमाने में अपना कोई जमीनी खुदा तैयार करने से भी दूर रहे हैं। उनकी इस स्वीकारोक्ति को अगर सच मान लिया जाये तो यह वही कर सकता है जिसमें अकेले संघर्ष करने का मादूदा हो। इस कविता को पढ़ते हुए दुष्यंत कुमार की पंक्तियां याद आती हैं, जिन्होंने लिखा था कि *हमने तमाम उम्र अकेले सफर किया / हम पर किसी खुदा की इनायत नहीं रही।* अब दुष्यंत की कविता का यह तेवर किन परिस्थितियों में निर्मित हुआ, यह बताने की जरूरत नहीं है। संजय मिश्र की कविता भी ऐसी ही कठिनाइयों के बीच से निकली कविता है। वे ईश्वर का धन्यवाद करते हैं कि उन्हें कभी उसकी जरूरत नहीं पड़ी *दुनिया में मुझे आने को मां बाप ही काफी थे... मैं इतना कृतघ्न नहीं कि इसका श्रेय तुम्हें दे दूं / मुझे आदमी बनाने की जद्दोजहद में मेरी मां के हाथ का आखिरी कंगन भी उतर गया।* यह कवि के आत्मस्वीकार के साहस का ही एक नमूना है, साथ ही उस अंध आस्था पर चोट भी है जो संघर्ष से अधिक ईश्वर का सहारा खोजती है।

संजय मिश्र के पास कविता का कोई सीधा समीकरण नहीं है। इसलिए वे अपनी कविता का कोई सर्वमान्य और सुपरिचित रास्ता भी नहीं चुनते हैं। वस्तुतः उलझे हुए समय की कविता का कोई सीधा समीकरण नहीं हो सकता। महावरेबाजी और नारों के कविता में तब्दील हो जाने का समय अब बीत चुका है। हमारे समय का यथार्थ इतना भ्रामक और जटिल है कि लगातार हमारी पकड़ से छूटता जा रहा है। हम सब एक भूमंडलीकृत विश्व के नागरिक हो चुके हैं, इसलिए यथार्थ की स्थानिकता और लोकैलिटी जैसे मुद्दे अप्रासंगिक सिद्ध हो चुके हैं। बाजार ने समूचे विश्व में एक अद्भुत साम्य खड़ा कर दिया है। हर जगह पूंजी, विज्ञापन और बाजार का नृत्य चल रहा है। इस घटाटोप के बीच यथार्थ को पहचानने का कोई एकरेखीय मॉडल नजर नहीं आ रहा है, जिसे अपनाने में सहूलियत हो। लेकिन यह भी एक ऐतिहासिक सचार्ड है कि कविता अपने समय के अंधेरों को भेद कर उसके भीतर चल रहे गोपनीय से मुठभेड़ करती है। जब कविता को यह ऐतिहासिक जिम्मेदारी निभानी है, तो वह कैसे अपने लिए कोई आसान रास्ता चुन कर निकल सकती है। संजय कविता की इस भूमिका से परिचित हैं और इसके प्रति जिम्मेदार भी हैं। इसलिए उनकी कविताएं यथार्थ को पूरी गम्भीरता से परखने की कोशिश करती हैं। वे न तो यथार्थ का मजाक उड़ाती हैं और न ही यथार्थ

से खेलती हैं। वे अपने को किसी भी प्रचलित समीकरण से बचा लेना चाहती हैं। अपने आसपास फैले हुए धुंधलके के बीच रची जा रही दुरभिसंधियों और मनुष्यता विरोधी षडयंत्रों पर उनकी गहरी नजर है। रिश्तों के बीच पल रहे गहरे अविश्वास और जीवन में घर कर चुकी अनिश्चयता जिस गहरे अंधेरे का सृजन कर रही है, कवि उसे छांट देना चाहता है। कवि सच को सच की तरह कहने का पक्षधर है, पर अंदर का डर और लोभ उसे रोके रखना चाहता है *मन तो करता है कि / गलत को गलत कहूं पर कहता हूं सर / ...हजारों हजार बातें हैं / जहां हम डर से या लोभ से / कभी भी कुछ साफ साफ नहीं कह पाते।* इस कविता के जरिये संजय मिश्र इस शाश्वत प्रश्न से भी जूझते दिखायी देते हैं कि कविता की वास्तविक भूमिका क्या है? क्या कविता में सब कुछ साफ साफ कहने से बचना चाहिए? और क्या अब सीधी सरल भाषा की कविता सामयिक यथार्थ को व्यक्त कर पाने में अक्षम हो चुकी है? वस्तुतः यह कविता से ज्यादा कवि की भूमिका की पड़ताल है। कविता किसी लाभ लोभ की मोहताज नहीं होती पर कवि जरूर हो सकता है। व्यक्ति के जीवन में निरंतर बन रही संकुचित सीमाओं के बीच भी संजय कविता के जरिये सच को बयान करने की जिद पर अड़े रहने वाले कवि हैं। उनका दृढ़ निश्चय कहता है कि *जब सब जगह से साफगोई के / रास्ते बंद होते हैं / तब खुलता है कविता का रास्ता।*

परिवार हमारे जीवन का अहम हिस्सा है। परिवार को बांधे रहने का जिम्मा 'घर' पर होता है और घर को जिलाए रखने की जिम्मेदारी बच्चों पर होती है। दरअसल बच्चे उम्मीद का दूसरा नाम हैं। कवि को बच्चों से बहुत उम्मीद है इसलिए संग्रह की पहली ही कविता से वे बच्चों में चुकते जा रहे बचपन को लेकर गहरी चिन्ता में दिखते हैं *अपनेपन की गंध दूर से ही / पहचान लेने वाले बच्चे / हमेशा उन्मुक्त और व्यस्त / ऐसे बच्चे अब कहां हैं? बच्चे अब बच्चे नहीं रहे / सब जानते हैं वे / कि कैसे लंगड़ी मार कर आगे निकला जाये।* बच्चे वही सब सीखते हैं जो हमारे घरों में घटित होता है। उनके मूल्यों का निर्माण भी वहीं से होता है। इसलिए हमारी अंधी दौड़ में अगर वे शामिल हो रहे हैं, तो इसकी जिम्मेदारी भी हम पर ही आती है। परिवार, बच्चे और घर जैसे विषयों पर लिखते हुए कवि में एक गहरी आत्मीयता दिखती है। संग्रह में 'घर' शीर्षक से छः कविताएं हैं। ये कविताएं हमें घर और मकान के बीच का अंतर समझाती हैं। वस्तुतः घर ईंट सीमेण्ट से बनी किसी निर्जीव चीज का नाम नहीं है बल्कि घर की बुनियाद विश्वास, प्रेम और आत्मीयता के जोर पर रखी जाती है। इसलिए घर कवि के लिए सर्वोपरि भी है। उसे बचाये और बनाये रखने की जिम्मेदारी उसकी प्राथमिकता सूची में सबसे ऊपर है। जब वह कहते हैं *घर / मेरे माथे पर लगा / चमकता / काजल का टीका है / जिसे तुमने... बड़े दुलार से लगाया है / दुनिया की हर बुरी नजर से / हम दोनों को बचाने को।* तब घर से उनके जुड़ाव पर अलग से कुछ कहने की जरूरत नहीं रह जाती है।

संजय मिश्र इस अंधेरे समय में प्रेम की सामर्थ्य से परिचित कवि हैं। इसलिए संग्रह में प्रेम कविताओं को भी पर्याप्त जगह मिली है। उनकी ये कविताएं प्रेम कविता के प्रचलित शिल्प का अतिक्रमण करती हैं इसलिए उन्हें सीधे प्रेम कविता भी नहीं कह सकते हैं। वस्तुतः कवि के लिए प्रेम का अर्थ उसकी व्यापकता में निहित है। संकुचित, व्यक्तिनिष्ठ और लिपित प्रेम के लिए उनके यहां कोई जगह नहीं दिखती है। कवि के प्रेम की परिधि का विस्तार असीमित है। यह दो लोगों के बीच का शरीरी प्रेम भर नहीं है। इसके विस्तार में धान है, हवा है, चिड़िया, घर, पत्नी, बच्चे और यह सारी दुनिया है। संक्रमण काल में रहते हुए प्रेम की शाश्वतता और पवित्रता को बचाये रखने की जिद उनकी प्रेम कविता की ताकत है। वे प्रेम में किसी तरह की अतिवादिता, रूढ़ि और वायवीयता के सख्त खिलाफ हैं। अगर प्रेम में सच को सच की तरह कहने का साहस नहीं पैदा हो पाये तो उस

प्रेम की विश्वसनीयता संदिग्ध होती है। प्रेम में यह विश्वसनीयता ही उनसे कहलाती है *तुम्हें प्यार करने के बाद / प्रेम की कविता लिखना मेरे लिए बहुत मुश्किल हो गया है / सचमुच भरे पेट में / भूख पर कविता लिखना आसान नहीं।* यह बताने की आवश्यकता नहीं कि अपनी कविता में यह छद्म कितने कवि तोड़ पाते हैं। तोड़ने की बात तो दूर इसे छद्म मानने साहस भी कम ही कवियों में दिखता है। वास्तविक प्रेम विज्ञापन में विश्वास नहीं करता। विज्ञापन तो बाजार का मायाजाल है। प्रेम एक तरह से बाजार का प्रतिपक्ष है। बाजार का जोर प्रचार पर रहता है किन्तु प्रेम अपनी ऐकांतिकता में ही नैसर्गिक होता है। 'पब्लिक स्पेस' में दाखिल होते ही उसकी कोमलता और रचनात्मकता मर जाती है। इसलिए कवि प्रेम के हर तरह के विज्ञापन के खिलाफ दिखता है, यहां तक कि प्रेम कविता लिखने के भी। कवि का विश्वास है कि *प्रेम करना / तुमसे, घास से, हवा से, चिड़ियों से / और दुनिया भर से / प्रेम की सबसे अच्छी कविता है।*

यहां उद्धरण देना अपरिहार्य तो नहीं पर अपनी बात को पुख्ता तरीके से कहने के लिए यह जरूरी लग रहा है। आचार्य शुक्ल ने कभी लिखा था कि ज्यों ज्यों मनुष्यता पर सभ्यता के आवरण चढ़ते जायेंगे, त्यों त्यों कवि कर्म कठिन होता जायेगा। संजय मिश्र कविता की इस ऐतिहासिक परिणति और कवि की भूमिका से गहरे परिचित हैं। सम्भवतः इसीलिए वे कविता से हर समय किसी क्रांति की अपेक्षा नहीं रखते हैं। उनके लिए कविता *उस गर्भवती स्त्री की तरह है / जो अपने दर्प में और / अपनी सुस्ती में भी / पेट में पालती रहती है / भावी क्रांतियों को।* कवि 1 और कवि 2 शीर्षक कविताओं से वे अपने समय की कविता के विस्तार और उसकी सम्भावनाओं पर चिन्ता जाहिर करते हैं। साथ ही वे कवि से यह अपेक्षा भी रखते हैं कि *अगर तुम हमारी बात को / हमारी भाषा में / सीधे और बेलाग कह सको तो कवि / हम तुम्हें दिल में बसायेंगे।* कहना न होगा कि समय के विस्तार में उसी कवि की महत्ता बची रह पायेगी जो जनता की भाषा में जनता की बात करेगा। छद्म आडम्बरो को तोड़ेगा और कठिन होते समय में कवि कर्म की महत्ता को जिम्मेदारी पूर्वक समझेगा। संजय मिश्र की कविताएं इस महत्व को समझती हैं।

दूर तक चुप्पी : मदन कश्यप, **प्रकाशक :** वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, **मूल्य :** 200 रु.

बेघर सपने : निर्मला पुतुल, **प्रकाशक :** आधार प्रकाशन, पंचकूला, हरियाणा, **मूल्य :** 150 रु.

उम्मीद की तरह एक विचार : संजय मिश्र, **प्रकाशक :** आधार प्रकाशन, पंचकूला, हरियाणा, **मूल्य :** 200 रु.

इस अंक के लेखकों के दूरभाष

कृष्णा सोबती	:	011-22750896, 011-22754474
सुवीरा जायसवाल	:	9160331765
राजकुमार	:	9415201281
संतोष दीक्षित	:	9334011214
कबीर संजय	:	8800265511
राजेश जोशी	:	9424579277
बद्री नारायण	:	9450613293
हरीश चंद्र पांडेय	:	9455623176
आशुतोष दुबे	:	9826370577
मनोज शर्मा	:	9780524251
अनिल त्रिपाठी	:	9412569594
रवीन्द्र स्वप्निल प्रजापति	:	8109992142
अनूप कुमार	:	9423962877
ज्योति चावला	:	9871819666
अशोक कुमार पांडे	:	8375072473
अमिताभ राय	:	9582502101
रवीन्द्र कालिया	:	9212502222, 9540502222
गरिमा श्रीवास्तव	:	8985708041
पंकज मित्र	:	9470956032
प्रियम अंकित	:	9359976161
श्रुति	:	9415014725
दिनेश कुमार	:	9868184681
अटल तिवारी	:	9868325191
अमिय बिन्दु	:	9311841337
शम्भुनाथ मिश्र	:	9953769057